(आनन्दवनग्रन्थमालायाः सप्तदशं कुसुमम्)

गीताप्रवचन

सांख्यसन्दर्भ स्थितप्रज्ञदर्शन

(द्वितीयाध्याय उत्तरार्ध)

श्रीस्वामी काशिकानन्दजी महामण्डलेश्वर

ॐ

परम प्रिय श्री १०८ स्वामी शंकरानन्द सरस्वती। जी वेदान्ताचार्य।

अध्यक्ष- वेदान्त कुटी, मंडी।

को सादर समर्पण।

दीपावली।

दि. 18-10-1990.

म. मं. स्वामी काशिकानन्द गिरि।

ॐ

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः सप्तदशं कुसुमम्)

गीताप्रवचन

सांख्यसन्दर्भ स्थितप्रज्ञदर्शन

(द्वितीयाध्याय उत्तरार्ध)

श्रीस्वामी काशिकानन्दजी महामण्डलेश्वर

प्रकाशक :

श्रीस्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट

आनन्दवन आश्रम, स्वामी विवेकानन्द रोड;
कांदीवली (पश्चिम) बंबई ४०० ०६७

मूल्य : २५.००

प्रथमावृत्ति : ११००

मार्च, १९८३

मुद्रक :

ज्योति प्रेस

मध्यमेश्वर, वाराणसी (उ० प्र०)

प्रस्तावना

गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भका पूर्वार्धं मुद्रित हो चुका। उसका यह उत्तरार्धं है। यह स्थितप्रज्ञप्रकरणसे लोकमें प्रसिद्ध है। यद्यपि गीतामें पूर्वार्धं उत्तरार्धं ऐमा विभाग नहीं है। तथापि प्रवचनकी दृष्टिसे बृहत् आकार हो जानेसे यहां दो विभाग किये गये। इस प्रकरणमें श्लोकोंकी संख्या पूर्वापेक्षया एक तिहाई ही है फिर भी विषयकी गंभीरतासे प्रवचन काफी विस्तृत हो गया। संत पुरुषोंने इस प्रकरणकी महत्ताको देख कर इसे एक दर्शन ही माना और इसे स्थितप्रज्ञदर्शन नामसे विभूषित किया। अतएव हमने भी हर प्रकारसे इसे अलगकर मुद्रित करना ही उचित समझा।

स्थितप्रज्ञता

गीताके द्वितीयाध्यायका नाम सांख्ययोग है। सांख्यका सम्यग् ज्ञान अर्थं है। वह ज्ञान जब परिपक्व अवस्थामें पहुंच जाता है तो उसका फल योगप्राप्ति है। वही योग या उसका हेतु परिपक्वज्ञान ही स्थितप्रज्ञता है। उसी परिपक्व ज्ञानी या योगीके बारेमें अर्जुनका प्रश्न है—"**स्थितप्रज्ञस्य का भाषा**" इत्यादि जिसका उत्तर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने अठारह श्लोकोंमें दिया वही यह स्थितप्रज्ञदर्शन है।

संतोंकी दृष्टिमें स्थितप्रज्ञदर्शन

संतमहापुरुष उत्तरात्मक श्लोकोंकी अष्टादश संख्याको भगवान् वेदव्यास की परमप्रिय अष्टादशसंख्यासे सम्बन्धित करते हैं। अठारह

पुराण, अठारह उपपुराण, महाभारतके अठारह पर्व, अठारह अक्षौहिणी सेनाकी कल्पना, अठारह दिन तक महाभारत युद्ध, गीतामें अठारह अध्याय एवं ईशावास्यमें अठारह मन्त्र इसप्रकार अनेकस्थानोंमें अठारहकी संख्या जुड़ी हुई है वैसे स्थितप्रज्ञस्वरूपवर्णन भी अठारह श्लोकोंमें हुआ है। नौ संख्या पूर्ण मानी जाती है। उसकी द्विगुणित अवस्था ही अठारह है। अर्थात् परिपूर्णताद्योतक अष्टादशसंख्या है। अतएव यह स्थितप्रज्ञदर्शन भी एक परिपूर्ण दर्शन है। यह स्थितप्रज्ञता जीवनकी परिपूर्णता है। ज्ञानका चरमोत्कर्ष है। अलौकिक एवं दिव्य है। भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गान्धीने अपने नित्यपाठमें स्थितप्रज्ञ प्रकरणको ईशावास्योत्तर मुख्यस्थान दिया। महान् संत विनोबा भावेने इसे सर्वोत्कृष्ट दर्शनरूपमें देखा। इसकी अलौकिक महत्ताका पता तभी चल पाता है जब गहराईमें उतरकर सोचने लगते हैं।

अन्य समान प्रकरण

यद्यपि गीतामें ही इस स्थितप्रज्ञप्रकरणके अत्यन्त सदृश दो अन्य प्रकरण भी आते हैं। एक भक्तलक्षण प्रकरण है। द्वादशाध्यायमें "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादिमें भक्तके लक्षण भी प्रायः इसी प्रकारके बताये गये हैं। तथा चतुर्दशाध्यायमें गुणातीतके लक्षण भी लगभग ऐसे ही हैं। "प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि" इत्यादि। किसी-किसीको यह देखकर पुनरुक्ति जैसी लगने लगती है। वस्तुतः साधनभेदसे इन तीन प्रकरणमें अपुनरुक्ति है। द्वितीयाध्यायमें कर्मयोगद्वारा प्रज्ञा प्राप्त करके जो परिपक्व हुए

हैं उनका लक्षण है। भक्तियोगमें भक्तिके द्वारा जो परिपक्व हुए हैं उनका लक्षण है और गुणातीत प्रकरणमें कर्मनिरपेक्ष होकर केवल ज्ञानमार्गसे चलनेवालोंकी परिपक्वावस्थाका वर्णन है। भक्तिप्रकरण तथा गुणातीत प्रकरणमें अल्प वर्णन है। स्थितप्रज्ञ प्रकरणमें विशद वर्णन है यही विशेषता अन्य दो प्रकरणो की अपेक्षा यहां पर है।

विषय विभाग

स्थितप्रज्ञ प्रकरणमें प्रमथ चार श्लोकोंमें ब्रह्मविद्वरिष्ठ, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वर और ब्रह्मवित् इस अवरोह क्रमसे स्थितप्रज्ञस्वरूपवर्णन किया। सातवीं, छठी, पांचवीं और चौथी भूमिकाओंका क्रमशः यह निरूपण है। जिनको तुरीयगा, पदार्थभावनी, असंसक्ति एवं सत्त्वापत्ति भी कहते हैं। इसके बाद उस सत्त्वापत्तिमें ही लानेके लिये दस श्लोकोंमें साधनोंको इगित करते हुए स्थितप्रज्ञका वर्णन किया गया है। अन्तमें चार श्लोकोंमें पुनः पूर्णपरिनिष्ठित सिद्ध पुरुषोंका वर्णन है और तदनुरूप साधननिरूपण है।

प्रकरणकी उपयोगिता

प्रश्न उठता है कि सामान्य साधकोंके लिये भी इसका कोई उपयोग है क्या ? इसका उत्तर भाष्यकार भगवान् आद्यशंकराचार्यने इस प्रकार दिया है कि सिद्धोंका जो लक्षण होता है वही साधकोंके लिये संपादनीय साधन होता है। जैसे "प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्"—समस्त कामनाओंको जो त्याग देता है—यह सिद्धोंका

लक्षण हुआ। इन कामनाओंको त्यागनेके लिये सतत प्रयास करना यह साधकोंके लिये साधना भी हो गयी। ऐसे ही "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" इत्यादि लक्षण भी हैं। इस प्रकार द्व्यर्थक होनेसे यह प्रकरण इतना गंभीर हो गया है कि इसके तलस्पर्शके लिये पर्याप्त विवेचना आवश्यक है।

प्रवचन

गीताके इस स्थितप्रज्ञप्रकरण पर कई बार प्रवचन करनेका अवसर आया और जब-जब मैंने प्रवचन किया, नवीन-नवीन रहस्य सामने आते गये। यद्यपि सबका संग्रह प्रस्तुत ग्रन्थमें नहीं किया गया। यह केवल प्रथमबारके प्रवचनका ही संग्रह है। वही इतना अधिक हो गया कि अब इससे दुगुना करना मुद्रणादिमें बाधक होगा समझकर पूर्वसंग्रह मात्र मुद्रित किया गया। गीताका जितना भी मनन किया जाय वह थोड़ा ही होगा। फिर भी जितना रहस्य हाथमें आया वही यदि जीवनमें भी उतर जाय तो पर्याप्त है। "कतिपय-रत्नग्रहादिवाम्बुनिधेः"। समुद्रमें गोते लगाकर हीरा मोती आदि निकालने हैं। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि सभी रत्न निकाले जायें तो ही सार्थकता है। पचीस-पचास या दसपांच या दोएक रत्न भी हाथमें आ जाय तो भी कृतार्थता है। वैसे गीतासागरनिमज्जनसे थोड़ा बहुत रहस्य अवगत हो जाय तो वह भी सार्थक ही माना जायेगा।

यह द्वितीयाध्याय का उत्तरार्ध है। पूर्वार्ध की भूमिका में ही मैंने विशेष बातें बता दी थी। हमें सहयोग देने वाले कतिपय

सहृदयजनों का नामनिर्देश भी किया था। इस उत्तरार्ध में विशेष बात यही है कि इसको छपाने का प्रायः पूरा काम श्री शारदानन्द जी को ही करना पड़ा। मैं सिर्फ प्रारंभ कराकर ही बंबई चला आया था। आत्मीयता के साथ उन्होंने जो काम सम्हाला तदर्थ वे बहुत-बहुत धन्यवादपात्र है। अध्यात्म जगत में आपकी अनेक सेवायें चिरस्मरणीय रहेगी। इति शम्।

●

गीता प्रवचन

सांख्यसंदर्भ–स्थितप्रज्ञदर्शन

(१)

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। (२-५४)

[अर्जुनने कहा—हे केशव ! स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है ? जो समाधिस्थ है। स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है।]

यहांसे स्थितप्रज्ञदर्शन प्रारम्भ हो रहा है। उसी विषयमें प्रथम यह अर्जुनका प्रश्न है, किन्तु स्थितप्रज्ञकी बात सहसा कहांसे आयी ?

"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगंत्विमां शृणु"

ऐसा पहले बताया था । अर्थात् "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" आदिसे सांख्य बुद्धि बनायी और कर्मण्येवाधिकारस्ते इत्यादिसे योग बुद्धि अर्थात् कर्म बुद्धि बतायी । कर्म कथनके बाद कर्मके बारेमें कुछ प्रश्न करते तो संगति बैठती, किन्तु यकायक यह स्थितप्रज्ञ कहांसे आ गया ? फिर तृतीयाध्यायमें कर्मयोगकी ही बात बताने जा रहे हैं।

बीचमें यह स्थितप्रज्ञ लक्षण विलक्षण ढंगसे आ गया, ऐसा दीखता है। इसका समाधान यह है कि प्रथम जो सांख्यबुद्धि प्रारम्भ हुई थी उसीकी परिपक्वावस्था स्थितप्रज्ञता है। सांख्यबुद्धिमें ही साधन योग-बुद्धि (कर्मयोग बुद्धि) है। कर्मयोग करनेसे अन्तःकरण पवित्र होता है। उससे ज्ञान प्राप्त होता है, उसीकी परिपक्वावस्था पूर्व-श्लोकमें बतायी :—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

इस पूर्व श्लोकमें तीन अंश हैं—"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिर्यदा निश्चला स्थास्यति" यह एक अंश है। "समाधावचला" यह दूसरा अंश है। "तदा योगमवाप्स्यसि" यह तीसरा अंश हैं। इसी पर पुनः थोड़ा विचार करें।

श्रुतिसे विप्रतिपन्न अर्थात् संशयापन्न (संशयमें पड़ी) बुद्धि जब निश्चल होकर स्थिर हो जाती है, यह प्रथम अंशका अर्थ है। श्रुति श्रवणसे बुद्धि संशयमें पड जाती है यह भला कैसी बात है ? श्रुतिसे बुद्धि निश्चित होती है या संशयमें पड़ती है ? उत्तर है कि श्रुतिसे प्रथम संशय ही होता है। श्रुति सुने बिना ब्रह्मके बारेमें या आत्माके बारेमें संशय होता ही नहीं। खेती करनेवाले किसानको ब्रह्म या आत्माके बारेमें संशय नहीं होता। रेलवे कुली सामान उठाते समय ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या है या उलटा है कोई संशय करेगा ? संशय तो उसीको होता है जिसने श्रवण किया हो। यह तो और बड़ा बुरा हुआ। श्रुति श्रवण करनेसे संशय हो जाय यह कैसी बात ? एक जगह मैं प्रवचन कर रहा था। प्रवचन समाप्त होनेपर एक भक्त आया और कहने लगा, महाराज ! आपका प्रवचन सुननेपर पर-मात्माके बारेमें एक संशय हुआ। क्या संशय ? यह कहनेसे पहले ही दूसरे भक्तने कहा—संशय नहीं करना चाहिये। "संशयात्मा विन-श्यति' ऐसा गीतामें लिखा है। संशय करनेवाला नष्ट होता है।

मैंने कहा, भाई संशय करनेवाला नष्ट नहीं होता। अर्जुनने स्वयं कहा—

"एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः"

हे कृष्ण, यह संशय मुझे हो गया है, इसका छेदन करो। तो क्या संशय करने मात्रसे अर्जुन नष्ट हो गया ? संशय करना बुरा नहीं है। संशय करो, पर, संशयात्मा मत बनो। आत्मामें संशय घुस न जाना चाहिये। इसलिये आत्मा शब्द जोड़कर कहा। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उत्तर मिलनेपर भी संशय करते रहते हैं। उनका संशय कभी मिटता ही नहीं। एक जगह जब मैं प्रवचन करता था तब वहां एक आर्यसमाजी भक्त भी आता था। रोज कुछ न कुछ उलटा-पलटा संशय करता था। उसका लक्ष्य ही कुतर्क बन गया था। ऐसा संशयात्मा मत बनो। संशय करो, किन्तु "छेत्तुमर्हसि" छेदन करनेके लिये। छेदन लक्ष्य होना चाहिये।

संशय बुरा नहीं है। बल्कि श्रुति सुननेपर प्रथम संशय होना चाहिये। यह सुलक्षण है। कुलक्षण नहीं है। यदि संशय न होना हो तो समझना चाहिये कि यह कुछ नहीं समझ रहा है। संशयको फिर मीमांसासे मिटाना चाहिये। बल्कि मीमांसामें संशयको भी अधिकरणका एक अंग माना है।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
संगतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्॥

पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनोंमें अधिकरण प्रसिद्ध है। पूर्वमीमांसा जैमिनि विरचित है, उसे कर्ममीमांसा भी कहते हैं। उत्तरमीमांसा व्यास विरचित है। उसे ब्रह्ममीमांसा, ब्रह्मसूत्र आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। अधिकरणोंके द्वारा दोनोंमे विचार है। अधिकरणमें पांच बातें होती हैं। प्रथम है—विषय। विषय हमेशा प्रायः वाक्यात्मक होता है। जैसे, एक वाक्य है—"आकाशाद्ध्येव

खल्विमानि भूतानि जायन्ते आकाशेन जातानि जीवन्ति आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" आकाशसे जगत् पैदा होता है, आकाशमें स्थिर रहता है और अन्तमें आकाशमें लीन होता है। यहां आकाशका अर्थ क्या है ? क्या यही भूताकाश अर्थ है ? या और कोई आकाश यह संशय हुआ, किन्तु कब हुआ ? जब श्रुति सुनी तब। पूर्वपक्ष हुआ— भूताकाशमें आकाश शब्दकी मुख्य वृत्ति है। इसी आकाशसे जगत् पैदा हुआ। **"आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी"** ऐसा श्रुतिमें लिखा है। अर्थात् आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी पैदा हो गयी। तब आकाशसे ही सारा जगत् पैदा हुआ। आकाशमें सभी भूत रहते ही हैं। अन्तमें जगत् खतम होगा तो आकाश ही में। आकाश कहां जायेगा ? कहीं नहीं। यह पूर्वपक्ष है। इसपर सिद्धान्त सूत्र है—

"आकाशस्तल्लिङ्गात्"

यहाँ आकाश पदका अर्थ ब्रह्म है, क्योंकि **"इमानि भूतानि"** ये सारे भूत आकाशसे पैदा होते हैं। आकाश भी पंचभूतमें आ गया। आकाशसे आकाश कैसे पैदा होगा ? अतः यहाँ आकाश पदका अर्थ ब्रह्म ही है। इस प्रकार संपूर्ण संशयोंको निवृत्त करनेवाली मीमांसा है। यहांपर यह बात स्पष्ट है कि आकाश शब्दका अर्थ भूताकाश है या दहराकाश ब्रह्म है ? यह संशय श्रुति सुननेके बाद में ही हुआ। अतः भगवानने कहा—**"श्रुतिविप्रतिपन्ना"** श्रुतिसे विप्रतिपन्न या श्रुतौ विप्रतिपन्ना श्रुतिमें विप्रतिपन्न संशयापन्न बुद्धिः—

यदा स्थास्यति निश्चला। जब निश्चल स्थिर हो जाती है। कब निश्चल और स्थिर होती है ? उसके लिये दो साधन बताये गये हैं। एक है मीमांसा सहित श्रवण, और दूसरा है मनन। इन दोनोंसे संशय दूर होता है। श्रवणसे प्रमाणगत संशयकी निवृत्ति होती है और मननसे प्रमेयगत संशयकी निवृत्ति होती है। जैसे अभी हमने पूर्वमें दिखाया, आकाश पदका अर्थ ब्रह्म है या और कोई ? इस

संशयकी निवृत्ति मीमांसाके साथ पुनः श्रवण करनेसे होती है। यही प्रमाणगत संशयकी निवृत्ति है। दूसरा संशय है प्रमेयगत संशय। प्रमाण श्रुति है और प्रमेय है ब्रह्म। संशय इस प्रकार है कि- मा ा कि "आकाशाद्ध्येव खल्विमानिभूतानि जायन्ते" इस श्रुतिमें आकाश पदका अर्थ ब्रह्म है। किंतु क्या सारे जगत् का कारण ब्रह्म हो सकता है ? ब्रह्म निर्विकार निराकार है, उससे सविकार, साकार जगत् कैसे पैदा हो सकता है ? यह प्रमेय संशय है। इसकी निवृत्ति मनन करनेसे होगी। "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" उपपत्तियोंसे अर्थात् युक्तियोंसे मनन करो तो ब्रह्म के बारे में जो भी संशय हैं सभी निवृत्त होंगे। मैंने पहले बताया था कि पूर्वश्लोकमें तीन अंश हैं। एक है श्रुतिवि-प्रतिपन्ना यदा निश्चला स्थास्यति"। किन्तु उसमें निश्चला और स्थास्यति दोनों एक ही अर्थ के हैं। निश्चलाका अर्थ भी स्थिर है। स्थास्यतिका अर्थ भी स्थिर है। ठीक है। तो दो पद क्यों हैं ? उत्तर पूवमें आ गया। संशय भी तो दो हैं, प्रमाण संशय और प्रमेय संशय। निश्चला माने प्रमाण संशयरहित और स्थास्यति माने प्रमेय संशय-रहित। अतः दोनों पद सार्थक हैं।

समाधावचला बुद्धिः। यह द्वितीय अंश है। समाधि निदिध्या-सनको कहते हैं—

"धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः"

ऐसा पंचदशीमें कहा है। अर्थात् इसी निदिध्यासनको योगी लोग धर्ममेघ समाधि कहते हैं। श्रवण और मननके बाद तीसरा कौन ? यही समाधि। मूलश्लोकमें समाधि पदसे निदिध्यासन भी ले सकते हैं और निदिध्यासन विषय आत्मा भी ले सकते हैं। उसमें **'अचला बुद्धिः'** का अर्थ है विपरीत भावना रहित बुद्धि। इसीलिये अचलाका पुनः पढ़ा। अन्यथा निश्चला, स्थास्यति, अचला ये तीनोंमें पुनरुक्ति होती। उपरोक्त तीनमें एक प्रमाणासंभावनाका वारक है। दूसरा प्रमेयासंभावना का वारक है। तीसरा विपरीत भावना का वारक

है। अतः पुनरुक्ति नहीं है। इस प्रकार असंभावना एवं विपरीत भावनाकी निवृत्ति होने पर तृतीय अंश आता है :—

"तदा योगमवाप्स्यसि" यही तृतीय अंश है। यहां पर भगवान आद्य शंकराचार्यका भाष्य द्रष्टव्य है। 'योगं विवेकप्रज्ञां' ऐसा भाष्य है। विवेक प्रज्ञाका अर्थ है आत्मतत्त्वसाक्षात्कार। श्रवण, मनन और निदिध्यासनका फल आत्मदर्शन प्रसिद्ध ही है। वही "योगमवाप्स्यसि" में योगपद का अर्थ है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

ऐसा श्रुतिमें स्पष्ट कहा है। इसी विवेक प्रज्ञाको जिसने प्राप्त किया उसीको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। यही स्थितप्रज्ञके बारेमें प्रश्न करनेका मूल है।

फिरसे एक बार सिंहावलोकन करो। "न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादिसे सांख्य ज्ञान-आत्मतत्त्वज्ञान बताया। उसके बाद कर्मयोग बताया—"कर्मण्येवाधिकारस्ते"। यह कर्मयोग किसलिये है ? पूर्वोक्त सांख्यज्ञानके लिये। इसीलिये आगे कहा—

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"

हे अर्जुन जो कर्म करते हो वह बुद्धिके लिये—ज्ञानके लिये है। ज्ञानकी ही शरणमें जाओ। वह निष्कामकर्मसे ही संभव है। क्यों ?

"कृपणाः फलहेतवः"

फल चाहनेवाले सभी कृपण होते हैं—आत्मज्ञान शून्य होते हैं। श्रुतिमे कृपणका यही अर्थ बताया है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वैतस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः"

आत्माको जाने बिना ही जो इस लोकसे चला जाता है वही कृपण है। कौन चला जाता है ?—फल हेतवः। कर्मफल चाहनेवाला। अतः कर्मफलेच्छा छोड़कर बुद्धिकी शरणमें जाओ—ज्ञानके लिये कर्म करो।

"यज्ञेन विविदिषन्ति"

यज्ञदानादि सत्कर्मसे अंतःकरण शुद्ध होगा। तब विवदिषा होगी, तब श्रवणादि होगा। श्रवण मननसे संशय निवृत्तिकर और निदिध्यासनसे विपरीत भावना निवृत्तिकर साधक तत्व साक्षात्कार प्राप्त करेगा। वही स्थितप्रज्ञता पूर्वप्रसंगमें बतायी। उमीको लेकर अब अर्जुनका यह प्रश्न है—"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" इत्यादि। स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है? कैसी उसकी बोलचाल होती है? वह कैमे उठता-बैठता है? कैसे चलता-फिरता है? ऐसे चार प्रश्न यहां पर किये गये हैं।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा। स्थितप्रज्ञकी क्या भाषा है? यह प्रथम प्रश्न है? स्थितिप्रज्ञकी कौन-सी भाषा होती है? अंग्रेजी, हिन्दी या गुजराती भाषा, ऐसा प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ भाषाका अर्थ है—परिभाषा। **भाष्यतेऽनयेति भाषा-लक्षणम्**। यह लक्षण विषयक प्रश्न है। स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है? जैसे अग्निका लक्षण है—उष्ण-स्पर्शवत्त्वम्। उष्ण स्पर्शवाला। जलका लक्षण है- शीतस्पर्शवत्वं-शीत स्पर्शवाला जल है। गौका लक्षण है—सास्नादिमत्त्वं, गल कम्बल जिसका हो वह गौ है। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है? यह प्रश्न है। लेकिन लक्षण पूछनेकी जरूरत क्यों पड़ी? हर चीजका लक्षण-प्रमाण ढूंढ़ना नैयायिकोंका काम है। अर्जुनको भला न्यायशास्त्रकी क्या जरूरत पड़ी? उत्तर यह है कि लक्षणके अनेक प्रयोजन होते हैं। व्यावृत्ति, व्यवहार तथा आचरण ये तीन प्रयोजन मुख्य हैं:—

(१) व्यावृत्तिका अर्थ है—अलग करके समझना। "सास्नादि-मान् गौः" कहनेसे भैंस, घोडा आदिसे अलग कर जाना जा सकता है। वैसे स्थितप्रज्ञको भी अलग कर समझना लक्षणका प्रयोजन है। क्यों व्यावत्तिकर जानना चाहिये? इसलिये कि स्थितप्रज्ञको समझकर उनकी शरण में जाये।

पानी पीये छानकर । गुरु करे जानकर ॥

संत देखनेमें बराबर होते हैं। सभी संत वंदनीय भी हैं। किंतु विद्याका ग्रहण स्थितप्रज्ञसे करो। सबका सुनो भी, परन्तु स्थितप्रज्ञ गुरुके वचनों पर विशेष अमल करो। श्रुतिका कहना है—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

अविद्या माने भेद बुद्धि। आत्म भेद, जीव-ईश्वरका भेद, जड़ भेद आदि सभी भेद हैं। शिव भिन्न है, विष्णु भिन्न है, जीव भिन्न है, ईश्वर भिन्न है इत्यादि भेद बुद्धिमें लोग पड़े हैं और अपने आपको पंडित भी मानते हैं। ऐसे गुरु और ऐसे ही चेले, फिर क्या कहना? गुरु-चेले दोनों ही भटकते रहते हैं। जैसे रास्ता दिखाने वाला भी अन्धा, पीछे चलनेवाला भी अन्धा, तो परिणाम "विनिपातः पदे पदे" ही होगा। अतः मार्गदर्शक तो कमसे कम आंखवाला होना ही चाहिए। अर्थात् स्थितप्रज्ञका अनुगमन करो। तदर्थ ही स्थित-प्रज्ञका लक्षण है। पानी छाने बिना पिया तो उसमें छोटे-छोटे कीटाणु जो होते हैं वे अन्दर जाकर जहरीले सांप जैसे कीड़े बन जाते हैं। ऐसा मारवाड़में हमने देखा है। इसी प्रकार जो स्थितप्रज्ञ नहीं हैं उनका उपदेश कीड़े वाले पानीके बराबर होता है। उससे मनमें भेदबुद्धि सांपिनके समान बडी हो जाती है। पानीके कीड़े तो एक दो बड़े होकर शरीर से फूट पड़ेंगे, किन्तु यहां तो रग-रगसे भेदबुद्धि फूट निकलेगी। अतः स्थितप्रज्ञ को पहचानने की कोशिश करो।

(२) लक्षणका दूसरा प्रयोजन है व्यवहार। एक व्यपदेशात्मक व्यवहार होता है और दूसरा क्रियात्मक व्यवहार होता है। स्थित-प्रज्ञको समझने पर उनसे उत्तम शब्दोंसे व्यवहार किया जा सकेगा। मित्रको कहोगे, यार! तुम कहां गये थे। किंतु संतसे ऐसा नहीं

कहा जाता । महाराज ! आपश्री कहां पधारे थे ? इत्यादि आदर बोधक शब्दोंका उच्चारण किया जाता है । ऐसे व्यवहारका विधान भी है ।

"स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो"

इत्यादि शब्दोंसे गुरुके पास जाना चाहिये । दूसरा क्रियात्मक व्यवहार है । श्रुतियोंमें स्थितप्रज्ञकी पूजा करनेको बताया है—

तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चवेद् भूतिकामः

ऐसी मुण्डक श्रुति है । जो आत्मकल्याण करना चाहता है, वह आत्मवेत्ता स्थितप्रज्ञकी अर्चना करे । पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तसमादात्मज्ञं ह्यचयेद् भूतिकामः ।।

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं" श्लोकमें इस मन्त्रका भावार्थ स्पष्ट होगा । इन दोनोंके लिए लक्षण जानना आवश्यक है । अर्थात् व्यपदेशात्मक तथा क्रियात्मक व्यवहारके लिये लक्षण ज्ञान आवश्यक है ।

(३) लक्षणका तीमरा प्रयोजन आचरण रूपी अनुकृति है । यहां पर भाष्यकार आद्यशंकराचार्यने बताया है 'जो सिद्धोंका लक्षण है वही साधकोंके लिये साधनीय साधना है ।" काशीमें एक बड़े ब्रह्मवेत्ता संत थे । ठढी या गरमी कोई भी समय हो, सुबह चार बजे उठकर, गंगाजीमें स्नानकर विश्वनाथजीको जल चढ़ाते थे । अति वृद्धावस्था हुई तो भी नियम नहीं छोड़ते थे । उनसे पूछा, महाराज ! अब तो आपके हृदयमें ही विश्वनाथ बाबा विराजमान हो गये हैं । गंगा तो ज्ञानगंगाके रूपमें वहने लगी है । सुबह ठंढीमें जानेकी क्या जरूरत है ? तब वे कहते थे, बात सच्ची है, लेकिन आदत पड़ गयी है । सिद्धोंका वह स्वभाव हो गया । उनका कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु साधकोंके लिये वही साधन हुआ । "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु

विगतस्पृहः" इत्यादि आगे लक्षण बतायेंगे। स्थितप्रज्ञोंका वह स्वभाव है, परन्तु साधकोंको वैसा बननेके लिये प्रयास करते रहना चाहिये। इस प्रकार लक्षणके तीन प्रयोजन हो जाते हैं—(१) व्यावृत्ति, (२) व्यवहार तथा (३) आचरानुकृति।

"समाधिस्थस्य"। यह विशेषण कोई नया व्यावर्तक नहीं है, क्योंकि पूर्व श्लोकमें **"समाधावचला बुद्धिः"** इतना स्थितप्रज्ञके अन्तर्गत करके बताया है। हाँ, स्थितप्रज्ञका अर्थ केवल संशय रहित प्रज्ञावाला इतना ही करेंगे तो व्यावृत्ति आवश्यक है। किन्तु आगे कहीं भी यह विशेषण नहीं आता। अतः पूर्वानुवाद मात्र है।

स्थितधीः किं प्रभाषेत। स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता चालता है? बालककी प्रज्ञा जब स्थिर होती है तब अपनी प्रज्ञाके अनुसार वह माता, पिता आदि बोलता है। वैसे स्थितप्रज्ञकी प्रज्ञा ब्रह्ममें स्थिर हो जाती है तब क्या वह सबको ब्रह्म ब्रह्म कहने लगता है? या पूर्ववत् बोलचाल चाल रहती है? या कोई तीसरा ही प्रकार रहता है। उत्तर आगे यही होगा कि बोलचाल पूर्ववत् ही होगा किन्तु थोड़ा अन्तर अवश्य आयेगा। कोई भगवानका भक्त होगा तो उससे बात करो तुम कैसे हो? कहेगा—भगवानकी कृपासे अच्छा हूँ। बाल-बच्चे कैसे हैं? भगवान की कृपासे अच्छे हैं। कामधंधा कैसा चल रहा है? भगवानकी कृपासे अच्छा चल रहा है। देखो हर जगह भगवान जुडता जा रहा है। एक दुकानदारको एक उल्लू कहीसे मिला। उसने बेचनेके लिये दुकानके आगे उसे टांग रखा। कोई पूछे कि दाल है? वह उत्तर देता—दाल है, उल्लू भी है। कोई पूछता घी है? वह कहता— घी भी है, उल्लू भी है। कोई पूछता कागज-पेन्सिल है? वह बोलता कागज-पेन्सिल तो नहीं है, उल्लू है। उसके भाषणमें उल्लू घुस गया। जैसी जिसकी प्रज्ञा वैसा उसका भाषण होता है। वैसे स्थित-प्रज्ञके भाषणमें कोई अन्तर आता है या नहीं। उत्तर आगे मिलेगा

"नाभिनन्दति न द्वेष्टि"। स्थितप्रज्ञके भाषणमें यही अन्तर आयेगा वह किसीकी निंदा स्तुतिमें नहीं पड़ेगा।

किमासित। स्थितप्रज्ञ कैसे उठता-बैठता है? क्या एक आसन लगाकर बैठ जाता है? सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन आदि पर बैठा रहता है? गद्दीपर बैठता है या कुशासनपर बैठता है या कुर्सीपर बैठता है या खड़ा ही रहता है? इत्यादि यहाँ जिज्ञासा नहीं है। क्योंकि सिद्धासन, पद्मासनादिमें बैठनेसे स्थितप्रज्ञमें कोई फरक नहीं पड़ता है। वह चाहे गद्दी पर बैठे चाहे चटाईपर, स्थितप्रज्ञतामें क्या अन्तर आता है? इसका उत्तर आगे मिलेगा—"युक्त आसीत मत्पर:"। उसकी स्थिति हमेशा समाहित होगी। व्यवहारकालमें व्यवहारोंको करता हुआ भी उसकी बुद्धि परमात्मामें समाहित रहेगी। बैठता होगा जब कभी तो शान्त गंभीर भावसे बैठेगा। अतः यह स्थिति विषयक प्रश्न है।

व्रजेत किम्। वह किस प्रकार चलता-फिरता है? स्थितप्रज्ञ होनेसे ऐसा तो नहीं ही होगा कि अब पांवसे चल रहा हो तो वादमें हाथ या मस्तकसे चले। इसका उत्तर कूर्म दृष्टांत आदिसे देंगे। कूर्म (कछवा) चलता है तो बड़ी सावधानी से चलता है। इन्द्रियोंको हमेशा अपने नियंत्रणमें रखकर चलता है। जब चाहे तभी समेट लिया। अनियंत्रित घोड़ेकी चाल जैसी नहीं। वह अपने आपको सम्हाल नहीं सकता। "दुष्टाश्वा इव सारथे"। घोड़ा यदि दुष्ट हो तो स्वयं गड्ढेमें गिर पड़ता है। साथमें रथको, सारथीको और मालिक रथीको भी खड्ढेमें डाल देता है। इसके विपरीत कूर्म है। स्थित-प्रज्ञकी चाल कूर्मके समान है। चालका मतलब जीवनचर्या। हमेशा ही इन्द्रियोंको अपने नियंत्रणमें रखकर ही खायेगा, देखेगा, सुनेगा आदि।

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्न के सभी शब्दोंका अर्थ कुछ विलक्षणता-को लिये हुए हैं। भाषा का अर्थ लेंग्वेज न होकर परिभाषा-लक्षण

अर्थ है। **प्रभाषेत** का केवल भाषण अर्थ न होकर वाग-व्यवहार-स्तुतिनिंदादि अर्थ विशेष विशिष्ट कथन अर्थ है। **आसीत** का अर्थ सिद्धासन, पद्मासनादि न होकर चिन्ताशील, निर्विचारादि प्रकार विशिष्ट स्थिति अर्थ है। **व्रजेत** का अर्थ रथादि वाहन विशेषमें विचरण न होकर जीवनचर्या अर्थ है। "**स्थितप्रज्ञस्य का भाषा**" यह सामान्य लक्षणप्रश्न है। "**किं प्रभाषेत**" इत्यादि विशेष लक्षण प्रश्न है।

निष्कामकर्मके द्वारा जो शुद्धसत्त्व हो गया है, सरल अन्तःकरण हो गया है वही स्थितप्रज्ञके बारेमें विचार करनेका भी अधिकार रख सकता है, इस आशयसे "**अर्जुन उवाच**"से प्रश्नोत्थापन किया। अन्यथा "**श्रुति विप्रतिपन्ना त**" में स्थितप्रज्ञ स्वरूप वर्णन आरम्भ हो गया था तो बिना प्रश्न भी विशेष वर्णन हो सकता था। अतएव "**अर्जुन उवाच-स्थितप्रज्ञस्य का भाषा०**" यह एक स्वतंत्र प्रकरण ही है। संत लोग इसे स्थितप्रज्ञ दर्शन मानते हैं॥ १॥

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। (२-५५)

[हे पार्थ ! मनमें स्थित समस्त कामनाओंको महापुरुष जब त्याग देते हैं, अपने आपसे अपने आपमें जब तुष्ट रहते हैं तब वे स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं ।]

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादिसे अर्जुनने चार प्रश्न पूछे थे । प्रथम प्रश्न भाषाका है । भाषाका 'लेंग्वेज' अर्थ नहीं किंतु यहां लक्षण अर्थ है । **'किं प्रभाषेत'** का भी केवल बोल-चाल अर्थ नहीं किंतु किस भावको अभिव्यक्त करनेवाली भाषाका प्रयोग होता है यह प्रश्नार्थ है । **'किमासीत'** का भी केवल उठना-बैठना अर्थ नहीं किंतु कैसी मानस स्थितिमें स्थित रहता है यह अर्थ है । **'व्रजेत किं'** का भी कैसे चलता-फिरता है, इतना ही अर्थ नहीं है किंतु किस प्रकारकी चर्या होती है ऐसा अर्थ है । इनमें लक्षणका प्रश्न मुख्य भी है और प्रथम भी है । अतः उसीको भगवान प्रथम कह रहे हैं **"प्रजहाति"** इत्यादिसे । 'हा' धातुका छोड़ना अर्थ है । इससे हान, हानि, हीन आदि शब्द बनते हैं । उसका क्रियापद है जहाति । उसमें 'प्र' उपसर्ग प्रकर्ष अर्थमें जोड़ा गया है । पूरी तरहसे छोड़ना प्रजहाति का अर्थ है । मनोगत समस्त कामनाओंको पूरी तरहसे जब छोड़ता है ऐसा पूर्वार्धका अर्थ है । सकल विषय सुखाभिलाषा त्याग करनेवाला स्थितप्रज्ञ है । तब जीवित कैसे रहेगा ? आनंदके बिना, सुखके बिना कोई जिंदा नहीं रहता :—

"आनन्देन जातानि जीवन्ति"

ऐसा श्रुतिमें कहा है। सभी प्राणी आनंदसे ही जीते हैं। उत्तरमें तृतीय पाद है। आत्मानंदसे जो तुष्ट है वह स्थितप्रज्ञ है। इस प्रकार इस श्लोकमें दो बातें कहीं। विषयसुख त्यागी एवं आत्मानंदतृप्त स्थितप्रज्ञ होता है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्। कुछ-कुछ कामोंको सब लोग छोड़े हुए होते हैं। किसीको संगीत, रेडियो सुनने आदिका कोई शौक नहीं होता। किसीको सर्दी गरमी आदिकी परवाह नहीं होती। शादी विवाहादिमें भी दिलचस्पी नहीं होती। किसीको सिनेमा नाटक आदि देखनेकी इच्छा नहीं होती। कोई कोई ऐसे होते हैं जिनको खाने-पीनेका कोई शौक नहीं, जैसा मिला वैसा खाया। खट्टा-मीठा जैसा भी हो खा लिया। कोई ऐसे होते हैं जिनको इतर सुगंधि, माला-फूल आदि पर कभी ध्यान नहीं जाता। पांच ही तो काम हैं—विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ही काम कहलाते हैं। ये ही कामनाके विषय हैं। क्या ये सभी स्थितप्रज्ञ है? नहीं। इसलिये विशेषण दिया-सर्वान्। शब्दकी कामना नहीं तो स्पर्शकी है। स्पर्शकी कामना नहीं तो शब्द या रूपादिकी है। इस प्रकार किसी न किसी विषयकी कामना सबके मनमें होती है। सभी कामनायें यदि छूट जायँ तभी वह स्थितप्रज्ञ होता है। उसकी किसी भी विषयमें रुचि नहीं होनी।

प्रजहातिमें प्र उपसर्गका प्रकर्ष अर्थ है। पूरी तरहसे यदि छोड़े तभी त्यागमें प्रकर्ष माना जा सकता है। प्रकर्षेण -**'बीज सूक्ष्माभ्यां सह सर्वान् कामान् जहाति'** ऐसा अर्थ है। अर्थात् कामनाके तीन भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और बीज। उनमें केवल स्थूल कामका ही त्याग नहीं, किन्तु बीज और सूक्ष्मके साथ स्थूल कामोंका त्यागना यहांपर अभिप्रेत है। इन तीनोंपर प्रथम विचार करें, फिर उन्हें त्यागनेका प्रयास करें।

कामनाके अनेक भेद हैं। स्थूल कामनाके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। उन सभी स्वरूपोंकी पहचान करनी चाहिये। एक श्लोकमें बताया है—

> आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
> रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
> मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
> तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

आशा नामकी एक नदी है। निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। आशा हमेशा अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये की जाती है। सो भी प्राप्ति अनिश्चित हो। आशा है कि एक लाख मिलेगा। शायद नहीं भी मिले। ऐसा व्यवहार होता है। इस आशासे मनुष्य अपने आपको भविष्यमें डाल देता है। उसका वर्त्तमान भविष्यमय होता है। इसी आशामें मनुष्य जीवित रहता है।

"आशामात्रेण तृप्तो विचरति जगति प्राणमाशावलम्बः"

वर्त्तमानमें बड़ी कठिन परिस्थिति है। आशा है आगे सुख होगा, लेकिन एक कठिनाई दूर होती है तो दूसरी आफत आ खड़ी हो जाती है। एक झंझट मिटी तो दूसरी झंझट। दूसरी झंझट आती है तब आशा करते हैं, यह मिट जायेगी तो मैं आराम लूंगा। लेकिन भगवान्‌की सृष्टि ही ऐसी है कि कोई न कोई झंझट आती ही रहती है। एकके बाद दूसरी आती ही है। जिससे आशा बनी ही रहे। इस प्रकार निरन्तर आशाका प्रवाह बहता ही रहता है इसलिये आशाको नदी बताया।

आशाकी दूसरी कोटि है—मनोरथ। ऐसे तो आशा, मनोरथ, इच्छा, राग आदि सभी पर्यायवाची है। फिर भी सबमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर भी है। वही अन्तर यहां बताया जा रहा है। छप्पन भोग मनोरथ वैष्णवोंमें प्रसिद्ध है। मनोरथ का अर्थ है रथके समान मनका

घूमना। जो चलता ही रहता है। जैसे नदीमें जल चलता ही रहता है वैसे आशामें मनोरथ भी चलता ही रहता है। आशा सामान्य रूप है, मनोरथ विशेष रूप है। कन्याने जहां शादीका नाम सुना तो हजारों प्रकारकी मधुर कल्पनायें करने लगती है। हम ऐसे रहेंगी, ऐसे घूमेंगी इत्यादि हजारों कल्पनायें वह करती है। उन मधुर कल्पनाओंमें जो आनन्द होता है उसीको लेकर मनोरथ है। केवल कन्याकी बात नहीं है। कन्या एक दृष्टान्त मात्र है। धन कमायेंगे फिर ऐसे सैर करेंगे, होटलोंमें जायेंगे, पिकनिकमें जायेंगे, इङ्गलैंड-अमरीका घूम आयेंगे इत्यादि सभी मनोरथ हैं। शेखचिल्लीके समान कल्पनाओंपर कल्पनायें करना मनोरथ है।

तीसरी कोटि तृष्णा है। प्रवाहित होने वाले जलमें जैसे तरंगें उठती हैं, जैसे समुद्रमें ऊँची-ऊँची तरगे-लहरें उठती हैं वैसे बीच-बीचमें बड़ी-बड़ी तृष्णायें होती हैं जो उसमें पड़े व्यक्ति पर भारी चपेटें मारती है। एक संत कहने लगे—

> दन्तैरुच्चलितं धिया तरलितं पाण्यङ्घ्रिणा कम्पितं
> दृग्भ्यां कुड्मलितं बलेन गलितं रूपाश्रया प्रोषितम्।
> प्राप्तायां यमभूपतेरिह महाधाट्यां धरायामहो
> तृष्णा केवलमेकिकैव सुभटी धीरा पुरो नृत्यति॥

यमराजने धावा बोल दिया। जैसे एक राजा दूसरे पर धावा बोलता है। बड़ा पहलवान धावा बोलता है तो छोटे-छोटे सभी कांपने लगते हैं। गामा पहलवानने दिल्लीमें आकर धावा बोल दिया तो वहां के सभी पहलवान कांप गये थे। यहां धावा बोलने वाला राजा है—'यमराज'। छोटा धावा नहीं - महाधाट्यां—भयानक धावा। तब किस किसकी हालत बुरी हो गई थी :- दन्तैरुच्चलितम्। दांत अपने स्थानसे खिसक गये और गिर पड़े। दांत गिरने लगे तो समझ लो यमराजने धावा बोल दिया। एकके बाद दूसरा दांत घबराहटके

मारे गिरने लगा। धिया तरलितम्-बुद्धि देवी तो पिघलने लगी। जहां ऊमर हुई साठी वहां बुद्धि हुई नाठी। बचपनमें कितने-कितने श्लोक याद करते थे, लेकिन अब तो कलकी बात आज भूल जाते हैं। बुद्धि पिघलकर चू गयी-खतम होने आयी। और कौन-कौन यमराजके धावेमें बेहाल हुए ? "पाण्यङ्घ्रिणा कम्पितं"। जैसे शेर-की दहाड़ सुनकर हिरण कांपते हैं वैसे यमराजकी दहाड़से हाथ और पांव कांपने लगे। लिखते समय हाथ कांपता है। कोई बरतन उठावे तो हाथसे गिर पड़ता है, उठते समय पांव कांपते हैं। क्यों कांपते हैं ? हाथ-पांव यमराजकी धाटीसे डर गये और कांपने लगे। अर्थात् हाथ-पांव कांपने लग जायँ तो समझो कि यमराज नजदीक आ गये हैं। 'दृग्भ्यां कुड्मलितं' आंखे अंदर धसने लगीं, कमजोर हो गयीं चश्मे आ गये। गुजरातीमें वेतारा बोलते हैं। बयालीस वर्ष ऊमरके हुए तो चश्मा आ गया। यमराजके धावेका यह लक्षण है। 'बलेन गलितम्'। सप्तशतीमें बताया है। 'हुंकारेणैव तं भस्मसाच्चकार' देवीने हुकार किया तो असुर भस्म हो गया। इधर यमराजने हुंकार किया तो बल गल ही गया। हाथ-पांवमें बल नहीं रहा। शरीरमें बल नहीं रहा। बचपनमें कितना दौड़ते थे, कूदते थे, छलांग मारते थे। और अब ? अब छलांग मारे तो एक ही मारेंगे। हाथ-पांव सब एकसे ही टूट जायेंगे, दुबारा छलांग मारना नहीं पडेगा। 'रूपश्रिया प्रोषितम्। यमराजका आगमन सुनते ही रूपश्री भागी। पहले शरीर कितना सुन्दर था। चेहरेपर कितनी रौनक थी ? बदन कितना गठीला था। शरीर पर कांति थी, श्री थी, शोभा थी। लेकिन यमराजके धावेमें कुछ तो पीयर भागीं और कुछ वहीं खलास हो गयीं। परन्तु ये सब तो गायब हो गयीं, तब मुकाबला करनेके लिये कोई टिका भी या नहीं ? कहते हैं और कोई नहीं टिका, किन्तु 'तृष्णा केवलमेकिकैव सुभटी' तृष्णा अकेली डटी रही, क्यों कि वह पहलेसे सुभटी थी। जबर्दस्त भटी-सैनिक थी-जवान थी-

तृष्णैका तरुणायते । मरते दम तक तृष्णा नष्ट नहीं होती । तरंगके समान वह उछलती रहती है ।

चौथी कोटि राग है । राग ग्राहवती । रञ्जनाद्रागः । राग रंग देनेवाला है । जैसे ग्राह जतुको निगल जाता है । वैसे राग भी चारों ओरसे रंग देनेसे मानो अपने अंदर ले लेता है । मनुष्य रागमें तन्मय हो जाता है—

"रागो लिङ्गम बोधस्य"

राग अज्ञानकी निशानी है । किसी विषयमें मनुष्य रागसे तन्मय हो जाता है तो निश्चित रूपसे अज्ञान होगा । उसका वास्तविक स्वरूप छिप जाता है । पुत्रमें कितने भी दोष हों, सभी रागमें छिप जाते हैं । इसी रागमें कई-कई प्रधानमंत्री भी डिग गये । बदनाम हुए, क्योंकि दोष दीखते नहीं, बल्कि दोष भी गुणके रूपमें दीखने लगते हैं । विषयराग हुआ तो विषयों में दोष दर्शन नहीं होगा । तब भला वैराग्य कहांसे होगा ? वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं हो सकता ।

वितर्कविहगा । इस आशा नदीको पार करने कोई निकलता है तो नदीके मध्यमें पहुंचते ही चील, बाज आदि पक्षी आ झपटते हैं । वितर्क रागका रूप नहीं, फल है । पक्षीके समान नदीके ऊपर उडनेवाला है । काई रागी अपने प्रियका चिंतन कर रहा हो तो थोड़ी भी आहट सुनते ही, दरवाजा खटकतेही तर्क करने लगता है—वही आया होगा । बताया है—

तदेकचित्तो मनुते पदे पदे
तमेव नित्यं हृदि लेशलिङ्गतः ।
पलाशपातं च पदाहतिं यथा
प्रियस्य तल्लीनमनाः प्रियानिशि ।।

धैर्यद्रुमध्वंसिनी । नदी पार करनेके लिये इस पार और उस पार वृक्ष खड़े हैं । बरगद पेड़ हो तो उसकी बहुत सारी जड़ नीचेकी

और उतरी हुई होती है। जंगलमें नदियोंके किनारे यह दृश्य दिखाई पड़ता है। उन जड़ोंके या डालियोंके सहारे पार होना संभव है। किंतु कभी बाढ़ आ जाती है तो पेड़ ही उखड़कर चले जाते हैं। वैसे आशा नहीं तृष्णा रागादि प्रबल पड़ जाते हैं तो धैर्य रूपी वृक्ष उखड़ जाता है। पार करनेका कोई सहारा नहीं रहता। द्रुम पेड़को कहते हैं और खूंटेको भी कहते हैं। दो खूंटों पर इस ओर और दूसरी ओर रस्सी बांधकर लोग पार होते हैं। खूंटा उखड़ जाय तो फिर क्या होगा ?

पांचवी कोटि मोह है। मोह तो पानीमें आवर्तके समान है। राग चौथा है। मोह पाँचवाँ है। रागमें और मोहमे क्या फरक है ? रागरजोगुण युक्त होता है। "रजो रागात्मकं विद्धि"। किन्तु मोह तमोगुण विशिष्ट होता है। रागमें तन्मयता होती है, विषयबोध भी रहता है। मोहमें तो पूरा अन्धकार रहता है। नदियोंमें जहाँ आवर्त्त है, वहांसे बचकर पार करना बड़े-बड़े तैराकोंके लिये भी शक्य नहीं है। काशीमें दो तैराक बाढ़के समय तैरकर आगे गये, बचाओ बचाओ आवाज आयी, नाव वहाँ तक नहीं पहुंच सकी। वे पहले ही डूब गये। वहां एक बड़ा आवर्त्त था। आवर्त्त माने भँवर। उसमें वे फंस गये। दो माईल दूर उनकी लाश निकली। यही मोहकी स्थित्ति है। ग्राहके मुँहसे कोई निकल भी जाय, किन्तु मोहके भंत्ररसे कोई नहीं निकल सकता। इस मोहावर्त्तसे आशा नदी दुस्तर ही नहीं, सुदुस्तर हो गयी है। पैदल पार नहीं हो सकते क्योंकि यह अति गहन है।

प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी। जैसे तैसे पार पहुंच भी जाय, लेकिन ऊपर चढ़नेके लिये कोई मार्ग नहीं है। मुझे अनुभव है। बचपनमें एक तेज नदीको तैर कर पार हो गया। वहां जाकर देखा तो टीलेके समान किनारा था। आधा मील तक फिर नीचे जाना पड़ा। तब कहीं

ऊपर चढ़ सका। आशा नदीमें तो आधा मील क्या कोसों तक किनारेका ठिकाना नहीं है। चिन्तारूपी ऊँचा किनारा है।

"वृद्धस्तावच्चिन्तामग्न:'

ऐसा आचार्यका वचन है। बुढ़ापेमें हजारों चिन्तायें घेरी रहती हैं। पुत्र चिन्ता, धन चिन्ता, दार चिन्ता इन चिन्ताओंमें मनुष्य डूबा रहता है। जयपुर राज्यकी एक कहानी प्रसिद्ध है। वहां राजमन्दिरमें ब्रह्मचारी पुजारी पूजा करते थे। पहलेके पुजारी राजाका आदर सम्मान करते थे, परन्तु ये लापरवाह थे। राजाने मन्त्रीसे कहा कि मैं मन्दिर जाता हूं तो एक साधारण व्यक्तिके समान ये पूजारी बर्ताव करते हैं। उनके लिए क्या करना चाहिए? मन्त्रीने पता लगाया और कहा महाराज थोड़े दिन शांत रहिये। पहले इनकी शादी कराईये, फिर देखिये। राजाने पुजारियोंका विवाह कराया। थोड़े दिन बाद राजाके आते ही पुजारी उठ खड़े होने लगे। जो उठे उसको राजाने विशेष दक्षिणा दी। धीरे-धीरे सभी पुजारी राजके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे। हां, हजूर करने लगे। मंत्रीसे पूछा—ये कैसी करामात है? मंत्रीने कहा, घरमें बेड़ियां आ गयीं अब इन लोगोंको चिंता होने लगी कि इनका पालन–पोषण अच्छी तरह कैसे हो? उत्तमसे उत्तम साड़ी, ब्लाऊज कहांसे प्राप्त हो। ये हमेशा प्रसन्न कैसे रहें? मंत्रीने कहा, और आगे देखते जाइये। इनको बाल-बच्चे हो जायेंगे और कुछ उमर भी हो जायेगी। राग-मोहका ही अन्तिम परिणाम घोर चिंता है। निश्चिन्त होता है - सर्वसंगपरित्यागी संत महापुरुष।

ये पांच कामके मुख्य स्थूल विभाग हैं—आशा, मनोरथ, तृष्णा, राग और मोह। इनका आखिर परिणाम अज्ञानांधकार चिन्ता आदि है। इन पांचोंको समाप्त किये बिना प्रज्ञा स्थैर्य नहीं हो सकता। जहाति कामान् कहनेसे इन पांचोका त्याग प्राप्त होता है। प्र उपसर्गसे इसके सूक्ष्मरूप और बीजरूपका भी त्याग प्राप्त होता है।

स्थूल कामनाओंको समाप्त करने पर भी सूक्ष्म कामनायें मनमें रहती हैं। इसीको लेकर भागवतमें बताया है—

"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"

इन इन्द्रियोंसे हमेशा सावधान रहना चाहिये। इन पर कभी विश्वास नहीं करना। स्थूल रूपसे न सही सूक्ष्मरूपसे इन्द्रियोंमें राग-द्वेष रहते हैं। नारदजीने कहा था कि हे भगवान मैंने इन्द्रियोंको जीत लिया। परन्तु सूक्ष्म कामनाओंको नहीं जीता था। इसलिये भगवानने उन्हें सावधान रहनेको कहा। सूक्ष्म कामनाओंका पता स्वप्नमें होता है। सपनेमें बहुत पुराने पुराने संस्कार भी जागृत होते हैं। स्वप्नमें देखा सोनेकी अंगूठी पड़ी हुई है तो तुरत उठानेकी प्रवृत्ति हुई। जाग्रतमें हम कभी नहीं उठाते। जाग्रतमें हिसामें प्रवृत्ति नहीं होती किंतु स्वप्नमें सांपको देखकर डर लगा तो डंडेसे मारने लगे। जाग्रतमें काम-क्रोध नहीं उठते किंतु स्वप्नमें उठ खड़े होते हैं। ये सूक्ष्म कामनायें हैं। जैसे जाग्रतमें मनमें विकार नहीं उठते वैसे स्वप्नमें भी न उठे ता समझना चाहिये कि सूक्ष्म कामनाओंको हटाया। ब्रह्मज्ञानीको स्वप्न आता है या नहीं। आता है। कैसा स्वप्न ? जैसे जाग्रतमे वह अहं ब्रह्मास्मि भावना करता है वैसे स्वप्नमें भी अहं ब्रह्मास्मि भावना करता है। यह अपने आप परीक्षा करके देखनेकी बात है। आपसे हम पूछें कि आपको कैसा स्वप्न आता है और आप कहें मुझे अहं ब्रह्मास्मि ऐसा स्वप्न आता है। इस प्रकार यह प्रश्नोत्तरका विषय नहीं है। स्वप्नमें प्रायः व्यवहारिक बातें आती हैं। किसी-किसीको कभी-कभी परमार्थकी स्फुरणा होती है। अस्तु। स्वप्न एक उदाहरण मात्र है। ये कामनायें सूक्ष्मरूपसे जाग्रत में भी रहती हैं। मौका मिलनेपर उभरती हैं। इनको भी त्यागना चाहिये।

तीसरी बीज कामना है। बीजरूपी कामना तब तक प्रकट नहीं होती जब तक अभिव्यञ्जक उपस्थित नहीं होता। बच्चोको हम

बाल गोपाल कहते हैं, क्योंकि वे निर्दोष होते हैं। काम-क्रोधादि दोष उनमें नहीं होते। इसलिये हम उन्हें गोपाल रूप मानते हैं। ठीक भी है। उनमें स्थूल या सूक्ष्म कामना नहीं रहती, परन्तु उनमें बीज रूप कामना रहती है। एक लड़का हुआ तो 'पुत्रोत्सवं मन्यन्ते' पुत्रोत्सव मनाया। खुशियां मनायी। किन्तु लड़की हुई तो खुशियां नजर नहीं आयीं। हां, बोलनेके लिये समाधानके लिये कह देते हैं लक्ष्मी आयी। लेकिन अन्दरसे आत्मा क्या कहती होगी, लक्ष्मी आयी कहती है या लक्ष्मी गयी कहती है, यह तो कहनेवाला ही जानता है। क्यों ऐसा भेद हुआ ? मैं आपके भेद-भाव पर टिप्पणी नहीं कर रहा हूं, परन्तु यह जानना है कि भेद-भाव होनेमें हेतु क्या है ? हेतु यही है - पुत्र हुआ तो वह वंशधर होगा, धन कमायेगा इत्यादि खुशीमें हेतु है। किंतु कन्या हुई तो वह परायी होगी। अपने समयपर वह अपने घर चली जायेगी। यह एक सभ्य भाषामें उत्तर हुआ। स्पष्ट भाषामें कहिये। वंशधर होगाका अर्थ क्या है ? अपने घर जायेगीका अर्थ क्या है ? यही अर्थ है न, विवाह होगा। लड़केका विवाह होगा तो उसको आगे सन्तान होगी। लड़कीका विवाह होगा तो वह माता-पिताका घर छोड़कर चली जायेगी। किंतु हम पूछेंगे कि यह कल्पना आपने प्रथम ही कैसे किया ? आपका लड़का सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमार जैसे शकराचार्य जैसे नित्यब्रह्मचारी गृहत्यागी हो गया तो वंशधर कैसे होगा ? आपकी लड़की गार्गी वागंभृणी जैसी नित्य ब्रह्मचारिणी होकर रहेगी तो परायी कैसे होगी ? अपने घर क्यों जायेगी ? आप यही कहेंगे कि सनकादि जैसे और गार्गी आदि जैसे सब नहीं हो सकते। ठीक है। हम भी यही कहते हैं। फिर इससे यही अर्थ निकला कि लड़केमें या लडकीमें बीजरूपसे काम रहता है, तो वे गोपाल क्यों हैं ? काम-क्रोधादि बालक अवस्थामें बीजरूपसे रहता है। युवावस्था अभिव्यञ्जक है। बीजसे वह स्थूल एवं सूक्ष्मावस्थामे पहुंच जाता है।

इसीको बीजावस्थापन्न काम कहते हैं। यह काम भी मिट जाना चाहिये।

प्रजहातिका अर्थ है बीजसूक्ष्माभ्यां सह जहाति। बीज और सूक्ष्म कामोंके सहित स्थूल समस्त कामोंको जब छोड़ देता है तब वह स्थितप्रज्ञ होता है। यहां शंका हुई कि बीजरूपी काम समाप्त हुआ कि नहीं कैसे जानेंगे, क्योंकि यह तो लम्बा सिलसिला हुआ। बाज हुआ यह तब मालूम होगा जब दूसरे जन्ममें भी बालक अवस्था पाकर युवावस्थामें पहुंचेंगे। दूसरे जन्ममें यदि युवावस्थामे भी गोपाल ही रहेंगे, सनकादिवत् होंगे तब बीज काम भी नहीं रहा, ऐसा कहा जायेगा। हो सकता है कि दूसरे जन्ममें फिर काम-क्रोधादिका उदय हो। अभिव्यञ्जकके आने पर पुनः अभिव्यक्त हो। किन्तु यह प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि सर्वकाम नष्ट होने पर उसका दूसरा जन्म ही नहीं होगा। श्रुतिमें लिखा है—

> यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
> अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जब हृदय स्थित समस्त काम प्रमुक्त हो जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं तब यह मर्त्य-मर्त्य नहीं रह जाता। वह अमृत हो जाता है। वह इसी जन्ममें ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

किसी प्रारब्ध विशेषसे माना जाय कि इस जन्ममें उसको मुक्ति नहीं मिली, या ज्ञानमें किसी प्रतिबन्धकके कारण जन्मांतर लेना पड़ा तो भी वह दूसरे जन्ममें सनकादिवत् कामना रहित होकर ही पैदा होगा। कौमार सर्ग सृष्टिकालमे ही होता हो ऐसा कोई नियम नहीं है। वर्त्तमानकालमें भी जन्मसे ही ज्ञान वैराग्य सम्पन्न बालकों-का जन्म होता है। तो कौमार सर्गमें ही उनकी गिनती मानी जायेगी। शंकराचार्य, पद्मपादाचार्य, शुकदेवादि अनेक महापुरुष कलियुगमें ही हो गये हैं। ये सब नामी हो गये इसलिए इनका नाम

लिया जाता है और बिना नामके ही ऐसे कई उत्पन्न होते हैं। आपके घरमें भी उत्पन्न हो सकता है। आप स्वयं भी यदि व्यक्त काम हो तो इसी जन्ममें मुक्त हो सकते हैं और इस जन्ममें न हुए तो जन्मांतरमें सकनादिवत् मुक्तकाम होकर जन्म ले सकते हैं और वही स्थितप्रज्ञ होकर मुक्त हो सकते हैं। लेकिन शर्त यहीं है कि समस्त कामनाओंका प्रहाण हो। श्रुतिमें भी इसीलिए 'प्रमुच्यन्ते' ऐसा प्र उपसर्ग जोड़ा।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। यहां तक हमने यह समझा कि बीज और सूक्ष्मके सहित समस्त कामनाओंका प्रहाण करना चाहिये। इतनेसे मनुष्य स्थितप्रज्ञ होता है। बात बड़ी अच्छी कही परन्तु समस्त कामोंको छोड़ें कैसे? यह अच्छी बात है कि म्याऊके गलेमें एक घंटी बँध जाय, लेकिन बांधे कैसे? कौन बांधे? ये कामनायें इतनी प्रबल होती हैं कि इनको नष्ट करने जाओ तो जो नष्ट होने जा रहा है वह भी पुनः जीवित हो जाती हैं। एतदर्थ ही यहां काम शब्दका खास प्रयोग किया और मनोगतान् विशेषण दिया। प्रजहाति यदा रागान्, यदा मोहान् यदा तृष्णां इत्यादि प्रयोग नहीं किया। काम शब्दका प्रयोग किया। इसे योगरुढ़िके समान समझना चाहिये। काम शब्दका योगार्थ भी है, रुढ़ि अर्थ भी है, मिलाकर अर्थ किया जाता है। जैसे पङ्कज शब्दका अवयवार्थ अलग होता है, समुदायार्थ अलग होता है। दोनोंको मिलाकर अर्थ किया जाता है। पङ्कमे जिसका जन्म हो यह पङ्क और ज इन दोनों अवयवोंका अर्थ है। समुदायका अर्थ है "पद्म" पूरा अर्थ होगा पङ्कमें कीचडमें पैदा हुआ कमल। एक कमल स्थलमें पैदा होता है उसे पद्म कहेंगे। किन्तु पङ्कज नहीं कहेंगे। वैसे यहां काम शब्द है। क और आम ये दो शब्द मिलकर काम शब्द हुआ। **"कमिति वारि मूर्धनिन्दासुखेषु"**। कं का एक अर्थ जल है। इसीसे कंज शब्द हुआ। रामायणमें "कजलोचन" प्रयोग आता है। 'कपाल' में क का मूर्धा

अर्थं है। उसकी रक्षा जो करे वही क-पाल, खोपड़ी। कंकाल, कंगाल आदिमें निन्दा अर्थं है। कं ब्रह्म खं ब्रह्म इत्यादिमें सुख अर्थ है। काममें क का सुख अर्थ है आमका अर्थ है कच्चा। आमाशय, पक्वाशय आदि नाम आते हैं। पेटमें आमाशय है, जहां कच्चा अन्न है। पक्वाशय वह है जहां अन्नका रस बनता हो। आमका ही अपभ्रंश आँव है। आँव गिरता है मतलब अन्न पचे विना ही गिरता है। "कम् आमं यस्मिन्" जिसमें कच्चा सुख हो वही काम है। यह अवयवार्थ है। समुदायार्थ है कामना-अभिलाषा। मिलाकर अर्थं होगा। कच्चे सुखकी अभिलाषा। कच्चा सुख कौन ? पक्का सुख कौन ? कच्चा घडा वह जो छूते ही फूट जाय। और पक्का वह जो मजबूत हो। वैसे जो कच्चा सुख होगा वह नाशवान् क्षणभंगुर होगा और जो पक्का सुख होगा वह स्थायी नित्य होगा। विषयसुख कच्चा सुख है। ब्रह्मानन्द पक्का सुख है। विषयोंके संगसे क्षणभरके लिये चित्तवृत्ति विशेष स्थिर होती है तो उसमें जो आनन्दरूपी ब्रह्मका प्रतिबिंब पडता है वही विषयसुख है। वृत्ति अस्थिर होती है अतएव उसमें प्रतिबिंब भी स्थायी नहीं होता। यही कच्चा सुख है ब्रह्मानन्द नित्य है। श्रुतिमें उसकी नित्यता बतायी है—

"नित्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म"

ऐसा श्रुति वचन है। अतः उसे पक्का आनंद कह देते हैं।

अस्तु, इस शब्द प्रयोगसे कामके त्यागके लिये कौन-सा उपाय बताया गया है ? उत्तर वेदांतमें यही दिया गया है कि विषयसुखको हमेशा क्षणभंगुर समझो, विनाशी समझो, दुःख मिश्रित समझो तो विषय वैराग्य होगा।

"सर्वं क्षणिकं क्षणिकं सर्वं दुःखं दुःखं"

यह भावना होने पर विषय कामना छूट जाती है। विषयमें उतनी ही महत्व बुद्धि रखो जितनेसे व्यवहार चले। बहुत अधिक

महत्व विषयोंको न देना चाहिये। इनको केवल कच्चा सुख ही समझो।

मनोगतान्। परंतु प्रश्न इतनेसे हल नहीं हो जाता। स्थूल सुखको हम क्षणिकं क्षणिकं समझते हुए उसमें उत्पन्न कामनाको हटा सकते हैं। और मान लो कि उसी भावनाको हटाकर सूक्ष्म सुख कामनाको भी मिटा सकते हैं, परंतु बीज कामनाको छोड़ना बहुत भारी क्या असंभव जैसा ही है। वह कामना अभिव्यञ्जकके आने पर अभिव्यक्त होती है। बीज कामका अर्थ है—वासना रूपी काम। एक-एक व्यक्तिमें अप्रकट कामना-वासना कितनी होती हैं? एक-दो-चार? नहीं चौरासी लाख तो सीधी ही पड़ी हैं। ये मुख्य हैं और उसके अवांतर भेद अनंत हैं। चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। उतनी ही वासनायें भी हैं। यह मोटा हिसाब है। और एक-एक योनियोंमें कितनी-कितनी अवांतर कामना-वासना होती हैं। पशु शरीर मिलने पर पशुका काम प्रकट होता है। पक्षी शरीर मिला तो पक्षीका काम प्रकट होता है। कीट पतङ्गादि सबमें अपनी-अपनी योनिके अनुरूप कामनायें होती हैं। ये सबके सब आपमें समायी हुई हैं। बालककी कामना और ढंगकी, जवानकी और ढंगकी वृद्धोंकी कामना और ढंगकी होती है।

"बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः"

बालकको खिलौनोंकी कामना है। तरुणोंको तरुणीकी कामना है। वृद्धोंको पुत्र-पोत्रादि कामनासे चितायें होती हैं। ये सभी बीजरूपसे आपमें जनमसे ही हैं। अवस्थायें अभिव्यञ्जक हैं। अवस्थायें आती हैं तो ये कामनायें अभिव्यक्त होती जाती हैं। इन समस्त बीज कामनाओं को कैसे हटावें? यह प्रश्न है।

कुछ मनीषी कहते हैं कि मनुष्य होने पर अन्य समस्त वासना नष्ट होती है। मनुष्य होनेके बाद फिर कोई पशु-पक्षी नही बनता,

उर्ध्वंगति होती है। अधोगति नहीं होती। मनुष्यसे देव बन सकते हैं, पशुपक्षी नहीं। परंतु सनातन धर्म इस पक्षके विपरीत है। मनुष्य होनेके बाद ही राज भरत हिरण बने, और भा अनक ऐसे उदाहरण हैं। बल्कि यों कहना चाहिये कि मनुष्य होनेके बाद ही पशुपक्षी बनते हैं। मरीन ड्राईव में एक कुत्ता फ्लैटमें रहता है। सेवाके लिये नौकर लगे हैं। क्या यह पुण्यका फल नहीं ? दूसरा कुत्ता सड़कोंमें, भटक रहा है। बच्चे पत्थर मार रहे हैं। यह पापका फल नहीं है ? सुख और दुःख, पुण्य और पापका फल हैं तो कुत्तेमें पुण्य और पाप कहांसे आया ? कर्म करनेका अधिकार पशुपक्षियोंको नहीं है—

"कर्मानुबन्धोनि मनुष्यलोके"

मनुष्य शरीर ही कर्मानुबंधी है। कुत्तेका एक उदाहरण है। समस्त प्राणियोंको सुख और दुःख प्राप्त होते ही रहते हैं तो उनका पुण्य और पाप कहासे आया ? मानना ही पड़ेगा कि जब वे मानव शरीरमें थे तब पुण्य-पाप किया है। उसीके फलस्वरूप उनको सुख-दुःख मिला। तत्पर्य यह कि मनुष्य होनेके बाद फिर चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण संभव है। तब चौरासी लाख प्रकारकी वासना और कामना भी माननी पड़ेगी। इन सबका प्रहाण कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें भगवान यह द्वितीय विशेषण दे रहे है— **मनोगतान्**। ये काम मनमें स्थित है। अतः मनोनिरोधसे कामका निरोध हो सकता हैं।

कोई दार्शनिक मानते हैं कि काम, इच्छा, क्रोधादि आत्मामें स्थित हैं। परंतु भगवान् इस सिद्धांतको नहीं मानते। श्रुतिभी यही कहती है कि—

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा
धतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव"

काम-कामना यह किसका धर्म है ? मनका धर्म है आत्माका नहीं। संकल्प कहां उठता है ? मनमें, आत्मामें नहीं। विचिकित्सा माने संशय कहां होता है ? मनमें संशय होता है, आत्मामें नहीं। श्रद्धा भक्ति कहां होती है ? मनमें। अश्रद्धा कहां होती है, मनमें ही। धृति माने धैर्य। मनमें धैर्य है ऐसा ही व्यवहार होता है। अधृति-अधैर्य भीरुता भी मनमें होती है। ह्री माने लज्जा। लज्जा भी मनका धर्म है. आत्माका नहीं। धी. माने बुद्धि। मनमें ही विचार उठते हैं, स्मरण हाता है, ज्ञान होता है। भी माने भय। भय भी मनमें होता है, आत्मामें नहीं। श्रुनिको यह क्यों कहना पडा ? इसलिये कि लोग इन सबको आत्मामें समझते हैं। "मैं मूरख खल कामी" ऐसा लोग बोलते हैं। मेरा मन मूरख खल कामी नहीं कहते। इसी प्रकार मैं संशय करता हूँ, मैं श्रद्धा करता हूं. इत्यादि बोलते हैं। मेरा मन संशय करता है. मेरा मन अश्रद्धा करता है इत्यादि कोई नहीं करता। अतः भ्रांतिनिवृत्यर्थं "कामः संकल्प" इत्यादि श्रुतिने कामादिको मनोधर्म बताया। भगवान भी वही कह रहे हैं — मनोगतान्। अतः मनो निरोधकर काम प्रहाण किया जा सकता है। अविद्यासे काम होता है, कामसे कर्म होता है, यही संसार है। अविद्या मन ही है। उसीसे फिर काम उत्पन्न होता है। अतः मनोनिरोध परम उपाय है।

"न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्ध हेतु
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन् सकलं विजृम्भते"

ऐसा आचार्यका वचन है। मनसे अन्य कोई अविद्या नहीं है। मन ही अविद्या है। वही भवबंधका हेतु है। मन नष्ट हो गया तो सारा संसार नष्ट हो जाता है। मन उभर आया तो सारा संसार उभर आता है।

"मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते"

मन यहाँ अमन हुआ वहाँ द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती। इन सब प्रमाणोंमें मनो निरोध पर जोर दिया गया है। उसी मनोनिरोधसे काम निरोध होगा।

यदि आत्मामें काम संकल्पादि हों तो आत्माका निरोध असंभव है। तब कामादि निरोध भी अशक्य होगा। नैयायिकोंने कहा—आत्मामें काम संकल्पादि हैं। उनसे पूछा—यह आत्मामें स्वाभाविक है या आगंतुक? स्वाभाविक है तो, सूर्यमें उष्णता स्वाभाविक होनेसे कभी भी वियुक्त नहीं होती वैसे आत्मामें भी कामादि नित्ययुक्त होते। आगंतुक हो तो जैसे जलमें आगंतुक उष्णता नष्ट होती है वैसे आत्माके कामादि नष्ट हो सकते हैं। किंतु प्रश्न होगा ये आये कहांसे? आत्माके अंदरसे फूट निकले? जैसे जलके अंदरसे बुद्बुद, तो कभी आत्मा भी फूटेगा। अतः जहाँसे आया कहेंगे, वहीं कामादिका आश्रय है। वह है मन। इसीलिये पहले बतायी श्रुतिमें भी **"कामा येऽस्य हृदि श्रिताः"** बताया। काम कहां है? हृदयमें। हृदय माने मन, न कि छाती।

'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः'

ऐसा कोशमें हृदयका ही पर्याय मन लिखा है।

मनोगतान् इस विशेषणका तात्पर्य यह आया कि चूंकि यह आत्मधर्म नहीं है किंतु मनोधर्म है, अतएव मनोनिरोधके द्वारा काम निरोध किया जा सकता है। तब जिज्ञासा स्वयमेव उठती है कि मनका निरोध कैसे हो? अतएव प्रसंगवशात् इसपर भी थोड़ा विचार करना परम आवश्यक हुआ। महर्षि पतंजलि कहते हैं, यह मन एक पौधा है। इसके पुष्प हैं चित्तवृत्तियाँ। फल है काम-तृष्णा। इस कामको नष्ट करनेके लिए जो फल लगे हैं, उनको तोड़ डालो

और वृत्तिरूपी फूलोंको नष्ट करो, क्योंकि फूलमें ही फल बीज रूपसे रहता है। योगसूत्र इस प्रकार है—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः

अभ्यास और वैराग्यसे वृत्ति निरोध होता है। यहाँ वैराग्य माने रागाभाव-कामाभाव। वह स्थूल कामका नाश ही है। यही अपर वैराग्य है। स्थूल कामनाका निरोध और अभ्यास करते रहनेसे चित्त-वृत्ति निरोध होता है। चित्तवृत्ति निरोध ही समाधि है। समाधिसे ऋतंभरा प्रज्ञा होती है।

"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा"

समाधिसे ज्ञान हो जाता है तब पर वैराग्य होगा। समाधिके बिना ज्ञानकी परिशुद्धि नहीं होती है। सूत्रमें बताया—

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णयम्"

पर वैराग्य तब होता है जब पुरुषख्याति होती है। पर वैराग्य ही वितृष्णा है। इन सूत्रोंसे यह क्रम स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम स्थूलकामको नष्ट करो -अपर वैराग्य प्राप्त करो और अभ्यास करते जाओ तो चित्तवृत्ति निरोधरूपी समाधि लगेगी। समाधि लगाते-लगाते आत्मज्ञान होगा। आत्मज्ञान होनेपर वैराग्य होगा, अर्थात् बीजावस्थामें स्थित कामका भी नाश होगा। अत पहले बतायी रीति से काम शब्दसे प्राप्त अर्थका चिंतन करो-सर्वं क्षणिकं इत्यादि। फिर ध्यान धारणादिका अभ्यास भी चालू करो। इस प्रकार स्थूल कामोंको नष्ट करो। फिर वृत्तिरूपी फूलों को तोड़ते जाओ तो आगे बीजा-वस्थापन्न काम भी नष्ट होगा।

यह पातंजल योगानुसारी मार्ग है। वेदांतमें भी इस प्रक्रियाको मान्यता दी है। गीतामें भी षष्ठाध्यायादिमें इसका वर्णन मिलेगा। भक्त लोग इस प्रक्रियामें भक्तिको भी जोड़नेके लिये कहते हैं।

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः"

योगियोंमें भी श्रेष्ठ योगी वह है जो स्थूलादि विभिन्न वस्तुओंमें चित्तको एकाग्र न कर भगवानमें ही मनको एकाग्र करते हैं और श्रद्धाके साथ भगवानका भजन करते हैं। उससे चित्तवृत्ति निरोध एवं सकल काम निवृत्ति हो जाती है। वेदांत शास्त्रमें इस प्रक्रियाको भी अंगीकार किया है और इन दोनों मार्गोंसे अतिरिक्त भी एक परम विशिष्ट मार्ग बताया है।

वेदांत शास्त्रका कहना है कि यह मन एक पौधा है। उसके स्थूल काम रूपी फलोंको नष्ट करनेमें सभी एक मत हैं। बीजः नाशकी प्रक्रिया कुछ अलग है। मनमें अनंत विध वृत्तियां होती हैं। जिनमें बीज कामना रहती हैं। उन सब वृत्तियोंका निरोध करना बड़ा कठिन है। दूसरी बात यह है कि वृत्तियोंके बिना बीज कामना रहती है पूछेंगे—फूलके बिना बीज फल कैसे होगा ? वृत्तिके बिना बीज कामना कैसे होगी ? उत्तर है बीज कामना पहलेसे ही अनंत भरी हुई है। फिर बहुतसे पेड़ ऐसे हैं कि फल न भी हो तो भी डाली लगानेसे ही लग जाते हैं। डालीमें ही बीज भाव रहता है। अतः पूरी तरहसे बीज कामको नष्ट करनेका उपायान्तर ही करना पड़ेगा। वह उपायान्तर क्या है ? यह देखो कि पौधेको पोषण कहांसे मिलता है। मैंने एक पेटलादमें चातुर्मास किया था। प्रथम वर्षा हुई तो लोगोंने बीज बोया। उसमें अंकुर आया और पौधा भी हो गया। लेकिन फिर बारिश कई दिनों तक नहीं आयी। लोग इन्द्रदेवकी प्रार्थना करने लगे, यज्ञ याग करनेमें लगे। मैंने लोगोंसे पूछा ये पौधे बड़े-बड़े हो गये हैं तो अब फल आयेगा। पानीकी क्या जरूरत है ? लोगोंने बताया- एक तो फल आनेके पहले ही ये सूखने लगेंगे। और फल जिनपर आये या आनेवाले हैं वे भी निकम्मे होंगे। दाने मोटे नहीं होंगे। देखने मात्रके दाने होंगे। न तो वे खाने योग्य रहेंगे और

न बीजके लायक ही रहेंगे। बादमें जोरसे बारिश हुई तो लोगोंका कष्ट दूर हुआ। यह अलग बात है, किंतु यहां इतना समझमें आया कि पौधे हरे-भरे हों फिर भी उनके लिये पोषण चाहिये। नहीं तो दाने पुष्ट नहीं होंगे।

यहां मनका प्रसंग चल रहा है। हमने प्रथम ही बताया था कि यह मन एक पौधा है। वृत्ति पुष्प है। बीज काम है परन्तु इसको भी पोषण मिलता रहे तो ही सफल होगा। अन्यथा बीज ही नहीं होगा। होगा तो बीजाभास होगा। जैसे पानीके बिना बाजरीका बीज मोटा नहीं होता। वह बीजभास ही रह जाता है। अतः मनोगत कामोंको नष्ट करनेका सरल उपाय है, उसका पोषण बंद कर देना। यहां पोषण क्या है, यह ढूंढो। बाजरेके लिये पानी पोषण था तो यहां भी वैसा ही एक पोषण है। यहां आत्मा ही पोषण है, वही पानी है। बृहदारण्यक में बताया है—

"सलिल एको द्रष्टा"

वह आत्मा सलिल है, एक है, दृष्टा है। उसकी व्याख्या लंबी है। यहां इतना ही समझना है कि वह आत्मा सलिल अर्थात् सलिल-वत्पोषक है। मन आदि पौधोंका सलिल समान पोषक करनेवाला है। कैसे पाषण मिलता है? वैसे तो सारे जगत्को आत्मासे ही पोषण मिलता है। परमात्माका स्वरूप है—सत् चित् आनन्द। सत्को अस्तिसे बोलते हैं। चित्तको भातिसे और आनन्दको प्रियसे कहते हैं। पुस्तकमस्ति पुस्तकं भाति पुस्तकं प्रियम् इस रीतिसे सारे जगत्में अस्ति भाति प्रिय अनुभूत होता है। पृथिवी अस्ति पृथिवी भाति पृथिवी प्रियं, जलमस्ति जलं भाति जलं प्रियं इत्यादि। अस्ति माने है। यदि अस्तिको निकाल दिया जाय तो क्या होगा? अस्ति माने सत्। पुस्तकमेसे अस्ति निकाला तो पुस्तक सत् नहीं रहेगा, असत् माने शून्य। तब पुस्तकमें एवं पृथिवी जलादिमें पोषणकारी कौन?

सत् परमात्मा। सत् परमात्मासे अस्ति होता है। यही पोषण है। उसके अभावमें नास्ति होगा शून्य। यही उनका सूखना है।

सारे जगत्का पोषण परमात्मासे होता है। यह सामान्य पोषण है। मन आदिमें परमात्माका सामान्य पोषण है। विशेष पोषण आत्मा है। तत्सम्बन्धसे तदाधान ही पोषण है। एक गमलेमें पौधा लगाया और दूसरे गमलेमें पानी डाला तो पोषण होगा? नहीं होगा। जिसमें पौधा उसीमें पानी होना चाहिये। पानीसे पौधेका सम्बन्ध होता है तो पौधेमें पानीका प्रवेश होता है, यही उसका पोषण है। इसी प्रकार जगतसे परमात्मा का सम्बन्ध हुआ और जगत्में प्रवेश किया —

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"

ऐसा श्रुतिमें कहा है। जगत् बनाकर उसीमें प्रविष्ट हो गया। तभी तो पृथिवी अस्ति बोलने हैं। "अस्ति" पृथिवीमें प्रविष्ट हुआ। अन्यथा अस्तिमें पृथिवी कहना चाहिये था, न कि पृथिवी अस्ति। 'अस्ति' पृथिवी आदिमें प्रविष्ट होकर उसीमें घुल-मिल गया। इसी लिये पृथिवी आदिसे अलग कोई अस्ति नहीं दीखता। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, मन आदिमें भी परमात्माका प्रवेश हुआ है। शरीर-मस्ति, मनः अस्ति इत्यादि बोलते हैं। यह समान्य पोषण है। आत्मा के प्रवेशसे विशेष पोषण हुआ। कौनसा सम्बन्ध हुआ? इसीको तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। पुस्तकं सत्, पुस्तकमस्ति इत्यादि कहते समय सत् और पुस्तकका तादात्म्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता है। जैसे नीलं कमलंमें होता है। जो नील वही कमल है और जो कमल वही नील है। यही तादात्म्य है। अब आत्माका विशेष तादात्म्य देखो। अहं मनुष्यः—मैं मनुष्य हूं। मैं श्रोता हूं, मैं घ्राता हूं। (सूंघने वाला), प्रेक्षक हूं (देखनेवाला), रसयिता हूं (आस्वादन करने वाला), यह इंद्रिय तादात्म्य है। मैं विचारक हूं, संकल्पयिता, विकल्पयिता हूं, यह मनका तादात्म्य है। इस प्रकार तादात्म्य संबंध

होनेके बाद आत्मा मन इन्द्रिय शरीरमें घुसकर घुल-मिल जाता है। जितना अधिक तादात्म्य मजबूत होगा, उतना ही अधिक पोषण मन आदिको प्राप्त होगा। आत्माकी ताकत ही मनमें ताकत है। पूछेंगे— परमात्माके सत्के तादात्म्यमे जो पोषण मिला उससे अधिक कौन-सा पोषण आत्माके तादात्म्यसे मिलेगा? इसका उत्तर सांख्य कारिकामें है—

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्"

आत्माके तादात्म्यसे अचेतन भी शरीर इन्द्रिय एवं मन चेतन जैसे हो गये। परमात्माके तादात्म्यसे अस्ति भाति अवश्य हुआ, किंतु भातिसे भी चेतन नहीं हुआ। किन्तु अहं मनुष्यः अहं श्रोता अहं मन्ता आदिसे शरीरेन्द्रियादि तो चेतन जैसे ही बन गये। जैसे सूर्यके प्रकाशसे जल केवल प्रकाशित हुआ किन्तु अग्निके संयोगसे अग्निपर बरतनमें रखा हुआ पानी गरम भी हो गया। जबकि गर्मी पानीका धर्म नहीं है। अग्निका ही धर्म है। यही स्थिति आत्म-तादात्म्यसे शरीरादिकी भी है।

मुख्यरूपेण आत्मपोषण मनको मिलता है। मनके द्वारा इद्रिया-दिको मिलता है। अतः शरीरादि तादात्म्यको मिटावो या न मिटावो मुख्यरूपेण मनके साथ आत्माका तादात्म्य ही मिटाना हैं। उससे मनका पोषण बंद होगा तो अपने आप अन्य पोषण भी बंद होगा। मनका पोषण बंद हुआ तो काम बीज अपने आप सूखने लगेंगे। अतः वेदांत मुख्य रूपसे आत्मतादात्म्याध्यासको मिटाने पर जोर देता है। इस पोषणके बंद होने पर मनमे ज्ञानवृत्ति, कामवृत्ति आदि सभी शिथिल पड़ जाती हैं। इसी आशयसे कामका आश्रय बतानेके लिये 'मनोगतान्' विशेषण दिया।

अत एव प्रसङ्गवशात यह विचार करना भी आवश्यक है कि यह आत्मतादात्म्याध्यासकी निवृत्ति कैसे होगी, जिससे पोषण बंद

हो। उत्तर है द्रष्टा भावसे साक्षी भावमें रहना। मनमें अनेकविध संकल्प उठते हैं तो उन सबको द्रष्टा भावसे देखते जाओ। जैसे मकानमें रहकर मकानको देखते हैं वैसे शरीरमें रहकर शरीरको देखते जाओ। मकानका खंभा खराब हुआ तो सुधारो। खिड़की टूट रही है तो मरम्मत करो इत्यादि जिस प्रकार मकानसे अलग रहकर ही करते हैं न कि मकान स्वयं बनकर। वैसे शरीरमें चोट आयी, पीठ पर दर्द हुआ तो दवा करो। सिरमें दर्द है तो मलहम लगावो आदि शरीरसे पृथक होकर करो। न कि शरीर ही बनकर। सुख दु:खादिका केवल द्रष्टा बनो। दृश्यके साथ तादात्म्य न करो। "सलिल एको द्रष्टा" इस पूर्वदर्शित श्रुतिमें प्रथम सलिल बताया, फिर एको दृष्टा बताया। सलिल रूपमें तो तादात्म्यापन्न होकर जगत्पोषण करता है। किंतु वस्तुत: वह एक मात्र द्रष्टा है। द्रष्टा एक है, इंद्रिय वृत्तियां अनेक हैं -अनंत हैं। ये सभी द्रष्टाके प्रकाशमें कल्पित हैं। जैसे नाटक दीप पटमें अनेक चित्र कल्पित हैं। सिनेमाके समान अनंत जगत् चित्रको आत्म प्रकाशमें देखते जाओ। यह सबसे बडा सिनेमा है। संत महापुरुष ब्रह्मवेत्ताको थियेटरमें जाना नहीं पडता। उनके अंदर ही अंदर स्वप्रकाश चिदात्मा में कल्पित अनंत चित्र दिखाई देते हैं। इसी आशयसे श्रुतिमें सलिलके बाद 'एक:' कहा। सलिल जिसमें प्रवेश करे तदाकार होता है। ईखमें प्रवेश करने पर ईखका पोषण कर ईखके समान मधुर होता है। नीममें प्रवेश करने पर नीमको पोषणकर नीमके समान कड़ुआ होता है। आंवलेमे प्रवेश करने पर आंवलेका पोषणकर आंवलेके समान फीका होता है। इस प्रकार उपाधि भेदसे अनंताकार होता है। परंतु वस्तुत: पानी एक है। एकाकार है। इसी प्रकार आत्मा मनमें प्रवेशकर मनका पोषण कर संकल्प विकल्पादि आकार होता है। इंद्रियोंमें प्रवेशकर इंद्रिय पोषण कर दर्शन स्पर्श आदि आकार होता है। वैसे अनेकाकार भले हो किंतु वस्तुत: एक है, एकाकार है

सलिलवत् निर्मल है। वह केवल द्रष्टा है। वृत्तियोंका प्रकाशक है। प्रकाश्य वृत्तिरुप नहीं है, और न वृत्तिमान् ही है।

मैं विचारमें पड़ा, संकल्प-विकल्प करने लगा, ऐसा भी बोलते हैं। मेरे मनम विचार आया, मेरा मन संकल्प विकल्प करने लगा ऐसा भी बोलते है। इनमें कौनसा ठीक है ? मुझमें विचार या मेरे मनमें विचार ? कभी-कभी मुझको और मनको एक करके और कभी-कभी अलग करके अनुभव करते हैं। 'मेरे मन मनमें विचार आया' यह ठीक है, ऐसा आप कहेंगे। किंतु अभी सुधार करना बाकी है। मैं विचार कर रहा हूं यह पूरा संस्कार है। 'मेरे मनमें विचार' है यह आधा संसार है। वेदांत तो थोड़े-थोड़े में समझाता है। मुझमें विचार कहने पर तादात्म्याध्यास हुआ। यह पूरा संसार है। 'मेरे मनमें विचार है' यहां मनमें विचार, इतना ठीक है किंतु 'मेरे' इतना गलत। मेरे कहने पर संसर्गाध्यास होता है। आत्माका कौनसा मन होता है ? जैसे वृक्षकी डाली होती है, वैसे आत्माका मन होता है क्या ? यहां संसर्गाध्यास है। स्वस्वामी भाव संसर्गका यहां अध्यास है। इसीलिये विचार सागर आदि प्राथमिक ग्रंथोंमें भी यही सिखाया है—मैं शरीर नहीं, मेरा शरीर नहीं, मैं इंद्रिय नहीं, मेरी इन्द्रिय नहीं, मैं मन नहीं, मेरा मन नहीं इत्यादि। आप केवल द्रष्टा हैं, न आप दृश्य हैं और आपका ही कोई दृश्य है। इस प्रकार साक्षीभावमें रहकर मनोवृत्तियोंका दर्शन करते रहो, द्रष्टा बने रहो। तब श्लोक का अन्वयार्थ इस प्रकार होगा कि मनोगतान्, न तु आत्मगतान् सर्वान् कामान् अतएव द्रष्टृभावेन स्थितो दृश्यरूपेण पश्यन् प्रजहाति—काम मनमें स्थित है, आत्मामें नहीं, अतएव दृश्य है, आत्मा द्रष्टा है, उस वास्तविक द्रष्टृभावमें रहकर बीज एवं सूक्ष्म सहित समस्त कामनाओं को जब मनुष्य छोड़ता है तब स्थितप्रज्ञ होता है।

मनोगतान् का यह मुख्य भावार्थ हुआ। एक दूसरा भीं तात्पर्य है, वह भी साथमें समझ लो। काम विषयोंको भी कहतें हैं– कामनाओंको भी कहतें हैं। "कामकामी" ऐसा आगे प्रयोग आयेगा। विषय भी दो प्रकारका है। एक वाह्य विषय है, दूसरा मानस विषय है। जब विषयोका संकल्प करते हैं तब मनमें विषय आने हैं। फलको सोचते ही मनमें मानसिक फल आ जाता है। पुत्रको सोचते ही मनमें मानसिक पुत्र आ जाता है। धनको सोचते ही मनमें मानसिक धन आता है। इनमें बाह्यविषयों के त्यागका अधिक महत्व नहीं है। परित्याग असलमें मनोगत विषयोंका करना चाहिये। बाह्य विषयोंको त्यागा और मनमें विषय चिंतन करते रहे तो भगवान स्वयमेव तृतीयाध्यायमें कहेंगे—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

बाह्य विषयोंको त्यागकर जो मनमें विषय चिंतन करता रहता है वह विमूढात्मा है, मिथ्याचार है। अतः मुख्य रूपसे मानस कामों-को और काम विषयक कामनाओंको त्यागना चाहिये। इसके लिये भी मनोगतान् कहा।

भगवान आद्यशंकराचार्यने इस श्लोकपर दूसरे प्रकारसे व्याख्या की है। काम शब्दका यहां एषणा अर्थ है। सर्वान् कामान्का तीन एषणा अर्थ है। वृहदारण्यक उपनिषत्‌में मंत्र आया है –

एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते।
किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति।
ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च
व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति

इस ब्रह्म तत्वको समझनेवाले पहलेके विद्वान प्रजा अर्थात् पुत्र तथा उपलक्षणतया वित्त एवं लोककी कामना नहीं करते थे। यहां

'कामयन्ते' इस प्रकार कामका उल्लेख है। वह काम क्या है— पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा। उन्हीं तीन कामोंको यहां बताया।

इसमें प्रथम पुत्रैषणा है। पुत्रैषणा कैसे होती है? कहांसे प्रारम्भ है? कहां तक जाता है? इस विषयमें भी बृहदारण्यकमें आभास मिलता है।

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"

पहले यह आत्मा एक ही था। यहां परमात्माकी बात नहीं कर रहें, किन्तु उत्पन्न बालक-बटुकी बात करते हैं। बालक बटु प्रथम पूर्ण था-मस्त था। उसको किसीका फिकर नहीं, चिन्ता नहीं। जैसे पूर्वमें हमने बताया कि बाल गोपाल। किसी वस्तुका अभाव उसके दिमागमें नही था। जो मिला सो खाया, खूब खेला। उसके बाद पहले जमानेमें पढ़नेके लिये गुरुकुलमें जाते थे। गुरुकुलमें भी काई अभाव खटकना नहीं था। विद्या अध्ययन किया, भिक्षान्न खाया, गुरुसेवाकी और मस्त पड़े रहे। किन्तु गुरुकुलसे जहां समावर्त्तन हुआ वहांसे कुछ अभाव होने लगा और अभावकी पूर्त्तिके लिये कामनायें शुरू हुई।

"सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय"

प्रथम जायाकी कामना हुई। जाया माने पत्नी। पत्नीके बिना अपने आपको अधूरा मानने लगा। बचपनकी मस्ती खतम हो गयी। तीव्र अभिलाषा बढ़ती गयी, उसको शून्य-शून्य-सा दीखने लगा। वह अपने आपको अपूर्ण मानने लगा। मंत्रमें बताया है—

"अकृत्स्न एव नात्मन्मन्यते"

अकृत्स्नका अर्थ है अधूरा, अपूर्ण। इस शून्यताकी पूर्त्ति किससे होगी।

"स्त्रियाऽयमाकाशः संपूर्यते"

स्त्रीसे, पत्नीसे इस आकाशकी-शून्यताकी पूर्त्ति होती है। इस शून्यताकी हो पूर्ति पाणिग्रहण है। विवाह होनेके बाद अपने आपको पूर्ण मानने लगा, कृतार्थ मानने लगा। चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, विवाहसे पूर्ण होते हैं। परन्तु यह पूर्णता बहुत दिनों तक टिकी नहीं रहती। विवाहके बाद दो या चार साल, अधिकसे अधिक आठ-दस सालकी प्रतीक्षा हो सकती है। फिर एक दूसरा अभाव आ खड़ा होता है। वह अभाव है पुत्रका। विवाहके दो तीन साल बाद ही पुत्रेच्छा शुरू होनी है। आठ-दम साल तक यदि पुत्र न हुआ तो बड़ा फिक्र, भारी व्याकुलता होने लगती है। मुझमें कोई बिमारी तो नहीं है कोई न्यूनता तो नहीं है, पत्नीमे काई न्यूनता तो नहीं है। डाक्टर वैद्योंके पास परीक्षणार्थ जाते हैं। ज्योतिषी पण्डितोंके पास दोड़ते हैं। जपियों-तपियोंसे अनुरोध करते हैं। सन्तों-महन्तोंके चरणोंकी शरण लेते हैं। यह आजकी बात नहीं है। पहलेसे ही ऐसा चला आ रहा है। राजा दशरथको पुत्र नहीं हुआ तो उन्होंने पुत्रकामेष्टि याग महर्षि वसिष्ठजीसे कराया था। श्रीमद्भागवतके महात्म्यमें आत्मदेवकी कथा आती है। पुत्रके अभावमें वह व्याकुल होकर कहता है मेरा जीवन बेकार जा रहा है। मेरा कमाया हुआ धन अब कौन खायेगा। मेरे मकानकी एक-एक ईंट रो रहा है। बादमें इसे कौन हरा भरा रखेगा? कौन रौनक बनाये रखेगा? मैं पेड़ लगाता हूं उसपर फल भी नहीं आते। पेड़ भी सोचते हैं कि फल लगेगा तो खायेगा कौन? वह जगलमे जाकर आत्महत्या तक करनेको तैयार होता है। एक सन्यासी महात्मा वहां आये तो उनके चरणोंमें पकड़कर गिड़गिड़ाता है। सन्यासी महाराज तत्त्वज्ञानकी बात करने लगे तो गलेसे नीचे ही नहीं उतर रही थी। वह बोलने लगता है कि महाराज! यह सब तत्त्वज्ञान शुष्क है-वृथा है। मुझे पुत्र प्राप्त हो एसा कोई उपाय बताईये। अन्यथा मैं आत्महत्या

करूँगा। पुत्र जिनको हो गया, यह कथा उनको प्रतीत नहीं होगी। क्योंकि वे पूर्ण हो गये। जिनको पुत्र नहीं है, उनकी स्थिति बड़ी दयनीय होती है। उनको पूरा घर तो क्या, पूरा जगत ही शून्य-शून्य दीखने लगता है। अस्तु, पुत्र हो गया तो प्रथम पूर्णताका अनुभव जरूर होगा। किंतु वह भी चिरस्थायी नहीं होता। एकही पुत्र हो तो अनेक चिन्ताये होने लगती हैं। एकही लड़का है। भगवान न करे। कुछ उसको हो गया तो? द्वितीय तृतीयादि पुत्रोंकी अभिलाषा होती है। सरकार जनसंख्या कम करनेके लिये कह रही है। बर्थ कंट्रोल करो। स्वयं आप भी इसका समर्थन करेंगे। किंतु यह सब अपने घरके लिये नहीं। दूसरोके घरके लिये। अपने घरके लिये यही सोचते हैं कि दो की जगह चार हो जाय तो क्या फरक पड़ता है। खैर, दो, चार जितने पुत्र हुए तो क्या पूर्णता हुई? नहीं। मैं डलहौजी गया था। वहां एक नीचे डलहौजी है और दूसरा ऊपर डलहौजी है। नीचे डलहौजीमें एक घरमें निमन्त्रण था। भोजन करने गया। भोजनोत्तर माता रोने लगी। हमने पूछा—क्या हो गया माई? कोई नुकसान हुआ धनका या और किसीका? वह बोलने लगी—यह मेरा लड़का है। शादी हुए आठ साल हुए लेकिन अभी तक इसको कोई बच्चा नहीं हुआ। हाय! हाय! पुत्र तो हो गया है अब पौत्रके लिये फिकर है। हमने कहा—तेरा तो लडका हुआ। अब पौत्रकी फिकर क्यों करती है? वह बोलने लगी—हमारा वंश कैसे चलेगा? मैंने कहा—यह पौत्र तक नहीं प्रपौत्रादि पूरे वंशका फिकर कर रही है। तब यह अपूर्णता तो अनन्त है। इसका कभी अन्त नहीं होगा। इसीको श्रुतिमें पुत्रैषणा बतायी है। पुत्रैषणासे प्रथम जायैषणा फिर पुत्रैषणा प्रपौत्रैषणा और वंशैषणा ये सभी परम्परया आ जाती है। जिसका कोई अन्त नहीं आता। प्रजहाति यदा कामान्‌से यही बताया कि प्रथम

यह पुत्रैषणा परम्परा छूट जाय। यह मैं सामान्य अर्थ बता रहा हूं। आगे विशेषार्थ कहूंगा।

पुत्रैषणासे बढ़कर वित्तैषणा है। वित्तैषणा माने धनकी एषणा। पुत्रैषणासे बढकर इसलिये कहते हैं कि पुत्रैषणाका प्रायः अन्त होता है। डलहौजीवाली माईकी बात अलग है। साधारण रूपसे दो-चार लड़के हुए। और लड़केका भी लड़का हुआ तो काफी सन्तोष हो जाता है।

"तनये तनयोत्पत्तिस्तस्य स्वर्ग इहैव हि"

पौत्रमुख देखकर ही प्रसन्नता हो जाती है। एक माता है, उसका एक लड़का है। लडका काफी ऊमरका हो गया है, फिर भी उसको सन्तान नहीं है। वह कहती है, मेरा लड़का तो है। अब उसको लडका हो, न हो, उसकी फिकर वह करें। मैं क्यों करूं? राम जाने वह हृदयसे बोलती है या बाहरसे। जो भी हो, बहुत दूर तक पुत्रैषणाका संचार नहीं होता। परन्तु इससे काफी आगे वित्तैषणा है। इसमें जितना मिलता जाय उतना ही अभाव बढ़ता जाता है। इसकी पूर्त्ति कभी भी नहीं होती। नीतिकारोंका कहना है—

निः स्वोवष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपः
कोटिं सोऽपि स चापि राजपदवीं चक्राधिपत्यं स च।
सम्राडिन्द्रपदं प्रजापतिपदं शक्रः स विष्णोः पदं
विष्णुः शम्भुपदं स योगनिरतश्चान्यत् पदं वाञ्छति॥

जिसके पास धन नहीं वह कहता है—सौ रुपये मिल जायँ तो भी बहुत है। किन्तु सौ दो सौ मासिकवाले हड़ताल कर रहे हैं और कह रहे हैं हमें सहस्र चाहिये। हजार दो हजार कमानेवाला व्यापारी कहता है लखपति न बने तो क्या फायदा? एक व्यक्ति सट्टाबाजी करता था। हमने कहा कोई अच्छा धन्धा करो। उसने कहा—दो-ढाई लाख कमाकर अच्छा धन्धा शुरू करूंगा। सट्टा छोड़

दूंगा। तीन-चार लाख रुपये उसको दो सालमें मिले तो मैंने कहा—अब इस जुएको छोड़ो। उसने कहा--दस पन्द्रह लाख कमाऊं तो बात है। भगवत् कृपामे दस-पन्द्रह लाख भी उसने कमाया। फिर तो बोलनेकी हिम्मत हमें भी नहीं रहा। क्योंकि पहले वह सामान्य व्यक्ति था तो कहना आसान था। अब तो वह लखपति सेठ हो गया। पच्चीस-तीस लाख तक वह गया। फिर जो मार पड़ी तो खरीदा बंगला भी बिक गया तब वह ठंडा हो गया। यहां भी यही बताया—लक्षं सहस्राधय: कोटिं सोऽपि। करोड़पति होनेपर फिर राजा बननेका कोशिश पहले जमानेमे करते थे। राजा बनने पर भी तृप्ति कहां होती है। वह चक्रवर्ती बननेकी कोशिश करता था। सर्वभौम चक्रवर्तीजो बनता था उसकी दृष्टि पृथिवीसे उठकर स्वर्गलोककी ओर होने लगती थी। महाराज युधिष्ठिरने प्रथम राजसूय यज्ञ किया बादमे अश्वमेध।

"राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत"

ऐसा वेदमंत्रमें लिखा है। स्वराज्यका अर्थ है स्वर् राज्य-स्वर्ग-राज्य। युधिष्ठिर जैसे महापुरुषोंके भी मनमें स्वाराज्य कामना हुई तो कल्पना कर सकते हैं कि यह नीतिवचन कितना यथार्थवादी है। इससे आगे जो स्वर्गमें राजा इंद्र बनता था वह वहांसे भी आगे ब्रह्मा बननेकी कोशिश करता। यहां भी समाप्ति नहीं है। ब्रह्माजी कहते हैं जिसके नाभि कमलमें मैं प्रकट हुआ वह मुझसे बड़ा है। वह विष्णुपद मुझे प्राप्त हो। और विष्णु बनने पर कामना पूर्ण होती है क्या? नहीं विष्णु कहते हैं सर्वसंहारकारी महेश्वर शिव हैं। मैं शिव बनूं। परन्तु शिवजी भी पता नहीं, योग समाधिको लगा बैठे हैं। और भी आगे कोई पद होगा जिसकी चाहमें शंकर भी भजनमें लगे हैं। तृष्णा का कहीं अंत नहीं। यही वित्तैषणाका उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर स्वरूप है।

तीसरी लोकैषणा है। यह पुत्रैषणा एवं वित्तैषणा दोनोंसे आगे है। बड़े-बड़े महापुरुषोने अपने कुटुंबको छोड़ा, पुत्रादिको छोड़ा और गुफाओं और जंगलोंकी शरण ली। कोई आश्रममें रह रहा है, दूसरा मठमें। तीसरा गंगा किनारे झोंपड़ीमें, चौथा वसिष्ठ गुफामें, विश्वामित्र गुफामें। पुत्रैषणा और वित्तैषणा छोड़ी, किंतु लोकैषणा नहीं छूटा। लोग मुझे अच्छा समझें। मेरा मान सम्मान करें। यही लोकैषणा का सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थ हम आगे कहेंगे। द्राविड़श्वर राजा इन्द्रद्युम्न राज्य छोड़कर तपमें बैठा था। उसी रास्ते अगस्त्यजी आये तो राजा उठ खड़े नहीं हुए। इसीको लेकर अगस्त्यजी नाराज हो गये। श्राप दिया तुम हाथी बनो। वही सरोवरमें बक्रके मुहमें आया गजेन्द्र है। इसीकी गजेन्द्र मोक्ष कथा है। अगस्त्यजीने श्राप क्यों दिया। राजा उठ खड़ा नहीं हुआ। क्या यह लोकैषणा नहीं है? अर्थात् ऋषिमुनियोंके मनमें भी लोकैषणा था। ऋषिमुनियों पर हम कुछ नहीं बोल रहे हैं। हो सकता है कि वे लोक शिक्षार्थ श्रापादि देते रहे हों। किंतु लोकैषणा गंध वहां आता ही है। दूसरी बात यह है कि ये तीन एषणायें बुरी हैं यह हम यहां कह नहीं रहे हैं। ये एषणायें नहीं करनी चाहिये यह भी नहीं कह रहे हैं। यह प्राणीमात्र का स्वभाव है। स्थितप्रज्ञ बनना हो तो इन्हें छोड़ना होगा यही यहां बता रहे हैं। सभी पुत्रैषणा छोड़े तो यह मानव परंपरा कैसे चलेगी? वित्तैषणा छोड़े तो जीवन निर्वाह कैसे होगा? लोकैषणा न हो तो शासनादि कौन करेगा? बात यह है कि इन सबकी सीमा है। एक सीमाके बाद छोड़ना चाहिये। पहलसे छोड़े तो अति उत्तम। बड़े संतोंमें भी लोकैषणा देखी जाती है तो उसे स्वभाव मात्र समझो। जितना त्याग उन्होंने किया उतनेका कदर करो। जो नहीं त्यागा गया उसे स्वभाव समझो। उसेभी त्यागनेका प्रयास जारी रहना चाहिये, इतनेमें तात्पर्य है। इसीलिये अधमोत्तम विभाग किया गया है—

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥

केवल धनके पीछे भागनेवाले अधम होते हैं। मध्यम दर्जेके लोग धन और मान, दोनों चाहते हैं। उत्तम पुरुष मानमात्र चाहते हैं। मान ही महापुरुषोंका धन है। मानके अभिलाषाको उत्तम बताया है। यह व्यवहार दृष्टिसे है। स्थितप्रज्ञकी दृष्टिसे सभी एषणायें त्याज्य हैं।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणाकी यह सामान्य व्याख्या है। अर्थात् यह ऊपर ऊपरका अर्थ है। इसका इससे गहन शास्त्रीय अर्थ दूसरा है। वह भी समझना चाहिये। अतः दूसरे ढंगसे व्याख्या सुनिये। पुत्रैषणामें पुत्र शब्दका अर्थ पहले समझें। युत् कहते हैं नरकको। युनातीति युत्। नरक क्या करता है? प्राणियोंको पाप फल भयंकर दुःख देकर पवित्र करता है। पाप नष्ट हुआ तो अपने आप पवित्र होता है। अतएव नरकको युत् कहतें हैं। परंतु यह नरक मनुष्यको पवित्र तो करे, लेकिन मार-मार कर। एक ओपरेशन करके फोडेको ठीक दिया जाता है। दूसरा होम्योपैथिक मीठी गोलियोंसे। एक होम्योपैथिक डाक्टरने अपनी कहानीमें लिखा है कि पीठ पर फोड़ा हो गया। भयंकर ऑपरेशन होनेवाला था। किंतु होमियोपैथिक छोटी छोटी गोलियोंने ऑपरेशनसे बचाया। पुत्र शब्दका भी ऐसा ही अर्थ है। युत् नरक पवित्र करनेवाला है। प्ररंतु वह भयंकर ऑपरेशन है। उससे बचानेवाला युत् वही पुत्र है। **"पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः"** पुत्र सभी नरकोसे नहीं बचाता है, किंतु पिण्ड क्रियादिके अभावमें जो नरक पतन होता है उससे बचाता है।

"पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः"

इत्यादि गीताके प्रथमाध्यायमें ही आ गया है। पुत्रके लिये दूसरा शब्द संस्कृतमें अपत्य आया है। अपत्य माने न पतन्ति पितरो

येन पितरोंका पतन जिससे न हो, वह अपत्य है। पुत्र श्रद्धा तर्पणादि करता है, वृषोत्सर्गादि क्रिया करता है तो मृत पितर अति पातकी न हो तो नरक में नहीं पड़ते। पशु-पक्षी आदि भी नहीं बनते। किंतु पुनः मनुष्य योनिमें जन्म लेते हैं। इसी कारण मंत्रमें कहा गया है—

"पुत्रैणैवायं जय्यो लोकः"

पुत्रसे हम इस लोकको अर्थात् मनुष्य लोकको पा सकते हैं। जय्यः का जीतना अर्थ है फिर भी प्रसङ्गानुसार पाना ही अर्थ है। उपनिषदोमें 'स लोकान् जयति' ऐसे प्रयोगोंमें पाना अर्थ ही आता है। पितरः यह बहुवचन माता-पिता, पितामह, पितामही, मातामह, प्रपितामहादि अनेक पीढ़ी तकके लोगोंको ग्रहण करनेके लिये हैं। यह शास्त्रीय प्रकार से अर्थ है। लौकिक रीतिसे भी पुत्रसे इह लोक जय होगा यदि पुत्र लायक हो तो। वह अपने उत्तम कर्मोंसे वंशका मान बढ़ाता है। यश-कीर्त्ति बढ़ाता है।

एकेनैव सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना
वास्यते तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं तथा

जैसे एक ही सुगंधीयुक्त पुष्पवाले वृक्षसे पूरा जंगल सुगंधित होता है, वैसे एकही सुपुत्रसे पूरा कुल महकने लगता है। प्रह्लाद-जीकी कथामें यही बात नरसिंह भगवान ने बतायी है। प्रह्लादजीसे वरदान मांगनेका बड़ा आग्रह किया तो अंतमें प्रह्लादने यही कहा कि हे भगवन ! आपका विरोध करनेसे मेरे पिताजीकी बड़ी अधोगति होती, तो आप उनका उद्धार करें। भगवानने कहा हे प्रह्लाद यह तो वरदानके बिना ही सिद्ध है। तुम्हारे जैसे भक्त पुत्रका जहां जन्म होता है वहां इक्कीस पीढ़ी आगे पीछेके सभी तर जाते हैं। यही पुत्र शब्दका भी अर्थ है। तो पुत्रैषणाका अर्थ यही हुआ—इह लोकैषणा।

दूसरी वित्तैषणा है। इसका एक अर्थ जो पहले बताया वह सामान्य अर्थ है। श्रुतिके अनुसार इसका विशेष अर्थ है। वृहदारण्यकमें लिखा है :—

"वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय"

वित्तैषणाका प्रथम अर्थ है—वित्तफल कर्मकी एषणा। वित्तके बिना कोई भी वाह्य कर्म सम्भव नहीं है। तीन मुख्य कर्म आगे बतायेंगे—

"यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्"

यज्ञ, दान और तप ये तीन कर्म हैं। इनमें यज्ञ करनेके लिये वित्त चाहिये। घी, जौ, लकड़ी, बरतन, चौकी आदि सभी वित्त साध्य हैं। ब्राह्मणोंको दक्षिणा देनेके लिये वित्त चाहिये। यज्ञ मंडप तैयार करनेके लिए वित्त चाहिये। हमने प्रयागराज कुंभमें देखा, बड़ा भारी यज्ञ मंडप बना था। लाखों रुपये खर्च करके बनाया गया था। लक्षचंडी, कोटिचंडी आदिमें अपार धन खर्च होता है। इस प्रकार यज्ञ वित्त साध्य है। दान भी वित्त साध्य है। वित्तका दान होता है। हस्तिः हिरण्यगवाश्वादि सभी वित्तके अंदर हैं। 'गोधन' शब्द प्रसिद्ध है। पहले समयमें धन दान, वस्त्रदानके समान गोदान, अश्वदान आदि भी करते थे, तभी प्रसिद्ध हुआ—

"गजतुरगसहस्रं गोकुलं कोटि दद्यात्"

ये सभी दान वित्त साध्य हैं। तप तो बाह्य भी है, मानस भी है। देवद्विज गुरुप्राज्ञपूजनादि हो तो वह भी वित्तसाध्य ही है। मानस कर्मके लिये आगे बताया जायेगा। तो वित्तका सीधा अर्थ होगा—वित्तसाध्यकर्म। किन्तु कर्म स्वयं एषणाविषय नहीं होता। अत अर्थको और आगे बढ़ाना होगा—वित्तसाध्यकर्मसाध्यपितृलोककी एषणा वित्तैषणा है।

"कर्मणा पितृलोक:"

ऐसा श्रुतिमें लिखा है। कर्मसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। पितृलोकका यहां यमलोक अर्थ नहीं है। स्वर्गलोक ही पितृलोक है। यज्ञयागादिसे स्वर्ग प्राप्ति प्रसिद्ध है—

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत

अग्निहोत्र ज्योतिष्टोमादि ही तो कर्म है। निषेकादिश्माशानान्त समस्तनित्य नैमित्तिक कर्म-कर्म शब्दार्थ है। इनका फल स्वर्ग बताया है तो वही पितृलोक हुआ। सारांश यही हुआ कि वित्तैषणाका अर्थ स्वर्गैषणा है। "अथ कर्म कुर्वीय"से ज्यातिष्टोम अग्निष्टोमादि सभी कर्म आते हैं।

तीसरी एषणा–लोकैषणा है। यह उपासनाका फल है। उपासना करनेसे जो उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही सामान्यत: लोक शब्दार्थ है। पुराणोंमें सालोक्य मुक्ति प्रसिद्ध है। स्वर्गलोक आदि पहुंचनेको सालोक्य नहीं कहते। उपनिषत्में कहा गया है :—

"विद्यया देवलोक:"

यहां विद्याका अर्थ उपासना बताया है। उपासना करनेसे उत्तम लोकोंकी प्राप्त होती है। कृष्णोपासनासे गोलोक प्राप्त होता है। शिवोपासनासे कैलासलोक प्राप्त होता है। पुराणोंमें इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। उपनिषदोंमें एक ही नामसे काम ले लिया। वहां ब्रह्मलोक एक ही नाम आता है। एक ही देव है। ब्रह्मा, विष्णु आदि नाम रूप भेदसे उसीकी उपासना की जाती है तो फल भी एक ही लोक है। ब्रह्मलोक, विष्णु लोकादि नामरूप भेद मात्र है।

इस प्रकार तीन एषणाओं का शास्त्रीय स्वरूप समझना चाहिये। पुत्रैषणाका अर्थ है—मर्त्यलोकैषणा। वित्तैषणाका अर्थ है—स्वर्गलोकै-

षणा और लोकैषणाका अर्थ है– ब्रह्मलोकैषणा। श्रुतिमें इन एषणाओंका त्याग बताया—"**एतद्ध स्म वै विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते**" यहां प्रजा उपलक्षण है। प्रजा माने पुत्र। उपलक्षण रूपेण वित्त एवं लोक भी ग्राह्य है। "त्रिविधमपि लोकं न कामयन्ते" ऐसा अर्थ है। वे विद्वान क्या कहते हैं—"**किं प्रजया करिष्यामः**" अब हमारा प्रजा और वित्तसे एवं लोकसे क्या प्रयोजन ? इनसे हम क्या करेंगे ? क्यों ? इसलिए इन सबके बदले हमें एक लोक प्राप्त हुआ। वह क्या ?—"**येषां नोऽयमात्मा अयं लोकः**" जिन हमारे लिये यह आत्मा ही अयं लोक है—इह लोक है। यह भी उपलक्षण है। इह लोक, स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोक ये तीनों हमारे लिये वह आत्मा ही है। जिसने आत्मलोकको प्राप्त किया उसने अन्य सभी लोकोंको प्राप्त किया। उसके लिये प्राप्तव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है—

"**नानवाप्तमवाप्तव्यं**"

आत्माको जिसने प्राप्त किया उसके लिये अप्राप्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, जो प्राप्तव्य हो। क्योंकि सारा जगत् आत्मासे ही हुआ है। अतः आत्मस्वरूप ही है। आत्म प्राप्तिसे सर्व प्राप्त है।

"**आत्मत आशा आत्मतः स्मरः**"

आत्मासे सब कुछ हुआ। वह आत्मा स्वरूप है फिर भी अप्राप्त है। उस आत्माकी प्राप्तिके लिये प्रयास करना चाहिये। वह प्राप्त हुआ तो सब कुछ प्राप्त होगा। वही प्राप्त प्राप्तव्य है, कृतकर्तव्य है, ज्ञात ज्ञातव्य है। इसालये श्रुतिने '**येषां नोऽयमात्मायं लोकः**' बताया।

स्थितप्रज्ञ लक्षणमें शांकरभाष्यानुसार 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्'का यही एषणात्रय त्याग अर्थ है। एषणाकी व्याख्या जो प्रथम-की पुत्रकी इच्छा, धनकी इच्छा एवं मान सम्मानकी इच्छा ता पहले जमानेमें अति सामान्य मानी जाती थी। उस समय यज्ञादि कर्मका

एवं इह परलोकादिका विशेष महत्व था। अतः शास्त्रीय व्याख्या द्वितीय अधिक सुसंगत है। फिरभी वर्त्तमान समयमें लोक परलोकादिके लिये ज्योतिष्टोम अग्निष्टोमादि कर्म एवं औपनिषद उपासना के लुप्तप्राय हो जानेसे सामयिक व्याख्या प्रथम दर्शितही है। इस शांकरभाष्यानुसारी व्याख्यामें भी मनोगतान् को पूर्ववत् ही समझना चाहिये।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः। स्थितप्रज्ञ कहते हैं, जिसकी प्रज्ञामें स्थिरता हो। निश्चयात्मकता हो। "**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च**" न हो। प्रज्ञामें अस्थिरता लानेवाली कामना है। उस कामनाको कैसे हटावे ? इसीके उत्तरके रूपमें मनोगतान् विशेषण कहा। कामनाओंका आश्रय मन है। तब यह अर्थतः सिद्ध हो गया कि कामना नाशका प्रथम उपाय आश्रय नाश है–मनोनाश है। आश्रयनाशसे अश्रित नाश होता है। बांस ही नहीं रहेगा तो बांसुरी कहांसे बजेगी ? परन्तु मनको कैसे मारा जाय ? यह प्रश्न उठा। उत्तर दिया–मन एक पौधा है। इसको पोषण देना बन्द कर दो। जिससे मनको बल मिलता है, उस सलिल स्रोतको बन्द कर दो। मनकी मजबूती दो प्रकारकी होती है। एक ग्राह्य है, दूसरी त्याज्य है। घरमें स्त्री है। मजबूत होना चाहिये–कार्य कुशल होना चाहिये। हरेक व्यवहारको कुशलतापूर्वक निभानेकी सामर्थ्य उसमें होना चाहिये। परन्तु यदि पूरे घरवालोंको दबाकर रखे, सब पर हावी होने लग जाय। पति, ससुर, दादा सबको डांटे-फटकारे और स्वयं पर किसीका अंकुश न माने ऐसी मजबूती बेकार है–यह त्याज्य है। "**स्त्रीनायकं कुलं नष्टं**" यही उक्ति वहां चरितार्थ होगी। वैसे मनमें सत्कर्म करनेकी मजबूती चाहिये। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि व्रत पालन करनेकी मजबूती होनी चाहिये। परन्तु शक्ति देनेवाले आत्माको ही खींचकर विषयोंमें पटकनेकी मजबूती निरर्थक है! यह मनका औद्धत्य है। तदर्थ पोषण उसे नहीं मिलना चाहिये। यह मजबूजी और पोषण उसको आत्मासे मिलना है।

सोभी आत्माके तादात्म्यसें। उस तादात्म्याध्यासका निरास करना स्थितप्रज्ञ होनेमें परम साधन है।

इस पर प्रश्न हुआ कि आत्माका तादात्म्य मनमें हुआ क्यों? इसमें मूल कारण क्या है? इसको हम कैसे मिटा सकते हैं? तथा प्रज्ञाको स्थिर करनेके लिये साधनान्तर भी क्या है? इन सबके उत्तरमें तृतीयपादमें कहा जा रहा है। मनमे आत्माका तादात्म्य क्यों होता है? इसलिये कि वह कुछ पानेकी कोशिशमें है। उसमें कुछ अभाव हो रहा है। धनकी, यशकी, धंधे आदिकी जहां न्यूनता होती है, उसे बढ़ाना चाहते हैं तो दूसरोंसे संपर्क करते हैं। व्यापारी व्यापारीसे संपर्क साबित करता है। उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियोंसे भी नौकरी चाहने वाला आफिसर आदि आदिसे सम्पर्क स्थापित करता है। इसी प्रकार इस आत्माने भी किसी अभावकी पूर्तिके लिये मनसे सम्पर्क स्थापित किया है। किस चीजका अभाव है? सुखका अभाव है। और वह कहांसे देख रहा है? विषयोमें देख रहा है। किंतु विषयोंसे साक्षात् संपर्क होना संभव नहीं है। अतः दूसरोंके द्वारा संपर्क कर रहा है। जैसे मुख्यमंत्रीसे मिलनेके लिये उसके सचिवसे पहले मिलते हैं। सचिवसे मिलनेके लिये उसके सम्बन्धित मित्रोंसे सिफारिश कराते हैं। वैसे यहां भी विषयोंसे संपर्क करनेके लिये इन्द्रियोंसे संपर्क आवश्यक है। इन्द्रियोंसे संपर्क करनेके लिये मनसे सम्पर्क आवश्यक है। न्यायशास्त्रमें लिखा है :—

> आत्मा मनसा संयुज्यते। मनः इन्द्रियैः।
> इन्द्रियाण्यर्थैः। तदा विषयप्रत्यक्षं भवति॥

आत्मा प्रथम मनसे संयुक्त होता है। मन इन्द्रियोंसे संयुक्त होता है। इन्द्रियां विषयोंसे संयुक्त होती हैं। तब शब्दादि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यहां ध्यान रखना चाहिये कि शृङ्खलाके (जंजीरके) समान परम्परा संबंध मात्र यहां नहीं है। शृङ्खलामें पहली कड़ीका दूसरी कड़ीसे, दूसरीका तीसरीसे, उसका चौथीसे सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार अन्तिम कडीका बन्धनीय हाथी आदिसे सम्बन्ध होता है। गौ, हाथी आदिसे पहली कड़ी या दूसरी तीसरी आदि कड़ियोंका सम्बन्ध नहीं रहता। क्या इसी प्रकार यहांभी आत्मा एक कड़ी, मन दूसरी कड़ी, इन्द्रियां तीसरी कड़ी, इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध मात्र है ? नहीं। उन कड़ियोंके साथ आत्माका साक्षात् सम्बन्ध भी होता है। मनसे तादात्म्य हुआ तो मैं सोच रहा हूं, मैं संकल्प-विकल्प कर रहा हूं, ऐसा अनुभव हुआ। इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे मैं श्रोता, द्रष्टा, घ्राता इत्यादि अनुभव हुआ। इसके बाद विषयोंके साथ भी तादात्म्य हो जाता है। केवल विषय दूर-दूर नहीं रहते। उनके साथ सम्बन्ध होना है। सूर्यको देख रहा हूं तो आप समझते हैं, सूर्य दूर है आप दूर हैं। नहीं। सूर्यके साथ भी तादात्म्य होता है। सूर्याकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और सूर्यावच्छिन्न चैतन्य एक हो जाते हैं, ऐसा वेदांत प्रक्रिया ग्रंथोंमें बताया है। "मैं सूर्यको देख रहा हूं" बोलते समय सूर्यका देखनेके साथ तादात्म्य और देखनेका 'मैं' पदार्थके साथ तादात्म्य अनुभवमें भा आता है। उसी अनुभवको प्रक्रियामें समझाया। अद्वैतसिद्धिकी व्याख्या गौडब्रह्मानंदीमें लिखा है—

"चित्तादात्म्यमेव विषयत्वं"

सूर्य विषय है, इसका अर्थ है आत्मचैतन्यके साथ तादात्म्य हुआ। किसी भी वस्तुको आत्मसात् किये बिना अन्दर दर्शन कैसे हो सकता है ? यह सब तादात्म्य क्यों किया गया ? विषयोंमें इसने सुख देखा, उसे पीनेके लिये। तब तो वह सब ठीक ही हुआ होगा। तादात्म्य स्थापित करना उचित ही हुआ होगा ? नहीं। क्यों ? एक बात कि आत्मामें सुखकी न्यूनना हो तो उसको पानेके लिये दूसरी ओर झांकनेकी जरूरत हो। परन्तु आत्मामें सुखकी न्यूनता नहीं है। यहां तो आनन्दका भण्डार भरा हुआ है। दूमरा कारण यह है कि विषयोंमें यदि सुख होता तो उनसे सम्पर्क करना युक्ति-युक्त होता। परन्तु विषयोंमें सुखका अभाव है। तब यही प्रश्न होगा कि आत्मामें

यदि आनन्दका भण्डार भरा हो तो आनन्द अनुभवमें क्यों नहीं आ रहा है? और विषयोंमें सुख न हो तो प्रतीत क्यों हो रहा है। जिनके लिये लोग मर मिटनेके लिये भी तैयार होते हैं। उत्तर यही है कि आत्मानन्द अज्ञानावरणसे आवृत्त हानेसे दीखता नहीं और विषयोंमें आत्मानन्दका प्रतिबिब पड रहा है तो वहां सुख दीख रहा है। जैसे दृष्टांत प्रसिद्ध है कि पेड़पर किसी चीलने रानीका हार फल समझकर उठा लाकर रख दिया तो किसी राहगीरको वह रत्न झीलमें दिखाई देने लगा। झीलके तलमें रत्न चमकता हुआ नजर आया तो उसे उठानेके लिये वह बार-बार प्रयत्न करता है। किन्तु जलके पास पहुंच जाता है और उतरते ही जल हिलने लगता है तो गायब हो जाता है।

विषयोंमें सुख आभासमात्र है-कल्पनामात्र है, वास्तविक नहीं है। इस बातका प्रथम निश्चय करना चाहिये, जो प्रज्ञास्थैर्य चाहता है। लोग शब्दादि विषयोंमें सुख मानते हैं। परन्तु वस्तुतः वहां नहीं है। रेडियो खोला तो संगीतकी आवाज आ रही थी। एक गवैया बैठा था, मधुर-मधुर भैरवी आलाप प्रातः चल रहा था। अमृतके समान उसमें से स्वर रस माधुरी निकल रही थी। उस माधुर्यमें वह झूमने लगा। अपनेको मानने लगा, आज मेरे कान सफल हो रहे हैं। इतनेमें लड़का आया और रेडियोका कान ऐंठने लगा और सिलोन स्टेशन लगाया तो सिनेमाका संगीत आने लगा। गवैयाका मानो सर्वस्व लुट गया। वह आगंतुक था, कुछ बोल नहीं सकता था। इधर लड़का मुंहसे पि-चा पी-चा आवाज निकालकर ताल मिलाने लगा और आनन्द लूटने लगा। इधर गवैये को तो कर्णशूल लगने लगा। अब हम विचार करें कि किस शब्दमें सुख है। आप किसी गवैयेसे, शास्त्रीय सगीतवेत्तासे सिनेमाके गानेके विषयमे अभिप्राय पूछ लीजिये। एक ही उत्तर मिलेगा—इन लोगों-ने गान-विद्याका सत्यानाश किया। परन्तु नवयुवक जहां शास्त्रीय

संगीत शुरू हुआ, रेडियो बन्द कर देते हैं। यह अ अ अ इ इ इ यह भी कोई गाना है ? बोलने लगते हैं। यदि गीतमें सुख वस्तुतः होता तो एक को सुखानुभव और दूसरेको असुखानुभव न होता। जैसे सूर्यका स्वभाव उष्ण हो तो एकको गरम लगे और दूसरेको शीतल मालूम पड़े ऐसा नहीं हो सकता। स्वभावका अतिक्रमण कभी नहीं होता। अतः शब्दमें सुख स्वाभाविक नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। वह कृत्रिम है-कल्पित सुख है। जिसने सुखकी कल्पनाकी उसे सुख प्रतीत हुआ, जिसने दुःखकी कल्पना की उसे दुःख प्रतीत हुआ।

काशीकी बात है। हम विश्वनाथजीका दर्शन करने रोज जाते थे। अध्ययन कालकी बात है। जब हम छोटे-छोटे थे। वहां बंगाली माताएँ गलियोंमें मिलती थीं तो "बवा" करके पुकारती थी। हमको बड़ा गुस्सा आता था। मैं ब्रह्मचारी बालक हूं ये मुझे 'बवा' क्यों कहती हैं ? मैं बूढ़ा कहांसे हो गया हूं ? खैर, शालीनताके कारण कुछ बोलता नहीं था। घूंट पी जाता था। एक रोज आश्रममें एक बंगाली महात्मा आये तो मैंने उनसे कहा कि ये बंगाली माईयां कितनी विचित्र होती हैं। महात्माने पूछा क्यों ? मैंने कहा-जहां मिल जाती हैं, वहीं 'बवा बवा' कहने लगती हैं। महात्माने कहा - इसमें क्या बदतमीजी है ? मैंने कहा-हम लोग कहाँ बाबा हो गये हैं। उन्होंने कहा—अरे, बवाका अर्थ बाबा नहीं होता। यह अतिशय प्रेम मनमें हो तो उसको अभिव्यक्त करनेका शब्द है। मैंने पूछा, इसका फिर हिंदी अनुवाद क्या है ? बंगाली महात्मा डांटते हुए कहने लगे- तुम्हारी हिंदी भाषा निर्धन है। इसका पर्यायवाची शब्द हिंदीमें नहीं है। इंग्लिशमें "डार्लिंग" तो शृङ्गार रसमें ही प्रयुक्त होता है। यह तो निर्दोष निर्मल प्रेमका बोधक शब्द है। दूसरे दिनसे विश्वनाथ गलीमें बंगाली माईयां 'बवा बवा' कहने लगी तो बड़ी खुशी होने लगी। पहले जहरकी जो घूंट लग रही थी वह अब अमृत की घूंट लगने लगी। यह सब करामात किसकी ?

शब्दकी या अंदरकी कल्पनाकी ? साधकको चाहिये ऐसा हमेशा विवेक करें कि यह जो शब्दानंद आ रहा है यह मेरे अंदरके आनंदका आभास मात्र है। शब्दमें इसकी कल्पना मात्र है।

स्पर्श पर भी विचार करो। पूष-माघमें मैं कभी-कभी लुधियाना अमृतसर आदि जाता था। बाहर कड़ाकेकी ठंडी पड़ रही थी। एक कमरेमें गया तो वहां हीटर लगा रखा था। कमरा गरम था। बड़ा आनंद प्रतीत हुआ, परंतु वही हीटर गरमीमें कमरेमें लगा रखे तो क्या होगा ? यदि हीटरके उष्ण स्पर्शमें सुख होता तो हमेशा वहांसे सुख टपकना चाहिये था, परंतु ऐसा नहीं है। गरमी में एयरकंडीशन लगाते हैं उसमेंसे आनंद निकलता है। उसमेंसे यदि सचमुच आनंद निकलता हो तो ठंढीमें भी निकलना चाहिये था। यह भी काल्पनिक सुख मात्र है। हिमालयसे एक महात्मा ठंढीमें काशी आये थे। उनको पसीना आ रहा था। जब कि हम कंबल गुदड़ी ओढ़ रहे थे। हिमालयकी ठंढीका सहन करना कल्पना की दृढ़ता मात्र है। आपको किसीने एक मुक्का मारा तो दुःख होगा, परंतु एक पहलवान को मुक्का मारो तो जैसे कोई पांव दबावे तो सुख होता है। वैसे मुक्का मारने पर उसको सुख होगा। क्योंकि अभ्यासमे उसकी कल्पका दृढ़ हो गयी। कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकारसे होता है। सायकलाजी है—मनोविज्ञान है कि दर्द है—बीमारी है ऐसी कल्पना करो तो न होने पर भी होगी। दर्द नहीं, बीमारी नहीं ऐसी भावना करो तो दर्द होनेपर भी मिटेगा। इसलिये जो मनोवैज्ञानिक डाक्टर होगा वह रोगीका रोग आधा तो मनोविज्ञानसे ही मिटा देता है। सुख है, ऐसी कल्पना करो तो सुख होगा। सुख नहीं है ऐसी कल्पना करो तो नहीं होगा। पति-पत्नीका प्रथम द्वितीयादि मिलन कितना मधुर होगा। अंग-अंगसे महान आनंद प्रतीत होगा परंतु थोड़े दिनके बादमें फीकापन आ जाता है। फिर जब पुत्र होता है तो पुत्रको गोदमे और गलेसे

लगानेमें स्वर्ग सुखकी प्रतीति होगी। किंतु धीरे-धीरे वह भी फीका होने लग जाता है। ऐकांतिक सुख किसी स्पर्शमें नहीं है, अंदरका ही उल्लास स्पर्शमें आनंद कराता है। इस प्रकार विचारके द्वारा स्पर्शसुखसे भी उपरत होना चाहिये।

रूप पर भी विचार करो। रूप सौंदर्य माधुर्य भी सुखकी कल्पना मात्र है। आभास मात्र। स्वामी विद्यारण्यजी महाराजने बताया है—

"कुणपंकामिनी मांसं योगिभिः कामिभिः श्वभिः"

एक स्त्री खूब सजधजकर आ रही थी। बड़ी सुंदर नाइलोन पोलिस्टरकी साड़ी पहने हुए थी। मुंहपर पाउडर और लिपस्टिक भी लगाये हुए थी। देखनेमें अप्सरासे भी अधिक सुंदर। किंतु किसीके मकानमें पहुंची, तो पहुंचते ही कुत्ता भौंकने लगा—काटने दौड़ा। कुत्ताको लिपस्टिक और पाउडरसे क्या मतलब? उसकी दृष्टिमें क्या है? एक मांसका पुतला है। अनधिकृत रूपसे यह कुछ लेने आया है समझकर काटने दौड़ता है। यदि उस रूपमें सुख होता तो कुत्ता काटने ही नहीं दौड़ता, परंतु कोई कामी पुरुष है, वह उसके रूप सौंदर्यको देखकर मुग्ध हो रहा है। आंखोंका कृतकृत्य मान रहा है। बार-बार देखनेकी चाह कर रहा है। तीसरा एक योगी संत महात्मा देख रहे हैं। उनकी दृष्टिमें वह कुणप से अधिक महत्व नहीं रखता। एक पीतलका पात्र है। उसमें दूध रखा तो क्या वह सोना हो जायेगा? नहीं, वह पीतल ही रहेगा। दूध खाली करो तब भी पीतलका ही बरतन। दूध खाली करने पर जो नाम है वही नाम दूध भरने पर भी है। पीतलका लोटा ही कहेंगे। वैसे यह शरीर है। दूधके स्थानमें प्राण है—जीवात्मा है। उसके न रहनेसे जो नाम होगा वही उसके रहनेसे भी होगा। दूध न रहनेपर पीतलका लोटा है तो दूध आनेपर पीतलका ही लोटा होगा। वैसे न रहनेपर शरीरको क्या कहते हैं? मुरदा कहते हैं, तो प्राण आने पर

भी है तो वही चीज ! योगी कहते हैं वे सब मुरदे ही मुरदे हैं। प्राण रहे या न रहे, वस्तुमें क्या अंतर पड़ेगा ? दूध रहे या न रहे लोटेमें क्या अंनर पडेगा ? योगी रूप सौंदर्य आदिमें उपेक्षा बुद्धि रखते हैं। कुणपं कामिनी मांसं ये तीनों क्या हैं ? अपनी-अपनी दृष्टि है। इसमें सुख कल्पना मात्र। शब्द, स्पर्श और रूप, इन तीनोंसे बढ़कर रस पर विचार करो।

"जितं सर्वं जिते रसे"

ऐसा श्रीमद्भागवतमें कहा है। रसमें सुखकी प्रतीति होती है। यह सभी कल्पना मात्र है। क्या महाराज, लड्डू रसगुल्ला मुंहमें डाला मधुर-मधुर मालूम पड़ा, बडा आनंद आया, यह झूठा है ? यदि झूठा है तो कड़वा क्यों प्रतीत नहीं होता ? शक्करका स्वभाव ही मिठास है। ठीक है। इस मिठासका खडन नहीं करते। हम सुखका निराकरण करते हैं। यूपीमें, पंजाबमें और बंगालमें जाते हैं वहां मिठाइयोंकी बड़ी महिमा है। मिठाई खाकर लोग कृतकृत्य होते हैं किंतु सुदूर दक्षिणमें जाइये। मद्रासमें जाइये। वहां मीठाईमें कोई रस नहीं होना। मद्रासमें आप जायेंगे तो वे पूछेंगे, आपको रसं चाहिये ? आप कहेंगे क्यों नहीं ? आप सोचेंगे नानारस, मधुर लवणादि लाकर देंगे। लेकिन वे गिलास भरकर इमलीका पानी रख देंगे। वहां इमलीका पानी ही रसं है। भले ही आप "रसो वै सः" बोलने रहिये। उनको मिठाइयोंमें कोई रस नहीं आता। तब यह बात निश्चित हुई कि नहीं, कि यह रस सुखभी कल्पनामात्र है। बचपनमें करेला कडुआ कडुआ लगता था। खाना अच्छा नहीं लगता था। किंतु धीरे-धीरे अभ्यास पड़ गया। अब अच्छा लगने लगा। भगवान न करे, यदि किसीको डायाबिटिज हो गया तो उसके लिये अमृत हो जायेगा। अभ्याससे कल्पनामें दृढ़ता आती है और सुखकी प्रतीति होने लगती है। उत्तरमें मीठा पसंद है, दक्षिणमें खट्टा पसंद है। अग्रेज दोनों पसंद नहीं करते। सादे माखन डबल रोटी वे

पसंद करते हैं। यह सब कल्पनामात्र है। यह समझकर, विवेक कर रसको जीतना चाहिये। यह बहुत बड़ी साधना है।

पांचवां विषय गंध है। इसपर भी विवेक विचार करना चाहिये। सुगंधी दुर्गंधी भी कल्पनामात्र है। इसमें भी सुखकी कल्पना ही है। मरीन ड्राईव पर पहले पहले मैंने देखा, लोग सुगंधि पाऊडर, सुगंधि इत्तर आदि लगाकर घूमते हैं, तो वह इतना कटु लगती थी, मैं सोचता था कि ये लोग इतनी अधिक गंध लगाकर कैसे बैठते, उठते, चलते हैं। लक्स साबुनमें पहले इतनी उग्र गंध प्रतीत होती थी, अब तो सामान्य हो गयी। पहले सहीं नही जा सकती थी। एक ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक राजा शिकार खेलने जंगल गया था। रास्ता भटक गया। भटकता-भटकता अंतमें एक झोंपड़ी के पास पहुँचा। झोंपडी एक चमारकी थी। राजा प्यासा था तो पानी मांगा। उसने चमड़ीके बर्तनमें पानी दिया। प्यासके मारे राजा जैसे तैसे पी गया। किंतु उलटी आ रही थी। कुछ देर तक खटिये पर विश्राम किया। किंतु कच्ची चमड़ीकी दुर्गंधी असह्य हो रही थी। विश्राम कर राजा जाने लगा तो कृतज्ञतासे बोला-देखो मैं राजा हूं। कभी भी महलमें आना। तुम्हारा सम्मान होगा। एक बार चमार राज महलमें गया तो राजाने पहचान लिया। राजाने उसको रहनेके लिये एक रूम दिया। राजाने सोचा कि यह चमडीके दुर्गंधमें पड़ा-पड़ा सड़ रहा है, इसे अच्छी सुगंधीवाले कमरेमें ठहराना चाहिये। राजाने नौकरोंसे कमरेमें इत्तर अगरबत्ती आदि लगानेको कहा। राजाका हुकुम था खूब इत्तर आदि छिड़क दिया। चमार रात भर वहीं रहा। प्रातः राजाने पूछा—रात कैसी गुजरी ? चमारने कहा – नींद नहीं आयी। राजाने सोचा-कहीं मच्छर आदि तो नहीं काटते रहे ? चमारने कहा –और कोई तकलीफ नहीं थी। इस इत्तर, धूप आदिसे कमरेमें भयंकर दुर्गंधी हो रही थी। राजाने कहा, अरे इत्तरसे सुगंधी होती है कि दुर्गंधी ? चमारने कहा—सरकार क्षमा करे, मुझे

तो दुर्गंधी मालूम यही । अरे तुम्हारी झोपड़ीमें कितनी दुर्गंधी थी। उसमें पड़ा रहता था। यहां दुर्गंधी बना रहा है। चमारने कहा— राजन ! हमारे यहां बिल्कुल दुर्गंधी नहीं है। नयी कच्ची चमड़ी जब आती है तो उसकी सुगंधीमें हम सो जाते थे तो रात कहां बीती यह भी पता नहीं चलता। राजाने समझ लिया कि यह सब आदतकी बात है। सुगंधी दुर्गंधी यह सभी कल्पना है। अंदरसे जैसी कल्पना होती है वैसे विषयोंमें सुखका आभास प्रतीत होने लगता है।

विषयोंसे आत्माका जो तादात्म्य हुआ उसमें कारण यह बताया कि अपन ही सुखका आभाम कल्पनाके द्वारा हम विषयोंमें देखने लगे तो उस पानेके लिय परंपरया हमने विषयोंसे तादात्म्य जोड़ा। दूसरा कारण यह बताया कि आत्मामें जो सुखका भंडार भरा पड़ा है वह आवृत हो गया। और अपने आपको दुःखी मानने लगे। अज्ञानावरणने अपना स्वरूपाच्छादन किया। कैसे हम समझें कि स्वरूप आनंदात्मक है। शब्द स्पर्शादि संयोगके बिना कभी आनंदकी अनुभूति नहीं होती है। लड्डू खाते समय जो आनंद आता है क्या वह लड्डू खाये बिना होगा? माना कि अंदरसे सुख आता है, किंतु विषयोंसे भी सुख आता है। इसका समाधान श्रुतिमें लिखा है :—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति

बताइये—सुषुप्तिके समयमें कौन-सा विषय है? क्या आप सुषुप्ति कालमें सगीत सुन रहे थे? यदि सुन रहे थे तो आप जाग रहे थे, सुषुप्ति कहां तब? शीतोष्णादि स्पर्शका, दार पुत्रादि स्पर्शका अनुभव कर रहे थे? नहीं सिनेमा देख रहे थे? नहीं, मोदक खा रहे थे? नहीं, इत्तर लगा रहे थे? नहीं वहां पांचों विषय नहीं हैं।

इतना ही नहीं, इनको ग्रहण करनेवाली इंद्रियां भी लीन हो जाती हैं। कोइ बोलता हो तो भी सुनाई नहीं पड़ता। ठंडी गरमी की प्रतीति नहीं होती। यहां तक कि इन पांचों इंद्रियोंके नियंत्रक मन भी उस समय नहीं रहता लीन हो जाता है। मन रहता तो कमसे-कम सपना ही देखते। कोई भी विषय स्पर्श उस समय नहीं है। "सुषुप्तिकाले सकले विलीने" सभी विलीन हो जाते हैं। फिर भी सुषुप्तिमे आनंदानुभव होता है। तो वह आनंद कहासे आया ? वड़े आनंदसे सोये, ऐसा कहते हैं। वह आनंद कहांसे आया ? विषयोंसे नहीं आया, इंद्रियोंसे नहीं आया. मनसे भी नहीं आया। एक क्या था अज्ञान। तमोभिभूतः शब्दादि विषयोंसे, इंद्रियोंसे और मनसे सुख नहीं मिला तो अब अज्ञानसे क्या सुखकी आशा की जा सकती है। पानी से और दूधमे प्यास नहीं बुझी तो पत्थरसे बुझेगी ? अज्ञान तो अज्ञान ही है। न जानना अज्ञान है। उससे सुखानुभव कैसे होगा ? अतः अंतत. सुषुप्तिकालीन आनंद आत्मानंद ही है, यही निश्चय होता है।

ये दो बातें आ गयीं एक आत्मानन्द आवृत्त हो गया और विषयोंमें आनन्दका प्रतिबिम्ब या आभास दीखने लगा। आत्मामें आनन्द आवृत्त होनेक कारण उसे अभाव महसूस होने लगा। जैसे पूर्वमें हम बता आये कि प्रथम बालक अपने आपमें मस्त था। किंतु युवा होते ही वह मस्ती गायब हुई तो उसीसे वह अभावग्रस्त हो गया और उस खोई हुई मस्ती और आनन्दकी खोज शुरू हुई। तब वह 'स द्वितीयमैच्छत्'' के अनुसार द्वितीयकी इच्छाकी। वैसे यहां भी आत्माका अपना आनन्द आवृत्त हुआ तो विषयानन्दकी आर झांकने लगा। आत्मानन्द खानेमें अज्ञान कारण है, विंषयानन्दकी ओर झांकनेमें भ्रांति कारण है। जहां झांकना प्रारम्भ किया वहां प्रथम मनरूपी दरवाजेपर द्वारपर आया और उनके साथ एकाकार हुआ। वहांसे दूसरे दरवाजे इन्द्रियोपर आ. गया और उनके साथ

एकाकार हुआ। फिर विषयोंपर पहुंचा और विषयोंसे एकाकार हुआ। तब विषयोंमें पड़ा आत्मानन्दका ही आभास अपने अन्दर अनुभव करने लगा तो बोलने लगा—मैं सुखी हूं—सुख भोग रहा हूं। इनमें प्रथम जो झांकना हुआ यही मनके साथ तादात्म्य है। वहांसे उसको विषयोंमें सुखके आभासका पता लगा। तब कामना हुई। विषयोंमें सुखाभासका पता कैसे लगा ? इस प्रकार कि मनमें करोड़ों विषयोंके चित्र पड़े हैं। उनमें आनन्दाभास भी दीखता है।

बड़ी विलक्षण प्रक्रिया है। जब मनमें ही आनन्दाभास देख लिया तो विषय प्राप्त करनेकी इच्छा फिर क्यों होती है ? विषयोंमें भी तो आत्मानन्दका आभासमात्र है—प्रतिबिम्ब मात्र है। ठीक है। एक युवा है। विवाह योग्य हो गया है। उसने कन्याका चित्र देखा। अत्यन्त सुन्दरी है। सौंदर्यको उसने चित्रमें देखा तो तृप्ति हो जायेगी कि नहीं ? क्या उसको साक्षात कन्याको देखनेकी और पानेकी अब इच्छा होगी कि नहीं ? उत्तर स्पष्ट है। चित्रको देखनेसे इच्छा शांत नहीं होती। बल्कि इच्छा और उभरती है। अधिक प्रबल होती है। वैसे मनमें चित्ररूपसे स्थित विषयोंको देखा और उसमें आत्मप्रतिबिम्ब भी देखा तो काम शांत नहीं होना। किन्तु साक्षात विषय पानेकी इच्छा प्रबल हो जाती है। इसीको काम कहते हैं। इसीसे प्रज्ञा अस्थिर होती है। इसीलिये हमने प्रथम बताया कि आत्मा और मनका तादात्म्य कामका उद्भावक है। कामको उत्तेजित करता है।

मनमेंसे जो आत्मा झांककर देखने लगा, मन तादात्म्य प्राप्त हुआ उसकी निवृत्ति कैसे होगी—झांकनेका निमित्त जो अभाव है उसकी पूर्ति कैसे होगी। आनन्दका अभाव हो गया था, उसीसे तो यह जीवात्मा मनमें जाकर झांकने लगा था। उसका झांकना तब बन्द होगा जब "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" होगा। वह अज्ञानावरणकी

निवृत्तिसे ही संभव है। अज्ञानावरणकी निवृत्तिके लिए आत्माकी ओर देखना पड़ेगा। पुष्पदन्ताचार्यने बताया है—

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किलभवान्॥

मनको बहिर्गमन शील न कर अन्तर्मुख करो। प्रत्यक् प्रवण बनाओ। यम नियमादि प्रकारोंको अपनाओ। आवश्यक हो तो प्राणायाम भी करो। इंद्रियोंको विषयोंसे वापिस खींचो। तब यही मन आत्माभिमुख होगा। आत्माकी ओर मन हुआ नहीं, कि आवरण भंग तुरन्त हो गया। एक विलक्षण आनन्द प्रकट हो गया। रोमाञ्च होने लगा। आंखोंसे आनन्दाश्रु गिरने लगा। फिर क्या है? अमृतमय महासरोवर ही है। उसीमें वह निमग्न होने लगा। परम आनंद की अनुभूति होने लगी। वहा परमानन्द आत्मा है। आत्मानन्द है। परमात्मा है। परमात्माका असली स्वरूप है। एक बार भी यदि उसकी अनुभूति हुई तो बादमें उसके चिंतनमात्रसे भी हम कामको जीत सकत हैं।

"विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खतकोदकैः"

जो आदमी अमृत सागरमें खेल रहा है, गोता लगा रहा है, क्या वह गडढेमें सड़ते हुए पानीमें कभी गोता लगाने आयेगा? बल्कि एक बार जिसने अमृतसागरावगाहन किया, वह अभावकालमें भी गड़ढेमे उतरनेका साहस नहीं करेगा। प्यासा चातक पेड़ पर बैठा हुआ था। किसी व्याधने उस पर बाण मारा। बाणसे छिदकर वह तालाबमें जा गिरा। वह बाणबेधसे दुगुना व्याकुल था। लेकिन प्यासा होने पर भी तालाबका पानी उसने पिया नहीं। उसने छटपटा

कर मरना स्वीकार किया। किन्तु तुच्छ तालाबका पानी पीना अंगीकार नहीं किया :—

"दुरितलुब्धकविद्धकलेवरः
सरसि संपतितोऽपि तृषार्दितः।
जलदवीघ्रजलाभ्यशनव्रतः
कमपिबन् म्रियतेऽहह चातकः॥"

जिसको ब्रह्मरस पानका एक बार भी अनुभव हुआ। वह उस चातकके समान दुख ताप संदग्ध भी क्यों न हो फिर भी विषय सुखाभिलाषा नहीं रख सकता।

जिसको एक बार भी समाधि न लगी हो, ब्रह्मसुखानुभव न हुआ हो वह कैसे साधना करे ? उसका मन विषयाभिमुख रहेगा। तब आत्मा भी मनके तादात्म्यसे विषय सुखकी खोज करता रहेगा तो कामना उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहेगी। इसके उत्तरमें पतञ्जलि ऋषिने बताया है—

"स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा"

सपनेमें कभी आपने भगवानका दर्शन किया हो, मुरलीमनोहर-मोर मुकुटधारी श्याम सुन्दर दिखाई दिये हों या धवल कमलतन्तू-पमगौरशरीर चन्द्रार्धमौलि डमरु त्रिशूलधारी शंकर भगवानका दिव्य दर्शन हुआ हो तो उसीका बार-बार चिंतन कीजिये। बाह्य विषय-चित्र भी मनमें स्थित है, स्वाप्नविषय चित्र भी मनमें रहता है। कृष्ण या शंकर या अन्य कोई भी इष्टदेव विषयक स्वप्नसे उत्पन्न मानस चित्रका चिन्तन बाह्य विषयोंकी ओर मनके आकर्षणको रोक देता है। तब धीरे-धीरे मन अंतर्मुख होगा। बाह्य विषय चिन्तन चालू रहने पर कभी न कभी बाह्य विषय संमुख आयेगा ही। तब उस ओर आत्मा झांकेगा और तादात्म्यको प्राप्त करेगा। स्वप्न विषय तो अपूर्व और दिव्य होता है तो बाह्य प्रवृत्ति नहीं होती।

जिस किसीको सपनेमें भी कभी भगवद् दर्शन न होता हो या किसीको सपना ही दिखाई न देता हो उसके लिये निद्रालम्बन प्रत्यय शरण है। जैसे हम पहले बता आये तदनुसार सुषुप्तिमें आत्मानन्दकी अनुभूति होती है। वहां सकल विषयोंकी निवृत्ति है। सुषुप्तिसे उठने के बाद उस सुखको भूलिये मत। उसी निर्विषय सुखका परिचिंतन बार-बार कीजिये। उसीमें चित्तको एकाग्र कीजिये। इस प्रकार अभ्यास करने पर धीरे-धीरे मन आत्माभिमुख होगा। मन आत्माभिमुख हुआ तो धीरे-धीरे आवरण वारण होगा। तब आत्मन्येवात्मना तुष्ट होगा।

जैसे हमने व्याख्यामें सामान्यरूपसे बताया कि आत्मतुष्टि होने पर मनके साथ तादात्म्याध्यास शिथिल पड़ेगा, किन्तु यह कोई नित्य साधना नहीं है कि ऐसा ही करना चाहिये। ऐसा भी किया जा सकता है, इतनेमें ही तात्पर्य है। आत्मतादात्म्याध्यास तो साक्षी भावमें रहकर भी नष्ट किया जा सकता है। केवल विषय या विषय सुखादिको साक्षीभावसे देखना नहीं किन्तु वृत्तियोंको भी। घरको देखते समय घरको साक्षी भावसे देखिये और देख रहा हूं मैं जो देखना है उसको भी साक्षीभावसे प्रकाशित कीजिये। शब्द सुन रहा हूं। यहां शब्दोंको और सुननेको भी साक्षीसे भासित समझिये। इस प्रकार दर्शन, स्पर्शन, श्रवणादि वृत्तियोको भी साक्षीभावसे देखते रहनेसे अध्यासकी निवृत्ति होती है। अतः पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध स्वतन्त्र साधन रूप भी हो सकते हैं, परस्पर सहकारात्मक भी हो सकते हैं। यही स्थित प्रज्ञका प्रथम लक्षण तथा प्रथम साधन है— "स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते" ।। २ ।।

•

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (२-५६)

[दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं रहती और जिसके राग भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।]

'प्रजहाति यदा कामान्' इस श्लोकमें कुछ लोग एक ही लक्षण मानते हैं, किन्तु दूसरे लोग दो लक्षण मान लेते हैं । सर्वकामपरित्याग करनेवाला स्थितप्रज्ञ है, ऐसा प्रथम लक्षण है । आत्मतुष्ट स्थितप्रज्ञ है, ऐसा द्वितीय लक्षण है । ये दोनों बातें जिसमें हो वह पूर्णस्थितप्रज्ञ है । यही जीवन मुक्तका भी स्वरूप है । उस स्थिति तक पहुंचनेसे पूर्वका अब लक्षण बता रहे हैं--दुःखेषु इत्यादि ।

दुःखोंके आनेपर साधारण लोग उद्विग्न होते हैं, घबरा जाते हैं, व्याकुल होते हैं, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष व्याकुल नहीं होता । उद्विग्न नहीं होता । इसी प्रकार सुखके आनेपर स्थितप्रज्ञ उसीके अनुभवमें फूला नहीं जाता—हर्षित नहीं होता और उसीमें स्पृहा नहीं करता । दुःखोंके आनेपर उद्विग्न नहीं होता ऐसा क्यों ? स्थितप्रज्ञ दु खोंको आने ही क्यों देता है ? तथा सुखोंके आने पर हर्षित नहीं होता यहां 'आने पर' यह संशयावस्था क्यों ? हमेशा सुखको ही क्यों बुला नहीं रखता और हमेशा सुख ही है तो 'सुखेषु' विशेषण की जरूरत नहीं रहती । तब सामान्य रूपसे ही कहते "विगतस्पृहः" । अतएव इस भगवदुक्तिमें यह तात्पर्य निकलता है कि दुःखको रोकना या सुखको बुलाना स्थितप्रज्ञके हाथकी बात नहीं है । स्थितप्रज्ञ जीवनमुक्त होता है, किन्तु चमत्कारी नहीं होता । वह कोई जादुई करामात नहीं

दिखाता। करामात नहीं है, ऐसी बात हम नहीं कहते। महर्षि पतञ्जलिने—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"

बताया है। विशिष्ट जन्मसे सिद्धियां होती हैं। औषधिसे सिद्धियां होती हैं। तपसे सिद्धियां होती हैं। समाधि विशेषसे भी सिद्धियां होती हैं। किन्तु इन सबका स्थितप्रज्ञतासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सिद्धियोंको देखकर स्थितप्रज्ञ समझना नहीं और इन सिद्धियोंके अभावसे गया बीता महात्मा, अस्थिरप्रज्ञ भी नहीं समझना। बल्कि सिद्धियां भी सुख-दुःखके बारेमें दूर ही रहती हैं। बडे-बड़े संतोंको, भक्तोंको और योगियोंको भी बीमारियां एवं सुख-दुःख होते ही रहते हैं। स्थितप्रज्ञ की पहचान बीमारियोंके अभावसे नहीं, दुःखाभावसे नहीं किन्तु दुःखोमें अनुद्विग्नता एवं सुखोंमें अस्पृहतासे करनी चाहिये।

पहले हम कह आये हैं कि जो सिद्धोंका लक्षण है, वह साधकोंके लिये साधनीय साधन होगा। दुःखोंमें अनुद्वेग सिद्धोंका लक्षण है। साधक उसे साधनाके रूपमें अपनावें। दुःख आनेपर उद्विग्न न होनेका प्रयास करो। तथा सुख आनेपर हर्षित मत बनो। पामरके समान उद्वेग या हर्षमें डूबकर स्वरूप विस्मरण न करना चाहिये।

प्रश्न इस पर यह होता है कि दुःखोंमें हम अनुद्विग्न कैसे रहें और सुखोंमें हर्षहीन कैसे रहें? इसका उत्तर विचारके द्वारा प्राप्त करना चाहिये? और तदनुरूप आचरण या साधना चाहिये। कौनसा विचार करना चाहिये? किस प्रकार इसको साधन बनाना चाहिये? यही कि दुःख एवं सुखके बारेमें पर्याप्त मनन करो। तदर्थ हेतु स्वरूप एवं फलका चिंतन करो। सुख एवं दुःखका हेतु क्या है? इन दोनोका स्वरूप क्या है? इन दोनोंका फल क्या है? इन तीनों पर विचार करो। इन पर विचासे दृढ़ता प्राप्त होने पर उद्वेग एवं हर्षसे मुक्त हुआ जा सकता है।

प्रथम हेतु चिंतन करो। दुःख एवं सुख क्यों आते हैं ? कहांसे आते हैं ? शब्दार्थ विचारसे ही यह मालूम पड़ जायेगा 'दुःख' बुराईको कहते हैं। 'सु' भलाईको कहते हैं। दुर्बुद्धि-सुबुद्धि, दुशील-सुशील, दुर्मति-सुमति, दुर्जन-सुजन आदि शब्दोंमें यही अर्थ है। दुः माने बुराई, पाप, खराब। सु माने भलाई, पुण्य, अच्छा। दुः पापं तस्मात् ओखति उत्पद्यत इति दुःखं, सु पुण्यं तस्मात् ओखति उत्पद्यत इति सुखम। जो पापसे उत्पन्न होता है वह दुःख है। जो पुण्यसे उत्पन्न होता है वह सुख है। यदि आपको दुःख हुआ तो क्यों हुआ ? जरूर कोई पाप पूर्वमे किया होगा। यदि आपको सुख हुआ तो, जरूर पूर्वमें कोई पुण्य किया होगा। यह कहनेमें और सोचनेमें आपको संकोच माननेकी जरूरत नहीं है। आप अवश्य पूछेंगे कि क्या मैं बीमार हुआ इसका मतलब मैं पापी हूं। मेरा लड़का बीमार हुआ या दुःख हुआ तो वह पापी हो गया ? उत्तर यह है कि पापात्मा और पुण्यात्मा इस जन्मके पुण्य पापको लेकर कहा जाता है। परंतु जन्म भी यह एक ही तो नहीं हुआ ? पूर्वजन्ममें पुण्य पाप हुआ तो उसके लिये हम वर्त्तमानमें क्या कर सकेंगे ? इस जन्ममें पाप हुआ तो प्रायश्चित भी किया जा सकता है, परन्तु पूर्वजन्मके पापका क्या उपाय ? पूर्व-जन्मका कर्म वर्त्तमानमें फल देता है। जब यह फल देना प्रारम्भ करता है तो उसको प्रारब्ध कहते हैं। प्रारम्भ हो गया इसलिये प्रारब्ध। बहुतसे लोग बोलते समय प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध नहीं, प्रारब्ध है। पूर्व कर्म फल आरम्भ हो गया—प्रारम्भ हो गया। तो कोई ठेका है कि पूर्वमें हमने पुण्य ही किया है ? जरूर पाप हुए होंगे उसीका फल वर्त्तमान दुःख है। पूर्व जन्मका कोई पुण्य रहा होगा, जिससे चोर डाकू को वर्त्तमानमें मौज मिल रहा।

"गहना कर्मणो गतिः"

कर्मकी गति पहचानना बहुत कठिन है। इसलिये दुःखोंके आनेपर यह सोचना कोई बुरा नहीं है कि मैंने पूर्वमें कोई पाप किया होगा।

पापका जो फल है, वह भोगना ही है। चाहे हंस हंसकर भोगो चाहे रो रोकर। साधकको यह समझना है कि जब तक पाप है, तब तक फल भोगना ही है, तो प्रसन्नतामे क्यों न भोगें ? क्यों रोकर मनको मलीन करे ? इसका अर्थ यह भी न समझो कि दुःख आने पर कोई सूँ आवाज भी नहीं करना चाहिये। न करो तो उत्तम ही है। किंतु सूं सूं करनेसे दर्दमें राहत मिलती हो तो उसका कोई निषेध नहीं है। यहां उद्वेगको त्यागनेके लिये कह रहे हैं, न कि राहत भी मत लो। इसी प्रकार सुखमें भी हर्षित न होना चाहिये। सुख समझ लो कि जब तक पुण्य है तब तक यह सुख है। फिर यह यह खतम होनेवाला है। स्थायी सुख आज तक किसीने पाया नहीं है।

"कारणापाये कार्यापायः"

ऐसा नियम है। कारण पूरा हो गया तो कार्य भी समाप्त होगा। जब तक तेल है। तब तक बत्ती जलेगी। तेल समाप्त हुआ तो बत्ती बुझेगी ही। इस प्रकार सुख एवं दुःखको कर्मों पर छोड़कर हर्ष एव उद्वेगसे रहित होना चाहिये। कभी-कभी चित्त सुखके लिये तरसने लगना है, किंतु मिलता नहीं है। तीव्र धनाभिलाषा होने लगी, पर धन प्राप्त नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में अपने मनको ही ममझाना चाहिये। दुःख निवृत्त करनेके लिये उद्वेग होने लग जाय तो भी समझाना चाहिये। मनन करना चाहिये, बार-बार विचार करना चहिये। क्या ?—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति मानवाः॥

मेरे जैसे कई लोग संसारमें पड़े हैं। पुण्य तो किया नहीं और पुण्यका फल पाना चाहते हैं। पापका फल दुःख कोई चाहता नहीं

किंनु पाप करनेमें कोई पीछे नहीं रहता। अतः अभी ही सही पापसे निवृत्ति हो जाऊं, पुण्य करूं। फल चाहे जब भी आवे।

दूसरा यद्यपि स्वरूप चिंतन है तथापि हम उसको अंतमें देखेंगे। द्वितीय फल चिंतन करे। सुखका फल क्या है और दुःखका फल क्या है ? बड़ा विकट प्रश्न है। सुख और दुःख स्वयं फल रूप है तो उसका क्या फल आगे होगा ? न्यायशास्त्रमें भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि लिखते हैं—

"सुखदुःखसंवेदनं फलम्"

सुख तथा दुःख दोनों फल है। सुखका आगे कोई फल नहीं है। दुःखका कोई फल नहीं है। फलका फल क्या होगा ? सुखका लक्षण किया है :—

"इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखत्वं"

धन किस लिये ? नानापभोगके लिये। गृह किस लिये ? विश्राम संग्रहादिके लिये-रहनेके लिये। वस्त्र किस लिये ? पहनने लिये। और किम लिये ? सुख-सुखही के लिये उसका कोई आगे फल नहीं है। सुखके लिये सब कुछ है। सुख और किसीके लिये नहीं है। इसलिये इतरेच्छासे सुखेच्छा उत्पन्न नहीं है। सुखेच्छा स्वतंत्र है। जैसे नानाविध विषयेच्छा होनेसे धनेच्छा हुई, वैसे सुखेच्छा नहीं है। दुःख क्या है ?

"इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वं दुःखत्वं"

सांपसे द्वेष क्यों ? इसलिये कि वह काटेगा, जहर चढ़ेगा तो दुःख हागा। चाकूके मारनेसे द्वेष है। द्वेष माने शत्रु द्वेष नहीं समझना। द्वेष माने रागके विरोधी नापसंदगी, नफरत आदि। चाकूके मारसे क्यों भागते हैं ? दर्द होगा। दुःखसे क्यों द्वेष है ? वह दुःख है। सिरदर्द द्वेष इसलिये कि वह स्वयं दर्द है। इतर द्वेष के कारण उसपर द्वेष नहीं। स्वत द्वेष है। अतएव सुख एवं दुःख दोनों फल है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

"एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलः"

द्विफलः । दो फल कौन ? सुख और दुःख। अगर सुख-दुःखका भी आगे फल होगा तो त्रिमूलः न कहकर पञ्चमूलः कहना चाहिये था । तीन मूल सत्व. रज और तम । दो ऊपरसे मूल होते सुख औरु दुःख तब सुख-दुखका आगे क्या फल ? उत्तर है दु खसे पाप निवृत्ति होगी. सुखसे पुण्यनाश होगा । यही फल है । दुःखसे क्या कटेगा ? पुण्य या पाप ? पाप कटेगा । क्या यह फल नहीं है ? वैसे सुखसे पुण्यनाश होगा । यह भी उसका फल ही तो हुआ । गीता में ही आगे मिलेगा—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति

वे कर्मी कर्मकाण्डी विशाल स्वर्गलोकका उपभोगकर जब पुण्यक्षय होता है तो वापिस मनुष्य लोकमें गिर जाते हैं। यहां ध्यान देने योग्य 'नीचे गिरते हैं या नहीं' ? यह बात नहीं। क्षीणे पुण्ये पर ध्यान दो। स्वर्गसुखभोगसे क्या हुआ ? पुण्यक्षय हुआ। इसी प्रकार आपको वर्त्तमानमें बडा सुख मिल रहा है तो आप कोई धन्यभागी नहीं हैं। यह तो आपका पुण्य खतम हो रहा है। इस फल पर चिंतन करो।

बहुतसे आधुनिक तर्क करते हैं, आजके ही क्या ? पहलेके भी अनीश्वरवादी बड़ा तर्क करते थे। कहते हैं कि जगत्को ईश्वरने बनाया तो किसीको धनी और किसीको दरिद्र क्यों बनाया ? कोई तो पच्चीसवें माले पर एयरकंडीशन लगाकर रह रहा है तो दूसरा झोंपडपट्टेमें हवाके ही बिना रह रहा है। कोई करोडपति है कोई खानेके लिये तरस रहा है। कोई सुखी है और कोई दुःखी है। आस्तिक लोग कहते हैं, भगवान बड़े दयालु हैं यह किस बातका दयालु है। रोगी शय्यापर पड़ा-पड़ा कराह रहा है, परमात्माको

पुकार रहा है, लेकिन वो तो बहरा होकर वैकुंठ लोकमें चद्दर तान कर सोया है। द्रौपदी, गजेन्द्र जैसे दो चार उदाहरण बोलते हैं, आज तो द्रौपदीमे भी बढकर मुसीबतमें पड़ी हुई औरतें पुकारती हैं, फिर भी भगवान नहीं आते। जब वह "कर्त्तुमकर्त्तमन्यथाकर्त्तुं समर्थः" है तो सबका रोग क्यों दूर नहीं करता ? सबकी मनोव्यथा क्यों नही हटाता ? सबकी गरीबी क्यों नहीं हटाता ? इतना पक्षपाती क्यों ? ऊपरसे दयालु भी कहते हैं। अहेतुक दयासागर कहते हैं—

"तुम हो परमकृपाके सागर"

ऐसा रोज प्रार्थना करते हैं। किंतु सिरदर्द होनेपर पुकारते हैं तो सागर दूर रहा, दयाके बूंद का भी ठिकाना नहीं रहता इत्यादि।

इसका समाधान सुनो-आप भगवानको बीमारीमें दवा देनेवाला डाक्टर वैद्य, गरीबको पगार देनेवाला कारखानेका मालिक आदि मत बनाओ। शास्त्रोंमें सबसे बड़ा फल नैष्कर्म्य बताया है।

"नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति"

इस गीता श्लोकमें नैष्कर्म्य सिद्धिको परम बताया है। नैष्कर्म्य मोक्षको कहते हैं। मोक्षके लिये कई शब्द आये हुए हैं—मोक्ष मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण एवं नैष्कर्म्य इत्यादि सभी पर्यायवाची हैं। फिर भी अवयवार्थ अलग-अलग है। मोक्ष ओर मुक्तिका छुटकार अर्थ है। न कि मोक्ष नामकी कोई धन राशि या अन्नराशि स्वर्गलोक में रखा हुआ है। किससे छुटकारा ? सबसे। पूरे संसार बधनसे छुटकारा। कैवल्य कहते हैं केवल रहना। एकमेवाद्वितीयं रहना। द्वितीयका अभाव ही कैवल्य है। निर्वाण क्यो कहते है ? वान गति को कहते हैं। "वा गतिगन्धनयोः" ऐसा धातु पाठ है। निर्गतं वानं गतिः यस्मात्। कभी दक्षिणायनसे जाते है। उपासक उत्तरायण गतिसे जाते हैं। जो दोनों नहीं है वे यहीं भटकते हैं "जायस्व म्रियस्व"

जन्मो-मरो। परंतु ज्ञानोत्तर पूरी गतियां समाप्त हो जाती हैं। सभी भटकना खतम हो जाता है। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" उसका प्राणोत्क्रमण नहीं होता। इसलिये निर्वाण कहा जाता हैं। अब नैष्कर्म्यका अर्थ देखिये। "निर्गतानि सर्वाणि कर्माणि यस्मात् स निष्कर्मा तस्य भावो नष्कर्म्यं" ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है। सकल बन्धनकारण, सकल गतिकारण, समस्त परिभ्रमणादि कारण कर्म है। अशेषकर्म विलय हो जाता हे तो न आना है, न भटकना है, न ससार है न बन्धन ही रहता है। इसीको भक्तोके शब्दोंमे भगवत प्राप्ति भी कहते हैं। जैसे अभी हमने व्याख्या की तदनुसार सुखस क्या होगा ? पुण्य कर्मनाश होगा। दु:खसे क्या होगा ? पाप कमनाश हागा। तब भगवानने सुख और दु ख देकर क्या किया ? कर्मनाश किया। भगवानका लक्ष्य है कि सुख दु:ख देकर प्राणयोंका नेष्कर्म्य दें। अर्थात् भगवत् प्राप्त करावें, अर्थात् अपने चरणाम बुलाव। क्या इसस भी बढ़कर कोई करुणा होगी। कर्म तो अनादि सृष्टकाल प्रवृत्ति है। उसीसे संसार हो रहा है। भगवान कर्मनाश करत जा रह हैं, अपने चरणोंमें बुला रहे हैं। कैस वे करुणासिंधु ! परतु ये अभागे जीव फिर-फिर कर्म करते जाते हैं, कर्म को समाप्त हाने नही दते। यह भगवानकी निर्दयता हे कि जीवात्माकी मूखता ह ? बस सुख-दु:खमें यही चितन करा। सुख भी ठीक ह, दुख भा ठीक है। सुखसे पुण्यकर्मनाश और दु:खसे पापकर्मनाश हागा ता नैष्कर्म्य होगा। तब सुख दु ख म राग द्वेष नहीं रहगा, वह स्थितप्रज्ञ हागा। इसी अर्थमें सुख शब्द और दु:ख शब्दकी व्युत्पत्ति भी हे। 'सु' इति पुण्यं खनात' जो पुण्यको खोद कर फेंके वह सुख है। 'दु' इति पापं खनति' जो पापको खोद फेंके वह दु:ख हैं। इस अर्थ का नित्य चितन करा।

तीसरा स्वरूप चिंतन है। सुख और दु:खका स्वरूप क्या है ? इसपर हमेशा ध्यान दो। इस अर्थमें सुख और दु:खकी व्युत्पत्ति

अलग है। 'सु' का अर्थ है शोभना। 'दु' का अर्थ है अशोभना। इंद्रियोको भी कहते हैं।

"सु सुष्ठु शोभनानि इन्द्रियाणि यस्मिंस्तत्सुखम'

जिसमें इंद्रियां प्रसन्न हैं, शोभन हैं, सत्त्वगुणयुक्त रहती हैं उसको सुख कहते हैं।

दुः दुष्ठु अशोभनानि दुर्गतानि इन्द्रियाणि यस्मिंस्तद्दुःखम्

जिसमें इंद्रियां रजोगुण तथा तमोगुणके आक्रमणसे अप्रसन्न हों, दुर्गत हो गयी हों, उसको दुःख कहते हैं। अर्थात् सुख एवं दुःख इंद्रियों पर आधारित हैं। इंद्रिय पदसे मन भी समझना चाहिये। "मन षष्ठानीन्द्रियाणि" के अनुसार एवं अन्य प्रमाणोंसे अथवा उपलक्षणतया मनका भी ग्रहण यहां कर लेना चाहिये। इंद्रियां और मन ठीक हैं तो सुख; नहीं तो दुःख। अर्थात् ये सुख मन इंद्रियोंकी कल्पना ही है। पहले हम कह आये हैं कि विषयोंमें सुख मनकी कल्पना मात्र है। संगीतमें सुखकी कल्पना की तो सुख रूप प्रतीत होने लगा। शीत उष्णमे सुखादि कल्पना की तो सुख प्रतीत हुआ। आप कहेंगे मिठाईमें मीठाम और नीमकी पीत्तीमें कड़वास कोई कल्पना थोड़ी ही है? हम कहते हैं कि मीठामको और कड़वासको कौन कल्पना कह रहा है? उसमें जो सुख-दुःख है, उसकी कल्पना हम कह रहे हैं। मनका ही खेल सुख-दुःख है। मनको मूर्च्छित किया, क्लोरोफारम सुंघाकर बेहोश किया, फिर पेट फाड़ डाला तो दुःख प्रतीत होगा? क्यों प्रतीत नहीं होता? मन नहीं था। इसलिये दुःख भी नहीं हुआ। बेहोश अवस्थामें मखमलके गद्देपर लेटाया। एयर कंडीशन कमरेमें सुलाया। तब सुख होगा क्या? सुख भी नहीं होगा। क्यों नहीं? वही उत्तर, वहां मन नहीं था। किसीने कहा, सुख और दुःख जरूर होता होगा, किंतु प्रतीति नहीं हुई। आपरेशनमें दुःख होता ही है, किंतु बेहोश होनेसे

प्रतीति नहीं हुई। एयर कंडीशनमें गद्देपर लिटानेपर शरीरमें आराम तो हुआ ही होगा किंतु प्रतीति नहीं हुई इतनी ही बात है। परंतु इस बातको दार्शनिक नहीं मानते। उनका कहना है—"अज्ञातसुखदुःखयोर्मानाभावात" सुख या दुःख हुआ, किंतु ज्ञात नहीं हुआ, यह वचन अप्रामाणिक है। यदि ज्ञात नहीं हुआ तो सुख-दुःख भी नहीं माना जायेगा। इसीलिये कोड़ेका दंड जहां दिया जाता था अभी कुछ दिन पहले अरबमें कई युवकोंको व्यभिचारके कारण कोडे लगाये थे, वहां दस कोडोंकी सजा है और पांच सात कोडोंमें ही बेहोश हो जाय तो बेहोशी अवस्था में शेष कोड़े नहीं नही मारे जाते। क्योंकि उसमें दुःख नहीं होता तो सजा कैसे? अज्ञात सुख-दुःख नहीं होने। अतः निश्चित है कि मन है तो सुख दुःख है। मन नहीं तो दोनों नहीं। अर्थात् कारण विशेष मरकारसे मनही सुख और दुःखको निर्माण करता है—कल्पना करता है। फलतः सुख और दुःख काल्पनिक है। तो काल्पनिक सुखके लिये कैसा हर्ष और कैसा विषाद? एकने सीपमें चांदी का भ्रम किया। जब उसको समझमें आया है कि यह सीप है, तो भी वह उसमें स्पृहा करेगा? भले चमक के लिये उठा लावे और बाहर प्रदर्शनवाली आलमारीमें उसे रख ले। वैसे रस्सीमें सर्प भ्रम हुआ फिर समझ लिया कि यह कल्पना मात्र है तो भी वह डरता रहेगा क्या? भले ही वह दूसरेको दूरसे दिखावे—देखो वह सांप जैसा दीखता है कि नहीं। इसी प्रकार सुखको कल्पना समझ किया तो फिर उसमें हर्ष, स्पृहा आदि कैसे और दुःखमें विषाद कैसे? यही स्वरुप चिंतन है।

इन तीन प्रकारके चिंतनोंमें हेतु-चिंतन भूतकालीन चिन्तन है। पूर्वमें हमने पुण्य-पाप किया, अतः सुख-दुःख अवश्य भावी है तो क्यों हर्ष विषाद करे। स्वरूप चिंतन वर्त्तमान स्वरूपको सुख दुःखको काल्पनिक समझकर दोनोंमें अपेक्षा बुद्धि करनी है। काल्पनिक रजत और सर्पमें लोभ और भय नहीं तो काल्पनिक सुख-दुःखमें हर्ष

विषाद क्यों ? तीसरेमें फल चिंतन भविष्यपरिणाम-चिंतनहै। क्योंकि सुख दुःख वर्त्तमानमें हो रहा है, उसका फल भविष्यमें सकल कर्म नाश है, यह तो सर्वोत्तम है, समझते हुए दोनोंको एक समान समझना है। यही तीनों चिंतनोंमें फरक है।

इसमें हेतुचिंतन मीमांसा पक्ष है। कर्मसे सुख-दुःख हो रहा है यह विचार कर्मी करते हैं। मीमांसामें कर्म विचार है। तो मीमांसक कर्म फल समझकर उसीके अनुसार साधना कर स्थितप्रज्ञ बन सकता है। यद्यपि केवल मीमांसकके लिये यह बात नहीं है। क्योंकि यह ज्ञान प्रकरण है कर्म प्रकरण नहीं है। तथापि मीमांसामार्गसे ज्ञानको प्राप्त करनेवालोंके लिये यह उपयुक्त चिंतन है, यही तात्पर्य है। फल चिंतन भक्ति पक्ष है। भक्तोंके मतमें फल देनेवाले पमेश्वर हैं। कर्म सहकारी जरूर है। किन्तु मुख्यतः फल प्रदाता परमेश्वर है। भक्त समस्त जगत्को भगवान्की लीला ही समझता है। लीला होनेपर भी निरपेक्ष सृष्टि नहीं है। किन्तु प्राणिकर्म सापेक्ष ही सृष्टि है। भक्तोंके लिये यही विश्वास रखना चाहिये कि भगवान जो भी कुछ करता है सो हमारी भलाईके लिये ही करता है। "न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' भगवानका कोई द्वेषी नहीं और कोई प्रिय भी नही। 'प्रिय नहीं' का अर्थ है, जैसे दार पुत्रादिमें परिच्छिन्न प्रियता संसारी लोगोंकी होती है, वैसे भगवानकी नहीं होती है। अपरिच्छिन्न प्रेम तो भगवानका ही है। सारे विश्वकी भलाईके लिये प्रेम सबके प्रति भगवानका है। अतः भगवान सुख या दुःख जो भी देते हैं, उससे हमारा भला ही होगा। बल्कि दयालु भगवान दुःख देते हैं, इसका मतलब है आपके हृदयको पापकी गंदगी को धो रहे हैं। तुम्हारे मकानमें गंदगी फैला है, चूहे मरे पड़े हैं तो उसको कोई आकर साफ करे तो क्या बुरा काम कर रहा है ? भगवान तुम्हारा हृदय गृह धोनेके लिये नौकर बनकर आये हैं। कोई गंदगी ऐसी है कि उसे तेजाबसे भी धोना पड़ता है। यही दुःख है। इस गंदगीको यदि आप हठपूर्वक धोने

नहीं देंगे या रोकेंगे तो उसकी प्रतिक्रिया भी हो सकती है। पापका मार्जक तो एक मात्र फल भोग है। आत रोज पीट कर दुखावरोध किया तो प्रकारान्तरेण दुःख आयेगा ही अतः यही कहना है—

"मैं राजी उसीमें हूं जिसमें है तेरी रजा"

भगवानका प्रत्येक कार्य दिव्य होता है, रहस्यपूर्ण होता है। पूरा जगत ही एक महान रहस्य है। अधिक तलस्पर्शका प्रयास वृथा है। भक्तपक्षकी बात है। तीसरा स्वरूप चिंतन वेदांत पक्ष है। वेदांत शास्त्रमें जगत्को काल्पनिक बताया है। इसमें कर्म पक्ष भी है भगवत् पक्ष भी है। अन्तंनः अनिर्वचनीयता भी मानी है। कर्मके बिना फल नहीं होता। फल देनेवाला चेतन परमेश्वर ही है। परतु ये सभी संयोग अनिर्वचनीय हैं। इसका निर्वचन नहीं हो सकता। यह ऐसा ही है, कहीं भी कोई निर्णीत स्वरूप नहीं है। अनिवचनीय होनेसे ही सबको काल्पनिक माना। इस प्रकार सुख-दुःखको काल्पनिक मानकर भी स्थितप्रज्ञ हुआ जा सकता है।

ये तीन मार्ग हो गये। इनमें कौनसा मार्ग यथार्थ है—श्रेष्ठ है। किस मार्गसे चलना चाहिये ? हेतु चिंतनसे या स्वरूप चिंतनसे या फल चिंतनसे ? उत्तर है कि आपको जो जंच रहा है, उसी मार्गसे चलिये। आखिर स्थितप्रज्ञतामें पहुचना है।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामार्णव इव

लोगोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। जो जहां पले हैं, वही मार्ग उसके लिये सरल होगा। जो कर्मकांडियोंमें पला हो वह मारे सुख-दुःखको प्रारब्धका ही खेल समझ कर कर्मका ही फल समझ कर हर्ष-विषाद रहित बने। जिनके घरमें भगवद्भक्त हो गय हों, जहा भक्तिकी प्रधानता है वहां यही समझते हुए साधना करनी चाहिये कि भगवान भला ही करते हैं, इस दुःखमें भी कुछ रहस्य।

छिपा है, इस सुखमें भी कुछ रहस्य है। किंतु इसमें एक बात ध्यानमें रखना चाहिये कि भगवत्कृपा नैष्कर्म्यके लिये ही है, बुरे-भले कर्मके लिये नहीं। अन्यथा तो धृतराष्ट्र जैसे माने जायेंगे। श्रीमद्भागवतमें आया है—धृतराष्ट्रके पास अक्रूर पहुंचकर जब बोले कि आपके ही पुत्र पांडव और कौरव हैं; इनमें भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिये तो धृतराष्ट्र बोले—यह सही बात है, पर भगवान जैसी प्रेरणा करे वैसा सबको करना पड़ता है। पुण्य या पाप तुम कर रहे हो, उसको भगवान पर क्यों छोड़ देते हो। पाप करना या उसमें लाचारी आदिको भगवान पर न छोड़कर उसे अपनी ही गलती मानना उचित है। परमार्थतः क्या है ? इसका उत्तर तो वेदांत ही देगा। अस्तु, जिनके घरमें जनकादिके समान ज्ञानियोंकी अधिकता रही वहां स्वरूप चिंतनको महत्व देना चाहिये। उसके लिये वह मार्ग सरल है। किसी भी मार्गसे चलो, अंतमें स्थित-प्रज्ञतामें पहुंचना है। अत एव यहां एक ही मार्ग पकड़ना चाहिये, ऐसी भी कोई नियम नहीं है। 'मेरे कर्म का ही फल है, मैं किसको दोष दूं' ऐसा भी सोच सकते हैं। भगवानकी जैसी मर्जी वैसा हुआ, यही भी कह सकते हैं। थोड़ी देरके बाद यह सब कल्पना मात्र है, ऐसे भी कह सकते हैं। अर्थात् इन तीनों मार्गोंका कोई परस्पर विरोध नहीं है। एकने कहा—महाराज, तीन नावमें क्या दो नावमें भी पांव रखे तो बीच नदीमें डूबना पड़ता है, तो तीनों मार्गसे कैसे चलेंगे ? मैंने कहा—तीन नाव अगर अलग चल रही हो तब एक ही नावमें बैठना चाहिये, किंतु तीनों नाव एक दूसरेसे कसकर बंधी हो तो ? पचीस-तीस वर्ष पहलेकी बात है। हमने एक नदीके किनारे देखा। वहां पुल नहीं था, दोनों ओर सड़कें थीं। वहां दो तीन नाव मिलाकर बांधते थे और छोटी कार आदिको नदी पार ले जाते थे। ये हेतु स्वरूप चिंतन एक दूसरेसे जुड़ा हुआ है। अतः तीनोंको मिलाकर चलनेमें कोई हानि नहीं है।

इनमें स्वरूप चिंतन अधिक विश्लेषण योग्य है। अतः हमने उसे अंतमें रखा। सूचीकटाहन्याय प्रसिद्ध है। सूई भी अंदर रखना था, कढाई भी अंदर रखना था। तो पहले सूई रख देते हैं, बादमें कढ़ाई ? क्योंकि सूई कहीं खो गयी तो ढूंढना मुश्कल पड़ेगा, कढ़ाई धूलमें गिरकर गायब नहीं होती। वैसे यहां स्वरूप चिंतन विशाल है। उसका वर्णन करते-करते हेतु और फल छूटही जायेगा। अतः प्रथम वर्णन किया। अब हम स्वरूप पर विशेष ध्यान दें और साधना पर भी विचार करें।

दुःखमें अनुद्विग्नता और सुखमें निःस्पृहता पूरी तरहसे तभी होती है, जब सुख और दुःखका भान ही आभास मात्र हो। जब बच्चा नाराज होकर बैठा हो तो उसको छू भी लो तो रो पड़ता है। चाकलेटके लिये जिद पकड़ता है तो हर बार शरीर हिलायेगा, रोयेगा, पीटेगा। और चाकलेट मिल जाता है तो अति प्रसन्न होगा। मानोकि स्वर्ग ही मिल गया, अत्यन्त हर्षित होगा। परंतु दूसरे बच्चोंके साथ खेलमें मग्न है, मस्त हो रहा हो तो कभी पांव पर चोट लगता है तो भी उसको पता नहीं चलता। पता लगनेपर भी परवाह नही करता। बढिया खेल-कूद चल रहा है, खूब आनंद आ रहा है तब बीचमें चाकलेट दो तो भले मुँहमें वह डाल लेगा लेकिन खेलकी, मस्तीमें चाकलेटका कुछ भी महत्व नहीं होगा। उसे मुँहमें रखकर दौड़ेगा, कूदेगा। बीच-बीचमें बच्चेको चाकलेटका ख्याल भी टूट जायेगा। स्थितप्रज्ञ भी इस प्रकार होता है। जिद्दमे पड़े बच्चेके समान संसारी पुरुष है। थोड़ा भी कोई छू ले तो जैसे वह बच्चा रो पड़ता है वैसे थोड़े दर्दमें वह उद्विग्न होता है। और चाकलेट मिला तो प्रसन्न वैसे संसारके विषय मिल गये तो प्रसन्न होता है। सुखमें उसकी भारी स्पृहा रहती है। किन्तु खेलमें मस्त बच्चेके समान स्थितप्रज्ञ होता है। वह अपने ब्रह्ममें खेल रहा है— "विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ"। "आत्मक्रीड आत्मरतिः" इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। अर्थात् वह आत्मामें ही क्रीड़ा

करता है, आत्मामें ही रमण करता है। कायिक, वाचिक, मानसिक क्लेशोंके आनेपर भी उसका ध्यान उस तरफ जाता ही नहीं। शब्द स्पर्शादि विषय सुख आवे तो भी उसपर ध्यान जाता नहीं। अतएव वह दुःखमें अनुद्विग्न एव सुखमें निःस्पृह होता है। यह स्थिति छठो भूमिकाकी है। अधिकतर वह ब्रह्म समाधिमें रहता है और कभी व्युत्थानमें भी आवे तो आस्वादित ब्रह्म रसका स्वाद उस समय भी आता ही रहता है। ब्रह्मानंद निमग्न होनेसे आया हुआ भी सुख दुःख नहींके बराबर रहता है। आभासमात्र प्रतीत होता रहेगा। यह षष्ठ भूमिका सर्वोत्कृष्ट प्रज्ञास्थैर्यं साधन है।

परन्तु यह साधारण नहीं है। सुख दुःखकी प्रतीति हो न हो, हो तो भी रुईसे छूनेके समान नहींके बराबर यह भूमिका अति दुर्लभ है। तब कैसी साधना करनी चाहिये ? उत्तर है छठी भूमिका तक नहीं पहुँच सकते हो तो पंचमी भूमिकामें पहुँचो। पंचमी भूमिकाका अर्थ है— सुख दुःख भास रहे हैं, किंतु मिथ्यारूपेण। सुख दुःखको सर्वथा मिथ्या समझ रहें हैं, मिथ्याका मतलब क्या ? मिथ्याका अर्थ केवल शश-शृंगवत् ही नहीं है। और रज्जुसर्प भी दृष्टान्त रूप है। मिथ्याका अर्थ अद्वैतसिद्धि चित्सुखी आदि वेदान्तके ग्रन्थोंमें इस प्रकार लिखा है कि—

"स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं"

भाव और अभाव साथ-साथमें हो तो मिथ्या है। सीपमें चांदी दीखी यह भाव है। सीपमें चांदी असलमें नहीं है, यह अभाव है। इतने अंशमें दृष्टान्त है। इसी प्रकार लड़का जन्मा, वृद्ध मरा, यह जन्ममरणका भाव है। "न जायते म्रियते वा" आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं, यह अभाव है। यही भाव और अभाव साथमे हो गये तो जन्ममरण मिथ्या माने गये। वैसे ही सुख दुःख पैदा हुआ, प्रतीत हो रहा है, किंतु परामर्थतः नहीं है। सुख-दुःखका कोई अस्तित्व नहीं

है। यह सारा जगत् ईश्वर संकल्पसे पैदा हुआ, ऐसा सभी भक्त-आस्तिक मानते हैं। जब तक ईश्वर संकल्प है, तब तक अस्तित्व है। ईश्वर संकल्प समाप्त हुआ तो? जगत्का अस्तित्व भी नहीं रहता। परंतु जो संकल्पसे पैदा हुआ वह सांकल्पिक हुआ। वास्तविक कहां है? जो मेटेरियल (पदार्थ)से हो, वह वास्तविक होगा। संकल्प चाहे हमारा हो चाहे ईश्वरका हो, संकल्प तो संकल्प ही है। संकल्पसे जो पैदा हुआ वह काल्पनिक ही होगा, वास्तविक कैसे होगा? इस प्रकार विचार करनेपर सारा जगत् ही मिथ्या सिद्ध होता है। ईश्वर संकल्पसे उत्पन्न जगत ही जब काल्पनिक हुआ तब हमारे संकल्पसे उत्पन्न सुख-दुःख कहांसे सत्य होंगे? यह तो निश्चित ही है कि हमारे मनकी कल्पनासे सुख-दुःख पैदा हुए। उदाहरण हम पहले कह आये हैं। मूर्च्छित अवस्थामें कल्पक मन नहीं रहता है तो सुख दुःख नहीं होते। जाग्रतमें कल्पक मन रहता है तो सुख दुःख होते हैं। तब क्या मनसे ही सुख दुःख कल्पित सिद्ध नहीं होते। इसको न्यायशास्त्रमें अन्वयव्यतिरेक कहते हैं—

"तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं तदभावे तदभावः"

मन है तो सुख-दुःख है, यह अन्वय है। मन नहीं तो सुख-दुःख नहीं, यह व्यतिरेक है। तब क्या सिद्ध हुआ—सुख और दुःख मनकी ही कल्पना है। मनसे उत्पन्न है, इसलिये मनसे उत्पन्नको ही हम मनकी कल्पना कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें इसी अन्वय व्यतिरेकका प्रमाण प्रथम श्लोकमें बताया है—

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतः"

अर्थात् अन्वयसे और इतरतः=व्यतिरेकसे जगतका जन्मादि सत्से "सत्यं परं धीमहि" – सत्यसे सिद्ध होता है। सुख दुःखके बारेमें वही प्रमाण है। अन्वय व्यतिरेकसे सुख-दुःखका जन्म मनसे सिद्ध होता है। जो मनसे उत्पन्न हुआ वही मन कल्पित कहा जाता है।

एक पण्डितने शंकाकी-महाराज ! मेरी आंख है तो रूप दीखता है, आंख नहीं तो रूप नहीं दीखता, तो क्या मेरी आंखसे थोड़ा ही रूप पैदा हुआ ? मेरी आंख न हो तो भी द्रव्यमें रूप रहेगा। मैंने कहा— तुम्हारी आंख न हो तो भी दूसरा आदमी रूप देखता है। तब मेरी आख नही तो रूप नहीं दीखता कैसे बोलते हो ? इस प्रकार मेरा मन न हो तो मेरे सुखको दूसरा देखेगा क्या ? मेरा मन न हो तो मुझे सुख होगा ही नहीं। मेरी आंख न हो तो भी द्रव्यमें रूप रहेगा। हां, यदि समष्टि विराट्की आंखकी बात करते हो तो विराटकी आंखसे रूप उत्पन्न है ही। उसीको हम ईश्वर संकल्पोत्पन्न कहते हैं। व्यष्टि और समष्टिमें इतना ही फरक है कि व्यष्टि-संकल्पोत्पन्न प्रायः प्रातिभासिक होता है, जैसे रज्जुमें सर्प। समष्टि-संकल्पोत्पन्न व्यावहारिक होता है। जैसे ईश्वरसंकल्पोत्पन्न जगत् व्यावहारिक है। कहीं-कहीं व्यष्टि-संकल्पोत्पन्न भी व्यावहारिक होता है, जैसे सुख दुःख उसको आपने स्वयं कल्पना की। फिर भी व्यावहारिक है। इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे सुख-दुःखको मिथ्या समझा जाय, अनुभव किया जाय तो उद्वेग और स्पृहा नहीं होगी। यह पांचवी भूमिका है।

आप कहें कि हम आगे-पीछे सुख-दुःखको मिथ्या कह सकते हैं, किंतु जब दर्द होने लगता है, उस समय वह मिथ्या नहीं लगता। मुंहमें भोजन पड़ा है। दाल, चटनी, अचार, मिठाई आदिका अलग-अलग रस प्रत्यक्ष है, तब कैसे मिथ्या मान सकते हैं ? याद रखिये, आगे-पीछे मिथ्या मानने मात्रसे पंचमी भूमिका नहीं मानी जायेगी। सुख दुःखकी वर्त्तमानतामें मिथ्यात्व भासे तो ही पंचमी भूमिका होगी। ऐसी स्थितिमें पंचमी भूमिकाको लेकर स्थितप्रज्ञता नही हो सकती तब कहा— चतुर्थ भूमिकामें आ जाओ। चतुर्थ भूमिकामें, सुख-दुःख मिथ्या है इतना मालूम है, किंतु अनुभवमें नहीं उतरता। उसका संबंध मिथ्या प्रतीक होगा। सुख-दुःखको देख रहे हैं, परंतु द्रष्टाभावसे दृश्यके साथ एकरूप होकर नहीं। सिरमें दर्द हो रहा है। दर्द मिथ्या

प्रतीत नहीं हो रहा। किंतु अपनेमें उसका तादात्म्य नहीं कर रहे। द्रष्टा भावसे देख रहे हैं। प्रकाश और प्रकाश्य एक नहीं होता। सूर्य अलग है गृह, वृक्ष पशु आदि अलग हैं। यद्यपि वहां भी तादात्म्य-की भ्रांति थोड़ी होती है। सूर्यके साथ नहीं किन्तु सूर्यके प्रकाशके साथ। सूर्य प्रकाशका वस्तुओंके साथ तादात्म्य सा हो जाता है। एक पुस्तकका देखते हैं तो प्रकाशके साथ घुल-मिलकर तादात्म्यापन्न होकर अक्षर दीख रहे हैं। वैसे ज्ञानप्रकाशके साथ घुल-मिलकर सुख दुखादि प्रतीत होते हैं। उस तादात्म्यको विवेकसे मिटाकर द्रष्टा और दृश्यको अलग करते हुए देखो। क्योंकि वस्तुत. ये सुख दुखादि अंतःकरणके धर्म हैं। प्रकृतिके धर्म हैं। उनका केवल संसर्गाध्यास है, ऐसे सांख्य-वाल भी मानते हैं। सांख्यशास्त्रमें प्रकृति पुरुष विवेक करनेके लिये बताया है। वे जगत्को भले मिथ्या नहीं कहते, सुख दुःखादिको भी मिथ्या नहीं कहते, किन्तु सुख दुःखादि तादात्म्यको मिथ्या मानते हैं। मैं यहां आपको योगवाशिष्ठादि प्रोक्त भूमिकाओंका वर्णन नहीं कर रहा हूं। किन्तु स्थितप्रज्ञ बननेकी साधन भूमिकाका वर्णन कर रहा हूं। यह ध्यानमें रहना चाहिये। इसमें छठी भूमिकामें सुख दुःखकी प्रतीति ही सुख-दुःख रूपसे नहीं होगी। पांचवीमें सुख-दुःखकी प्रतीति होगी, किंतु मिथ्या रूपसे। चतुर्थीमें सुख-दुःखको जैसा है वैसा जानेगा किंतु उसका संसर्ग मिथ्यारूपेण भासेगा।

ये तीनों निदिध्यासनका ही फल है। योगी भी इसको समाधिका ही फल मानते हैं।

"तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्"

समाधिसे चित्त विवेककी ओर झुकता है। विवेक क्या ? यही कि सुखदुःखादि प्रकृति का धर्म है मेरा नहीं। प्रकृति और मैं पृथक हूं। दोनोंका तादात्म्य नहीं है इत्यादि। इससे चित्त कैवल्य प्राप्त करने योग्य भी बनता है। वेदांत सिद्धांतमें समाधि आदि निदिध्यासनके अंतर्गत है।

अगर यह कहते हैं कि यह चौथी भूमिका भी बहुत भारी पड़ रही है । सुखी हू, दुःखी हूं ऐसा तादात्म्य हो ही जाता है । ध्यान रहे कि ज्ञानी तत्त्ववेत्ता सुख-दुःखका अनुभव करता है, किंतु मैं दुःखी हूं करके रोता नहीं है । अतः कमसे कम चतुर्थ भूमिकामें पहुंचना ही चाहिये । यदि वहां तक न पहुंच सके तो मननके द्वारा सुख-दु खको हल्का कीजिये । तनुमानसा पर आइये । वैसे आप दर्दके समय जैसे-तैसे भी वहांसे मनको हटाकर अन्यत्र मन लगावें तो सुख-दु ख कम प्रतीत होगा । परंतु यह कोई साधना नहीं है । परमात्मामें या वेदांत शास्त्रके अध्ययनादिमें यदि मन लगावें तो उभयकार्य सिद्धि होगी । बार-बार वेदांत शास्त्रका मनन करते रहेंगे तो बहुत कम प्रभाव सुख-सुःखका चित्त पर पड़ेगा । भक्त लोग आर्त्त होने पर भगवानको पुकारते हैं तो यह भी एक प्रकारकी तनुमानसा ही है । इससे मन कुछ हल्का हो जाता है । मन जितना घनीभूत होगा—गहन होगा उतने ही सुख-दुःखादि भी गाढ़ गहन हो जाते हैं । मनको हल्का बनानेका सुगम उपाय परमात्माका मनन चिंतन ध्यान है । इसलिये शास्त्रोंमें दुःखमें भगवत्स्मरण करनेका विधान किया है ।

यदि कहें कि निरंतर मनन-चिंतन करना भी अपने बसकी बात नहीं है । पूरे दिन-रातमे एकाध घंटा सत्संगके लिये और पूजा-पाठके लिये निकाला तो गनीमत समझ लो । ऐसी स्थितिमें क्या उपाय है ? तो द्वितीय भूमिकामें आ जाइये । द्वितीय भूमिका सुविचारणा है । हर समय विचार कीजिये । सुख-दुःखमें विचार कीजिये ।

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण

महाकवि कालिदासजी कहते हैं—ऐसा दुनियामें कौन है जिसको केवल सुख ही सुख मिला हो और ऐसा अभागा भी कोई

नहीं जिसके सिर पर जीवन भर दुःखोंके बादल ही मंडराते रहे हों। यह तो ऊपर-नीचे होते ही रहते हैं। दृष्टांत चक्रनेमिका दिया। चक्रका आरा जो ऊपर जाता है, वह वहांसे नीचे आता है, और जो नीचे है वह ऊपर आता है। यहां कौनसा चक्र है? यहां काल चक्र है, कर्म चक्र है, भाग्य चक्र है। संसार ही चक्र रूप है। आप स्वयं अनुभव कर लो। एक सरीखा समय कभी भी नहीं बीतता। भगवानने सृष्टिकी योजना ही ऐसी की है। एक दीवार बनाने जाओ तो क्या ईंट ही ईंटसे खड़ी करेंगे। थोड़ी ईंट फिर सिमेंट, चूना आदि माल फिर ईंट फिर माल, चूना, सिमेंट। माल ही माल एक ओर डालो दूसरी ओर ईंट ही ईंट रखो, ऐसा नहीं होता। वैसे संसारकी भी योजना है। सुख ही सुख हो ऐसा नहीं होता। दुःख ही दुःख जीवन भर में हो ऐसा भी नहीं होता।

एक आदमीने मुझसे संशय किया— महाराज एक बालक महलमें पैदा हुआ, करोड़पतिके फ्लेटमें पैदा हुआ, वहीं बड़ा हुआ, स्वयं सेठ बना और वहीं मरा। दूसरा एक झोंपड़ेमें पैदा हुआ, वहीं बड़ा हुआ और वहीं मरा। इनमें पहलेको तो केवल सुख रहा। द्वितीयको केवल दुःख रहा। तब यह वचन कैसा? चक्रनेमिक्रम कैसा? मैंने कहा—सेठकी बात छोड़ो, झोंपड़ेवालेकी भी बात छोड़ो। तुम अपनी बात कहो। तुम्हारी जिंदगी कैसे गुजरी और गुजर रही है? उसने उत्तर दिया —जैसे आप कह रहे हैं, वैसे बीती और बीत रही है। रोज ही रोज कुछ हँसनेको मिलता है और कुछ रोना भी पड़ता है। मैंने कहा— समझ लो यही सबकी दशा है—

पल्यङ्कसौध-चपलाव्यजनादितुल्य-
मिभ्यस्य हालिककुटीरजवत्कटानाम्
संसेव्यमानमधिकाय न तत्सुखाय
कष्टाय किन्तु परतस्तदलभ्यमानम्

एक ओर महल है, पलंग है, पंखा है, वातानुकूलित है। सेठको वहां जितना सुख मिलता है, उतना ही सुख हालिक मजदूरको झोपड़ेमें फटी चटाई पर भी मिलता है। झोंपड़ेवालोंको लगता है कि ये धनी बड़े सुखी हैं, क्योंकि कुछ धन उनके पास है और दिवाली आदिके ममय मिठाई लेकर खाते हैं तब बड़ा सुख प्रतीत होता है। परंतु यह चित्तका एक वेगमात्र है। पहले झोंपड़ेमें थे, फिर चालीमें आये तो थोड़े दिन चित्तमें एक वेग रहता है। जिससे सुख प्रतीत होगा। वेग जहां शांत हो गया वहां वही पूर्वावस्था फिरसे आती है। वैसे ही चालीसे उत्तम फ्लेटमें आने पर भी है। अधिक सुख तो कहीं है नहीं। और क्लेश भी सर्वत्र बराबर है। बल्कि गरीबोंमें उतनी बिमारी और शारीरिक दुःख नहीं जितना अमीरोंमें है। मानसिक व्यथा भी अमीरोंमें अधिक हो सकती हैं। अमीरोंसे पूछो तो वे भी कहेंगे—आज कल हम भारी कठिनाईमें पड़ गये हैं। इससे कैसे निकलें ? एक चक्र नीचे तलेमें घूम रहा है। दूसरा चक्र पहले मालेमें तीसरा चक्र दूसरे मालेमें। इसमें देखनेके लिये चक्र नीचे ऊपर है। किंतु घूमना एक जैसा ही है। सर्वत्र आपेक्षिकता है। वैसे तो देखनेमें ऊपर मालेमें जो चक्र घूम रहा है, उसकी धुरी नीचे आती है तो भी नीचे मालेके चक्रकी ऊपरी धुरीसे ऊपर ही है, ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन ऊपर जो खड़ा है, उसके लिये यह फरक कोई महत्व नहीं रखता। चालीस रुपया तनखा पानेवाला कहता है सौ के बिना गुजारा आज कल असंभव है। चार सौ पानेवाला कहता है हजार के बिना आजकल गुजारा असंभव है। फासला एक ही है।

द्वितीय भूमिकामें रहकर विचार करो, जब दुःख होता है। वैसे तो विचार सुखमें भी करना चाहिये और अधिक करना चाहिये। किंतु दुःखका ही प्रश्न लोग अधिक उठाते हैं, अतः दुःखमें विचार करो।

**"अवश्यंभावि भावानां प्रतीकारो भवेद्यदि
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः"**

जो पूर्व प्रारब्धसे अवश्यंभावी होकर आनेवाले हैं उनका प्रतीकार कभी हो ही नहीं सकता। यदि हो सकना हो तो नल रामादि दुःखी न होते। सत्ययुगमें नल नामका एक राजा था। नलके बातोंमें बड़ी-बड़ी कहानियां है। वह बहुत बडा वैज्ञानिक हुआ। प्रथम भोजन पका कर खानकी कलाका आविष्कार नलने ही किया था। 'नलपाल' नामका ग्रंथ आज भी उपलब्ध होता है। नलके पास विज्ञान था और सिद्धि भी थी। संकल्पसे वे अग्नि जला सकता था। तन्त्र मन्त्रादि विद्याका वह विशेष वेत्ता था। उसकी मनोहर कथाके बारेमें महाकवि श्री हर्ष कहते हैं—

**निपीय यस्य क्षितिदक्षिणः कथा
स्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः
स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥**

राजा नलकी कथा चरित्र ऐसा मनोरम था कि उसे सुनते समय देवता लोग अमृतको भी भूलने लगते थे। तेजस्विताका मानो भंडार ही था। अनेक-अनेक गुण एवं शक्तियोंके होने पर भी जुआमें हारकर नलको जंगल जाना पड़ा। अपनी पत्नी दमयन्तीका वहां भी वियोग हुआ। मजदूर जैसे किरात जैसे उसको भटकना पड़ा। कर्कोटक नामक सांपने काटा। सारा शरीर नीला पड़ गया। महान क्लेश पाया। उसकी ऋद्धि सिद्धि सभी धरी रह गयी। यह भावी था। भावीका परिहार संभव होता तो नल उसका प्रतिकार न करता?

और आगे बढ़कर त्रेतायुगमें देखो। रामको तो साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम ही मानते हैं। राम पूर्णावतार है। कर्त्तुंमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ है। किंतु मानव शरीरमें आते ही मानव नियमके अंदर

जकड़ गये । रामको भी राज्य छोड़कर वनमें जाना पड़ा । आप रामायण पढते हैं तो वनवासका प्रसंग मामूली प्रतीत होता है। आपको ऐसा लगेगा कि जंगल गाँव जैसा ही है। वहां ऋषि मुनि झोंपड़ी बनाकर रहने रहे होगें और रामजी भी जाकर रहे। किंतु एकबार हिमालय जंगलमें जाकर देख आना। आज कल जंगल कम हो गये हैं । फिर भी नर्मदा तटपर शूलपाणिकी झाड़ी आदि अभी भी है । रास्तेमें कांटे रहते हैं । शेर भालू दहाड़ते रहते हैं। भयानक दृश्य होता है । वहां बंबईका बगीचा नहीं। घोर जंगल, जहां सांप बिच्छू आदिकी कोई गिनती नहीं होती। कच्चा पक्का फल एकाध दिन खाओगे, परंतु दो चार दिनमें ही बम बुल जायेगी हम भी चार छः महीने जंगलमें रहकर आये हैं। सोचा था बढ़िया-बढ़िया कंदसूल खायेंगे । किंतु क्या हाल हुआ ! शरीर गिरता गया, गिरता गया । दो महीनेके बाद बुखार चढ़ा। कैसी भयानक स्थिति यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। कष्ट रामको भोगना पड़ा । फिर ऊपरसे सीता वियोग भी हुआ । साक्षात् भगवान होकर भी इन सब दुःखोको नहीं मिटा सके। रामके साथ ये सब दुःख लक्ष्मणको भी भोगना पड़ा । अवश्यंभावीका प्रतीकार नहीं होता। यदि होता तो भगवान राम उसे मिटाते ।

इसके बाद द्वापरमें चलिये। ये ही तीन तो उत्तम युग माने जाते हैं । वहां धर्मराज के अवतार युधिष्ठिरको जो दुःख भोगना पड़ा उसका वर्णन महाभारतमें हैं। बारह वर्ष तक पांडव बनमें भटकते रहे, ऊपरसे एक वर्ष का अज्ञातवास भी । उस बीचमें क्या-क्या भयकर घटनायें होती रहीं, यह महाभारतसे ही जाना जा सकता है । युधिष्ठिर इन सबका प्रतीकार नहीं कर सके। इतना ही नहीं । पांडवोंके परममित्र पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्णचंद्र थे। स्मरण करते ही दौड़ दौड़कर आते थे। वे भगवान भी पांडवोंका वनवास कष्ट मिटा न सके। जब इन महापुरुषोंकी यह

स्थिति है तो मैं किस खेतकी मूली हूं ? ऐसा सोचकर 'सुख-दुःखमें सम रहना चाहिये ।

तृतीय भूमि मनन और द्वितीय भूमि विचारमें क्या अन्तर है ? अन्तर यह है कि तृतीय भूमिमें सुख-दु.खको मनन द्वारा हलका किया जाता है। सुदामाजी मननशील थे। भगवानके दर्शनके लिये वे द्वारिका गये. किन्तु भगवानने प्रत्यक्ष कुछ भी उनको नहीं दिया। तब वे रास्तेमें यही सोचने लगे —

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात् ।।

मैं भगवानकी यह बड़ी दया समझता हूँ कि प्रभुने मुझे धन नहीं दिया. क्योंकि निर्धन व्यक्ति एकाएक धन पाता है तो मदोन्मत होता है और भगवानको भी भूल जाता है। निश्चित है, इसी कारण प्रभुने मुझे धन नहीं दिया। किंतु सुदामाजी घर पहुँचे तो वहाँ का वैभव देखकर हक्का बक्का रह गये। बोलने लगे, यह सब प्रभुकी माया है। मुझसे सत्कर्म करानेके लिये प्रभुने यह धन दिया। दानो परिस्थितियोंमें सुदामाका विचार कितना ऊँचा ? धनकी अप्राप्तिको भी उन्होंने हल्की और प्राप्तिको साधारण बना दिया। अप्राप्तिके दुःखको भी उन्होंने सुखमें परिणत करनेका प्रयास किया। और प्राप्तिको जिम्मेदारीके रूपमें परिणत किया। मननके द्वारा स्वरूपमें ही परिवर्तन कर दिया जाता है। किन्तु विचारमे ऐसा बात नहीं है। विचारमे स्थित गति चिन्तन है "स्थितस्य गतिश्चिन्तनाया" ऐसा एक न्याय है। सुख आया और दुःख भी आया। तो अब क्या करना ? सुख सुख ही है, दुःख दुःख ही है। यही कि ये अवश्यभावी होनेसे आ गये ।

विचारके अनेक प्रकार हैं। एक यही हुआ कि अवश्यंभावी होनेसे दुःख आया। दूसरा यह कि इस दुःखमें भी भगवानका कुछ रहस्य

होगा। भर्तृहरिको पिंगलाका भारी दुःख हुआ। प्राणप्रिया पिंगलाको जब उन्होंने चरित्रहीन पाया उस समय भर्तृहरिके हृदयमें कितना भारी धक्का लगा होगा, यह अन्दाज करना कोई कठिन काम नहीं है। आज भी परहत्या-आत्महत्या तक उसका परिणाम देखनेमें आता है। भर्तृहरिके लिये यह महादुःख वैराग्यका हेतु बना। महान श्रेयका मार्ग बना। वे बोल रहे थे —

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत् कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

कथा लम्बी प्रसिद्ध है। उस दुःखके कारण भर्तृहरि विरक्त हुए— महायोगी सन्त बने। अन्तमें कहा, हे पिंगले, तू मेरी गुरु है। तेरे स्थान पर कोई सुखदायिनी पत्नी होती तो आज मैं सन्त न बनता।

विचारका दूसरा तरीका कुन्ती माताका है। वे विपत्तिको सर्वोत्तम साधन मानती थीं। श्रीमद्भागवतमें श्लोक आया है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

भगवानने द्वारिका जाते समय युधिष्ठिरसे पूछा—क्या वरदान चाहिये ? युधिष्ठिरने कहा—हमारा स्वाराज्य रहे, प्रजा प्रसन्न रहे। तथास्तु कहकर फिर भीमसेनसे पूछा क्या वरदान चाहते हो। भीमसेनने गदा तानकर कहा, कोई भी शत्रु हमारे राज्य पर आक्रमण करे तो उसके मस्तक को यह मेरी गदा द्विधा करे। तथास्तु कहा। फिर अर्जुनसे पूछा—क्या वरदान चाहते हो ? अर्जुनने कहा—कोई भी दुष्ट टेढ़ी नजरसे हमारे राज्य पर निगाह डाले तो यह गांडीव धनुष उसका सिर उड़ा दे। ऐसा ही वरदान नकुल, सहदेव और द्रौपदीने भी मांगा। किन्तु जब कुन्ती मातासे पूछा तो उन्होंने—विपदः-

सन्तु नः शश्वत इत्यादि कहा। हे भगवन्! हमें बार-बार विपत्ति मिले, यही वरदान दो। भगवानने कहा, बुवाजी! यह वरदान है कि श्राप? कुन्ती माताने कहा यही श्रेष्ठ वरदान है। पूछा—क्यों? कैसे? माताने कहा— भवतो दर्शनं यत्स्मात्। जब कभी हमें विपत्ति आयी, हमने आपको पुकारा। पांडवोंकी पूरी आयु विपत्तिमें बीती। बीच-बीचमें आपको पुकारते थे तो आप दौड़-दौड़कर आते थे। किन्तु अब युधिष्ठिर राजगद्दी पर बैठ गया। सारी विपत्ति खतम हो गयी। अब मुझे भय हो रहा है कि आपको ये पुकारेंगे नहीं और आपका दर्शन भी दुर्लभ हो जायेगा। भगवानका दर्शन कैसा? 'अपुनर्भव-दर्शनं'। पुनः संसार दर्शन जिससे करनेकी नौबत नहीं आयेगी। कुन्ती माता विपत्तिको इसी रूपमें देखती थीं। यह सब विचार प्रणाली है। किसी भी रीतिसे विचार करो, सभी स्थितप्रज्ञताकी ओर ले जानेवाली है।

प्रश्न हुआ कि यह द्वितीय भूमिका भी यदि शक्य नहीं तो क्या करना चाहिये? कोई और भूमिका? यही भूमिका कि बैग लेकर फाईल आदिके साथ सट्टा बाजारमें या और जगह जाना चाहिये और कालेको सफद या सफेदको काला करते रहना चाहिये। प्रथम भूमिका शुभेच्छा-इच्छा मात्र है। साधन तो इच्छाके बाद जो किया जाता है, उसको कहते हैं। प्रथम भूमिका और सप्तम भूमिका साधन नहीं है।

ये पाँच साधन क्रमिक हैं। प्रथम पूर्वोक्त रीतिसे बार-बार विचार कीजिये। फिर आगे बढ़कर मननसे सुख-दुःखको ही हलका कीजिये। उसके बाद सुखादि संसर्गाध्यासको मिटाईये अर्थात् सुख-दुःख संसर्गको मिथ्या समझिये। इसके बाद सुख-दुःखको ही मिथ्या समझिये। अन्तमें समाधिसे आत्मानन्द मग्न होकर सुख-दुःखके प्रति भासको मिटाईये। इस प्रकार दुःखमें और सुखमें सर्वथा उद्वेग रहित एवं स्पृहा रहित होने पर प्रज्ञाकी पूर्ण स्थिरता होती है। वही जीवन्मुक्त है।

समुद्रमें ज्वारभाटे आते हैं। कभी समुद्र ऊपर आता है, कभी नीचे जाता है। सुख-दु:ख भी इसी प्रकार है। सुखके आनेपर प्रज्ञा भरी सी होती है और दु:ख आनेपर मानो प्रज्ञा सूख जाती है। इस प्रकार जो ऊपर नीचे होती रहती है, उसमें स्थिरता कभी संभव नहीं। अतः स्थितप्रज्ञ होनेके लिये सुख-दु:खमें स्पृहा एवं उद्वेगरहित होना चाहिये यही "दु:खेष्वऽनुद्विग्नमनाः" इत्यादि पूर्वार्धका सारांश है।

वीतरागभयक्रोधः। अब उत्तरार्धकी ओर ध्यान केन्द्रित कीजिये। राग, भय एवं क्रोध इन तीनोंको जिसने त्यागा हो वही स्थितप्रज्ञ होता है। क्यों इन तीनोंका ही नाम लिया गया? जबकि ईर्ष्या, असूया, दंभ, अहंकार, दर्प, अभिमानादि अनेक दोष भी त्याज्य हैं। शायद ऐसा हो कि श्लोकमें जितने आ गये उतने बोल गये। नहीं। भगवानने अर्जुनको श्लोक बद्ध नहीं कहा था। श्लोक बद्ध तो व्यासजीने किया। उसमे भगवानने जितना कहा होगा, उतना पूरा ही आना चाहिये। छन्दकी पूर्तिके लिये व्यासजीने च, तु, एव च, इत्यादि कुछ शब्द जोड़े हैं। अन्य पूरा ही भगवन्मुखसे निकले ही शब्द है, ऐसा सनातन सिद्धांत है। अतः निश्चित है कि किसी विशिष्ट अभिप्रायसे तीनका ही उल्लेख है। अस्तु। इस पर अन्तमें विचार करेंगे। प्रथम हम इन तीनोंके अर्थके बारेमे ही विचार करें।

रागको त्यागना चाहिये। राग स्थितप्रज्ञता विरोधी है। किस प्रकार? परम्परया। जहाँ राग होता है, वहाँ अभाव बुद्धि होती है। नव्यन्यायके महान ग्रन्थ चिन्तामणिकी व्याख्यामें महानैयायिक दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि लिखते हैं —

"सिद्धे नेच्छा असिद्धे हीच्छा भवति"

सिद्ध अर्थात् प्राप्त वस्तुमें इच्छा-राग नहीं होता। इच्छा हमेशा अप्राप्तमें ही होती है। आप कहेंगे—पत्नी प्राप्त हो गयी, पुत्र प्राप्त हो गया फिर भी उनमें राग होता है। दीधितिकार कहते हैं—पत्नी

पुत्रादिसे उत्तरोत्तर सुखकी अपेक्षा रहती है। राग बीते सुखको या वर्त्तमान सुखको लेकर नहीं होता। किन्तु वर्त्तमानमें अप्राप्तभावी सुखकी अभिलाषा है, उसीसे राग है। सुख क्षण-क्षणमें बदलता रहता है। अत: वर्त्तमानमें भावि सुखका जो अभाव है, उसीको लेकर राग हो रहा है जहाँ अभाव बुद्धि है, वहाँ तृप्ति नहीं है, यह समझ लेना चाहिये। तृप्ति होने पर अभाव बुद्धि नहीं होती। भोजनसे तृप्ति हो गयी तो अभाव बुद्धि नहीं और अभावपूर्त्यर्थ राग भी नही होता। तृप्तिका अभाव होता है, पूर्णताके न होनेसे। इसीलिये कहीं-कहीं पूर्णताका ही अर्थ तृप्त किया गया है।

ॐ नम: सर्वभूतानि विष्टभ्य परितिष्ठते।
अखण्डानन्दबाधाय पूर्णाय परमात्मने ।।

इस दीधिति श्लोककी व्याख्यामें नैयायिक शिरोमणि गदाधर भट्टाचार्यने लिखा है पूर्णाय-तृप्ताय। पूर्ण मान तृप्त। पुराने जमानेके ब्राह्मण भी भोजन होने पर पूरण-पूरण जजमान बोलते थे। वस्तुत: पूर्णता तृप्तिमें कारण है। पूर्णताके अभावमें तृप्ति नहीं होती। पूर्णता क्यों नहीं ? जबकि आत्मा स्वयं पूर्ण है, "पूर्णाय परमात्मने" बताया गया। श्रुति भी कह रही है -"पूर्णमद: पूर्णमिदं"। तब पूर्णता क्यों नहीं ? अज्ञानसे। अज्ञानके कारण विद्यमान भी पूर्णता अविद्यमान सी हुई। उस अपूर्णतासे अतृप्ति हुई। अतृप्तिसे अभाव बुद्धि आ गया। अभाव बुद्धिसे राग हुआ। मूल कारण-अविद्या है। अज्ञान है। अज्ञान जहाँ है, वहाँ प्रज्ञा कहाँ ? स्थितप्रज्ञता तो दूरकी बात रह जाती है। इसीलिये आचार्य पादने लिखा है—"रागो लिङ्गमबोधस्य" राग अज्ञानका चिह्न है—निशानी है। कार्य कारणकी निशानी होती है। धूम अग्निका लिङ्ग है। वैसे राग अज्ञानका लिङ्ग है। अनुमापक है यह राग, जिसमें नहीं उसे स्थितप्रज्ञ पहचानो। यहा 'वीतराग' इतने अंशका अर्थ हुआ।

दूसरा भय है। यह भी त्याज्य है। भय क्यों होता है ? भय अनेकोंसे होता है। शेर व्याघ्रादिसे भय होता है। भोंकते कुत्तेंसे भय होता है। प्रबल शत्रुसे भय होता है। यहाँ तक कि मच्छर, खटमलसे भी भय होता है। भय क्यों होता है ? इसका शास्त्रीय उत्तर है —

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्"

द्वितीयके अभिनिवेशसे भय होता है। श्रुति भी यही कह रही है—द्वितीयसे भय होता है —

"द्वितीयाद्वै भयं भवति"

द्वितीयसे भय होता है। कहाँ-कहाँसे डरना चाहिये ? नीतिकार कहते हैं —

नदीनां नखिनां चैव शृङ्गिणां शस्त्रधारिणाम्।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥

इनसे डरो। अभय होकर मत बैठो। नदीसे डरो, कहीं तुम्हारा घर ही उजाड़ न ले जाय। नाखून वालोंसे डरो। नहीं तो कभी नाखून मारेंगे। सींगवालोंसे डरो। कभी सींग मार दिया तो ? हाथमें चाकू, लाठी आदि लिये हो तो उससे डरो। घरमें स्त्रियोंसे डरो। नहीं तो वे परेशान कर डालेंगी। राजकुलसे डरो, नहीं तो वह तुम्हारा घर ही उजाड़ देगा।

न विश्वसेत् कुमित्रे च मित्रे चापि न विश्वसेत्।
कदाचित्कुपित मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत् ॥

कुमित्र पर विश्वास न करो। उससे डरते रहो। क्योंकि सामने वे मीठी-मीठी बात बोलेंगे और पीठ पीछे छुरा भोंकेंगे। और मित्रका भी विश्वास न करो। उससे भी डरो, क्योंकि मित्रको तुम्हारी सारी बातें मालूम रहती है। गोपनीय बातोंका भी उन्हें पता रहता है। कभी मित्रसे बिगड़ गया तो ? तो वह तुम्हारी सारी पोल खोलेगा। भारी मुसीबतमें डालेगा। इस प्रकार कहते-कहते कहाँतक पहुँच गये ?

किसको छोड़ा ? सबसे डरनेकी बात हो गयी। कुमित्रसे भी डर; मित्रसे भी डर, तब अभय कहाँ है ? श्रुति कहती है द्वितीय मात्रसे भय होता है। अभय तो अद्वैतमें है। अद्वैत बोध देकर राजा जनकको याज्ञवल्क्यने यही कहा कि हे जनक इस अद्वैत ज्ञानसे तुम अभय प्राप्त हो गये हो —

"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि"

अद्वैतको प्राप्त हुए बिना अभय वास्तविक नहीं होता। हां, अवास्तविक अभय होगा। परंतु वह जड़तासे। उस जड़ताको मिटानेके लिये 'न विश्वसेत् कुमित्रे च' इत्यादि भय दिखाया। पहले भय समझो, फिर अंतमें अद्वैत भावमें आकर अभय प्राप्त करो। अब यहां भी परम्परया देखो। भय होता है किससे ? द्वैतभावसे। द्वैत-भाव क्यों होता है। यह द्वैत प्रपञ्च क्यों दीख रहा है ? भ्रांतिसे। भ्रांति क्यों हुई ? आत्माके अदर्शनसे।

"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"

एकत्व दर्शन होने पर शोकमोह भयादि नहीं रहते। एकत्व-दर्शनाभावसे द्वैत प्रपञ्च विभ्रम हुआ। उससे द्वितीय सामने आया, तब द्वितीयसे भय होने लगा। इसके मूलमें एकत्वदर्शनका अभाव है। एकत्वदर्शन ही प्रज्ञा है। वही हीं तो स्थितप्रज्ञता कहांसे आयेगी। अतः भयाभाव स्थितप्रज्ञका लक्षण है।

तीसरा क्रोध है। यह भी त्याज्य है। स्थितप्रज्ञताका विरोधी है। रागको लोग छोड़ते हैं। भय भी छोड़ देते हैं, किंतु क्रोध नहीं छूटता। लोग प्रश्न करते हैं कि लड़के काम बिगाड़ते हैं. कहना नहीं मानते तब क्रोध आता है। हम गुस्सा करते हैं, यह तो छोड़ना मुश्किल है। आजकी यह बात नही है। पहलेके ऋषिमुनि भी तो क्रोध करते थे। दुर्वासा ऋषिका नाम ही एक जगह लिखा है— "परमक्रोधनो मुनिः"। अगत्स्यजी द्रविड़राज इन्द्रधुम्न पर क्रुद्ध

हुए। नारदजी नलकूवर मणिग्रीव पर क्रुद्ध हुए और श्राप दिया। इसका उत्तर है। राजा परीक्षितने ही प्रश्न किया था—

येन वा देवर्षेः तमः

देवर्षिको तमोगुणरूपी क्रोध कहांसे कैसे आया? इसका उत्तर वहीं प॰ दिया है। देवर्षिको तम नहीं हुआ था। क्रोध दो प्रकारका होता है। एक सात्विक क्रोध है और दूसरा तामस क्रोध है। सात्त्विक क्रोध दूसरोंकी भलाईके लिये, पर उद्धारके लिये होता है। तामस क्रोधपर अपकारके लिये, अपने अहंकी रक्षाके लिये होता है। देवर्षि नारदने नलकूबरको और मणिग्रीवको श्राप दिया, उनका अभिमान नष्ट करनेके लिये और द्वापर युगमें भगवानका दर्शन करानेके लिये। अगर वे अर्जुन वृक्ष न बनते तो भगवानका दर्शन और स्पर्श उनको कैसे प्राप्त होता? ऋषि महर्षियोंका क्रोध एवं शाप इसी ढंगका होता था। दूसरोंको बिगाड़नेके लिये नहीं। इसीप्रकार घरमें बच्चों-पर गुस्सा करते हैं तो उनको सुधारनेके लिये या बिगाड़नेके लिये। किसी नौकर पर गुस्सा किया, उसको थप्पड़ मारकर बाहर निकाला, यह क्रोध है। लेकिन बच्चोंको सुधारनेके लिये उसपर गुस्सा किया। यह सात्त्विक क्रोध है।

परन्तु ध्यानमें रखना चाहिये कि हमेशा सात्विक ही क्रोध नहीं होता। प्रथम बच्चेपर वात्सल्यभाव था। अतः सात्त्विक क्रोध था। किंतु बड़े होनेपर पहलेकी आदतसे हुक्म करेंगे। तब वह नहीं मानता है तो जो क्रोध होता है वह सात्विक न होकर कभी राजस और विशेषकर तामस भी होने लगता है। सात्विक क्रोधमें अंदरसे क्रोध नहीं प्रेम होता है। बाहरसे क्रोध होता है। राजससे अंदरसे अहं होता है। तामसमें भीतर बाहर एकरस क्रोध ही क्रोध होता है। ऋषि मुनियोंको अदरसे क्रोध नहीं होता था। अंदरसे तो विश्वप्रेम ही झरता था। वह गलत काम करनेवालोंपर क्रोधरूपमें प्रतीत होता

था। किन्तु साधारण व्यक्तिके लिये सात्विक क्रोध भी कमसे कम करनेका प्रयास करना चाहिये। क्योंकि पता नहीं कि कब वह सात्त्विक क्रोध तामस रूपमें परिणत हो जायेगी।

तामस क्रोधके मूलमें 'अहं' छिपा हुआ रहता है। यह मेरे सामने क्यों झूठ बोला ? यही तो क्रोध है। नौकरने मेरा कहना क्यों नहीं माना ? यही तो क्रोध है। यह 'मैं' ही अहं है, अहंकार है। शत्रुपर क्रोध होता है, उसे अपने अधीन रखने, या उसका अस्तित्व मिटानेके लिये। यह 'अहं' ही हुआ। शत्रु न रहे, मैं ही मैं रहूं। इसीलिये बड़े लोग छोटोंपर क्रोध करते हैं। छोटे-बड़ोंपर बहुत कम क्रोध करते हैं। यह अहंकार क्या है ? शरीर आदि तादात्म्य पूर्वक शरीरादि गुणोंका आत्मामें अध्यास करना अहंकार है। धन, बल, पद, अधिकार आदि शरीरादि धर्म है। उनको आत्मामें अध्यस्त किया। अध्यासका कारण आत्मानात्मविवेकाभाव है। आत्मानात्मा-विवेकमें अज्ञान कारण है। अज्ञानसे अविवेक, अविवेकसे शरीरादि-तादात्म्याध्यास, उससे शरीरादिगुणाध्यास, उससे अहंकार, उसपर ठेस आने पर क्रोध आता है। यहां भी शृङ्खला है। मूल तो अज्ञान और अविवेक है। अविवेककी स्थितप्रज्ञ कैसे हो सकेगा ? राग, भय और क्रोध ये तीन हैं। इनमें प्रथम राग पूर्णताका विरोधी है। अभाव होनेसे, अपूर्णता होनेसे राग हुआ। द्वितीय भय अद्वैतका विरोधी है। द्वैत भावसे भय हुआ। तृतीय क्रोध अपरिच्छन्नताका विरोधी है। परिच्छिन्नभावसे अहं आया और उसपर ठेस पहुंचनेसे क्रोध हुआ। स्थितप्रज्ञ अपरिच्छिन्न अद्वैत परिपूर्ण भावसे रहता है। अतः ये तीनों दोष उसमें नहीं होते।

साधकको इन तीनोंका प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये। क्योंकि कार्यके प्राबल्यसे कारण मजबूत होता जाता है। क्रमशः इनके परिणामोंपर विचार करो तो यह बात स्पष्ट होगी। राग हमेशा ही बहुशाखा एव अनंत होता है। पत्नी पर राग है। पुत्र पर राग

है। उसको लेकर गृह पर राग हुआ। गृह होनेसे ही गृहस्थ है। गृहमें राग हुआ तो घरमें हजारों सामानोंकी जरूरत होती है, उन सबपर राग हुआ। बरतन, भांड़ा, कपड़ा, लत्ता, पलंग, बिस्तरा, घड़ी, कुर्सी आदि सबपर राग हुआ। यही बहुशाखा अनंताका मतलब है। मुख्य शाखा और उसकी प्रशाखायें अनंत होती हैं। उससे अभाव बढ़ता ही जाता है। पहले पत्नी पुत्रका अभाव था। अब हजार अभाव हुए। अभाव जहां है, वहां कभी तृप्ति संतोष नहीं होगा। इस प्रकार अतृप्त पुरुष हमेशा अपूर्ण ही रहता है। स्थितप्रज्ञ परिपूर्ण होता है। उसका यह ठीक उलटा है।

भयका भी परिणाम देखो। जहाँ भय अंदर घुमा, हर जगह उसको भय कारण ही नजर आता है। कहावत प्रसिद्ध है—दूधका जला छांछ भी फूंक-फूंककर पीता है। एक बार कोई भूनसे डरा तो जहाँ रात हुई, वहाँ अंधेरेमें डरता ही रहता है। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा—

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा

द्वैत अविद्यमान होनेपर भी प्रतीत होता है। केवल बुद्धि वितर्क इसमें कारण है। अत्यंत अविद्यमान भूतको लेकर द्वैत प्रसक्त हुआ तो सिंह, व्याघ्र, नदी, नखी, शृंगी, आदिको लेकर द्वैत क्यों नहीं होगा? द्वैत एक सामान्य रूपसे होता है। भयभीतका द्वैत विशेष रहता है। अतः अद्वैत भावरूपी स्थितप्रज्ञताके लिये भय परित्याग करना भी परम आवश्यक है।

क्रोधका भी परिणाम विचारणीय है। न्यायभाष्यमें महर्षि वात्स्यायनने बताया है—**प्रज्वलनात्मकः क्रोधः**। क्रोध एक अग्नि है। जैसे स्थूल अग्नि स्थूल काष्ठको जलाती है, वैसे यह हृदयमें स्थित सूक्ष्म अग्नि है। वह सूक्ष्म इंधनको जलायेगी। स्थूल अग्नि स्थूलको जलाती है और सूक्ष्म अग्नि सूक्ष्मको जलाती है। क्रोधाग्नि विवेक

शक्तिको जलाती है। क्रोध अग्नि है, इसकी पहचान क्या ? देखो, कोई आदमी आगके पास नहीं जाता, एक दिन सहसा भट्टीके पास जाना पड़ा। जहाँ आग जल रही थी, धुआं निकल रहा था। वहां सर्वप्रथम प्रभाव किसपर पड़ता है, देखो। सबसे पहले आखें जलने लगती हैं। आंखे लाल हो जाती है। क्रोधमें भी यही स्थिति है। क्रोध आनेपर आंखे लाल-लाल होती हैं। अतः एव क्रोध अग्नि है। जब यह अग्नि है तो अग्निका स्वभाव उसमें रहेगा ही, कुछ न कुछ वह जलायेगा। क्या जलायेगा ? प्रसिद्ध ही है कि क्रोधीमें विवेक नहीं रहता। क्रोधी मनुष्य माता-पिता-गुरुको भी गाली देगा, ताड़न तक भी करेगा। क्रोधसे विवेक शक्ति नष्ट होती है तो विचार बराबर नहीं कर सकेगा। विचारके बिना वस्तु सिद्धि नहीं हो सकेगी। 'वस्तु-सिद्धिर्विचारेण'। वस्तु अर्थात् वास्तविक तत्त्व ब्रह्मात्मैक्य, वह विचारके विना सिद्ध नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान न हो तो स्थितप्रज्ञता संपादन कैसे हो। इस प्रकार ये तीन दोष परित्याज्य है, यह बात दी गयी।

अब हम प्रथम प्रश्नके उत्तरार्थ ही कुछ विचार आगे करेंगे। प्रथम पूछा था कि इन तीन ही दोषोंको छोड़नेके लिये क्यों कहा ? दोष तो और भी बहुत सारे हैं। हैं अवश्य, किंतु ये तीन ही मुख्य हैं। यही समझनेके लिये थोड़ा ऊपरसे और विचार करो। आगे बताया है— स्थितधीर्मुनिरुच्यते'। 'मुनि' एक विशेषण ज्यादा दिया है। मुनिका अर्थ बताया है—"मुनिरध्यात्मवित्" मुनि अर्थात् आत्मज्ञानी, ब्रह्मवेत्ता। ऋषिका अर्थ बताया है—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। जिन्होंने मंत्रोंका समाधिमें दर्शन किया, वे ऋषि। किंतु ब्रह्म तत्वको जो यथावत् जाने वही मुनि है। मुनीनामप्यहं व्यासः" "महर्षीणां भृगुरहं" ऐसा दोनोंको पृथक बताया है। अस्तु। मुनि शब्दका अर्थ अध्यात्म-वित् हुआ, तो यह पद अविद्यानिवारण सूचक होता है। क्योंकि अविद्याकी विरोधी विद्या है।

"विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत्"

ऐसा बताया है। जैसे तेज अन्धकारका विरोधी है, वैसे विद्या अविद्याकी विरोधी है। अतः मुनि शब्दका अर्थ है, निवृत्ताऽज्ञानः, निवृत्ताऽविद्यः। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' इत्यादि पूर्वार्धकी व्याख्यामें हमने बताया था कि दुःखमें उद्वेग और सुखमें स्पृहा क्यों होती है? इसलिये कि इनके साथ तादात्म्य कर लेते हैं। अनुद्वेग आदिके लिये या तो दुःखादि का प्रत्यय ही मिटा दो. या फिर उन्हें मिथ्या समझो, या फिर सुख-दुःखका आत्माके साथ जो तादात्म्य है, उसका आध्यास छोड़ो। सुख-दुःखके साथ तादात्म्य कर हम जो यह बोलते हैं, अहं सुखी, अहं दुःखी, यही अस्मिता है। महर्षि पतञ्जलिने बताया है—

"दृग्दृश्ययोरेकात्मतेवास्मिता"

दृक्आत्मा और दृश्य प्रकृति अन्तःकरण तद्धर्मादि इनका परस्पर तादात्म्यसा जो हो गया है, यही अस्मिता है। दृश्योंमें प्रथमोपस्थित सुख और दुःख हैं। अंतःकरणको और प्रवृत्ति को किसने देखा? अंतःकरण धर्मोंको तो देख लेते हैं। अति निकट सुख-दुःख हुए। शरीरादि तो बादके हैं। अतः दुःखेष्वनुद्विग्नमना इत्यादिसे 'निवृत्ता-स्मिताकः' यह अर्थ आता है। तब बीतरागभयक्रोधः इन तीनोंको मिलाने पर पांचकी निवृत्ति आ जाता है। इन पांच को ही योगरूपमें क्लेश रूपमें परिगणित किया है—

"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशः"

मुनि पदसे अविद्याकी निवृत्ति, दुःखेष्वनुद्विग्मनाः आदिसे अस्मिताकी निवृत्ति, वीतरागसे शब्दतः राग निवृत्ति, द्वेष विशेष क्रोध है, अतः वीतक्रोधः से द्वेषकी निवृत्ति और वीत अभिनिवेश माने भय की निवृत्ति ये पांचो यहां बताये गये हैं। इसीलिये रागादि तीनकी परिगणना है। अतएव अब नये सिरेसे फिरसे थोड़ा विचार करना आवश्यक हो गया।

मुनि बनो यह एक साधन है। अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति करो। अविद्या क्या है? अतस्मिंस्तद्बुद्धिः। केवल अज्ञान नहीं। किंतु भ्रांति ज्ञानको अविद्या बताया।

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"

यह अविद्यास्वरूप प्रतिपादक सूत्र है। विस्तृत व्याख्या योगसूत्रमें ही द्रष्टव्य है। संक्षेपमें यहां यही कहना है कि इन मुख्य भ्रांतियोंको बार-बार विचार कर हटाओ। जो हम अनित्य वैभवादिको नित्य समझते हैं, उस भ्रांतिको मिटावो।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः

अनित्य शरीरको नित्य मत समझो और पाप मत करो। अशाश्वत वैभवको शाश्वत मत समझो और अभिमान मत करो। मृत्यु नित्यसन्निहित है। उसे दूर समझनेकी गलता मत करो, धर्म संग्रह करो। इसी प्रकार अशुचि शरीरको शुचि मत समझो। दुःख रूपी संसारको सुख रूप मत सोचो। अनात्मभूत शरीरेन्द्रियमन-बुद्धिको आत्मा समझनेकी भूल मत करो। इतना अभ्यास करो तो अविद्या निवृत्त होगी। तब वह मुनि होगा। अविद्यारहित होगा।

फिर दुखोंमें अनुद्विग्न और सुखोंमें निस्पृह रहनेका प्रयत्न करो। यह द्वितीय साधन है। सुख और दुःखके साथ विशेष तादात्म्य मत करो। सुखमें अपने आपको धन्य-धन्य समझने लगते हैं, दुःखमें रोते हैं। ये दोनों ही दृग् और दृश्यके तादात्म्य अध्यास ही रोते हैं। दृष्टा होकर देखते जाओ। जैसे पहले बताया वैसे सुख-दुःखको अपनेसे अत्यंत पृथक् देखो। वैसे तो शरीरादिसे भी पृथक् देखना चाहिये। वह भी अस्मिता है। किंतु स्थितप्रज्ञता के लिये मुख्य सुख-दुःख तादात्म्यनिरास है। अतः विशेषरूपेण सुख-दुःखका नाम लिया। तब वह अनुद्विग्न निःस्पृह होकर अस्मितारहित होगा।

तृतीय साधन है रागका परित्याग। यद्यपि सुखमें विगतस्पृह कहनेसे रागाभाव आ जाता है। किंतु रागाभावके लिये एकात्मता-रूपी तादात्म्य मिटानेसे अतिरिक्त भी साधन करना चाहिये। राग लक्षण है—

"सुखानुशयी रागः"

सुखानुभवके बादमें राग और उत्तर सुखानुभव के लिये होता है। अतः उसको 'सुखानुशयी, कहते हैं। इसके लिये पृथक साधन है सुखको विशेष महत्व न देना। शब्द स्पर्शादि विषय सुखमें उदासीनता ही उत्तम है। आयेका भारी संमान नहीं, गयेका अफसोस नहीं। इस सुखको जितना अधिक महत्व देते हैं, उतना ही राग बढ़ता जाता है। यह तो साध्यको क्या, साधनोंको भी नष्ट करनेवाला है। लोगोंका धनमें इतना अधिक राग हो गया है कि पूजापाठ आदि सभी धनार्जन व्यापार ही हो गया है। अर्थात् आध्यात्म साधन सबके सब इसके पीछे छूट गये। वैसे आध्यात्म साधकको भी धनादिकी आवश्यकता होती है। उसीको देखकर धनरागी बोलता है, आखिर तुमको भी धनकी आवश्यकता है। तब वही मुख्य हुआ। इसे छोड़ने पर वीतराग होगा।

चतुर्थ साधन द्वेषका त्याग है। यद्यपि यहां रागके बादमें भयको रखा है, किंतु पातञ्जल क्रम राग त्यागके बाद द्वेष त्याग है। क्योंकि राग सुखसे संबंधित है, तो द्वेष उसके विरोधी दुःखसे संबंधित है।

"दुःखानुशयी द्वेषः"

दुःख होनेपर उसीका स्मरण कर द्वेष होता है, भावी दुःख न हो इसके लिये भी द्वेष होता है। द्वेष परित्यागका भी तरीका यही है कि यह ससारका नियम है—सुखस्यान्तरं दुःखं दुःखास्यान्तरं सुखम्"। इसी द्वितीयाध्यायमें पहले आ चुका है—

"आगमापायिनोऽनित्यस्तांस्तितिक्षस्व भारतः"

दुःखमे उद्विग्न न होनेका तरीका हम पूर्वमें ही पर्याप्त कह चुके हैं। इस प्रकार वीत क्रोध होगा।

पञ्चम साधन भयत्याग है। अभिनिवेश त्याग है। भूतसे भय हुआ। सिंह व्याघ्रादिसे भय हुआ। क्या भय ? ये मुझे मार न डाले। इसीको पातञ्जल सूत्रमें तन्वनुबन्ध बताया है। अभिनिवेश सूत्रमें कहा गया है—

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः"

यह भय स्वरसवाही है—स्वाभाविक रूपसे प्राणिमात्रमें स्थित है। शास्त्रोंमें कहा है—

"मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते"

मेरा अभाव कभी न हो, मैं मरूं नहीं बना ही रहूं, ऐसा प्रेम सबमें स्वाभाविक रूपसे होता है। उससे विपरीत अपना अभाव होते देखते हैं तो भय उत्पन्न होता है, यह भी स्वाभाविक है। भय और अभिनिवेश दोनोंका प्रायः पर्यायरूपसे शास्त्रोंमें प्रयोग हुआ है। गीतामें जगह-जगह योगसूत्रानुसारी शब्द आये हैं। षष्ठाध्यायमें विशेषनया आये हुए हैं। अनः यहां भी योगसूत्रानुसारी व्याख्या समुचित है। इससे वीत भय या वीताभिनिवेश होगा।

इन पांच क्लेशोंके विषयमें वेदांनकी दृष्टिसे भी विचार करो। इनमें अविद्या सर्वप्रथम हुई। अज्ञान अनादिसिद्ध है। उससे भ्रांति ज्ञान पैदा हुआ। उसके साथ-साथ ही दृग्दृश्ययोरेकात्मता रूपी अध्यास शुरू किया। इस अध्यासका परिणाम है—राग, द्वेष, भय। रागसे हमने बताया—पूर्णता समाप्त हो जाती है। अभावग्रस्त पुरुष कभी पूर्ण नहीं हो सकता। यह आत्माकी सद्रूपताका अभिभावक है। सत्‌का अर्थ है—अस्ति। अस्तिका किसी कालमें या किसी देशमें अभाव नहीं होता। काल, देश, वस्तु प्रयुक्त अभाव जिसमें न हो वही सत् है। रागी मनुष्य अभावग्रस्त होता है, तो उसकी सद्रूपता नष्ट

होती है। यही रागका परिणाम है। द्वेष दुःखानुशयी होना है यह बतलाया। दुःख आने पर आत्माकी आनंदरूपता अभिभूत हो जाती है। दुःख पङ्क निमग्न पुरुषमें कभी भी आनंदकी मस्ती नहीं हो सकती। इसलिये दुःखियोके सामने वेदांत बोलो तो उसका कोई महत्व नहीं होता। वे तो यंत्र-तंत्रकी और ज्योतिषकी खोजमें रहते हैं। मुझसे भी बहुतसे हस्तरेखा ज्योतिष आदि पूछते हैं। उनको ब्रह्मसे भला क्या मतलब रहता है। तो द्वेष आनंदनाशक सिद्ध हुआ। अभिनिवेश भयरूप है। भय द्वैतभावमें ही होता है। द्वैत प्रपञ्चको ही वास्तवमें अज्ञानका कार्य बतलाया है।

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्"

ऐसा भागवतमें ज्ञान स्वरूपका वर्णन है। तत्त्व क्या है? ज्ञान। ज्ञान क्या है? अद्वय। **'न विद्यते प्रत्येयतया द्वयं यस्मिन्स्तदद्वयम्'** जिस ज्ञानमें द्वैतका प्रत्यय न हो वही तत्त्वरूपी ज्ञान है। भयमें द्वितीय आया तो अद्वय रुपी ज्ञान नहीं रह सकता अर्थात् भय चित्‌का विरोधी है। ब्रह्मके ये तीन स्वरूप ही तो मुख्य हैं, सत्, आनंद और चित्। वेदांतमें सत्-चित्-आनद यह क्रम प्रसिद्ध है। इसी क्रमके अनुसार गीत में राग, भय और क्रोध, इस क्रमसे बताया—वीतराग भयक्रोधः पतञ्जलि ऋषिने सुखका प्रतिद्वन्दी होनेसे दुःखको अनन्तर और अंतमें भयको रखा। अस्तु। यहां तात्पर्य यही है कि स्थितप्रज्ञ वहीं है जो अविद्याको दूरकर अस्मिताको मिटावे ओर पूर्ण सत्, पूर्ण चित् एवं पूर्ण आनंदरूपसे स्थित हो। राग-भय-क्रोधके होने पर कभी भी मनुष्य पूर्ण सच्चिदानंदरूप नहीं हो सकता और स्थितप्रज्ञ भी नहीं हो सकता। अतः साधकको पूर्ण सच्चिदानंदरूप स्थितप्रज्ञ होनेके लिये राग, भय एवं क्रोधको प्रयत्नपूर्वक त्यागना चाहिये। तदर्थ मुनि बनना चाहिये और सुख-दुःखमें निःस्पृह एव अनुद्वेगवान् बनना चाहिये॥ ३॥

●

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२-५७)

[जो सर्वत्र स्नेहरहित है, शुभ एवं अशुभ प्राप्त होनेपर अभिनन्दन या द्वेष नहीं करता वह स्थितप्रज्ञ है ।]

इस श्लोकमें स्थितप्रज्ञके दो लक्षण बताये गये हैं । 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः' इतना प्रथम पादमें एक लक्षण है । द्वितीय पाद और तृतीय पादमें दूसरा लक्षण है । चतुर्थ पादमें लक्ष्य निर्देश है ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहः । अस्नेह नहीं, अनभिस्नेहः । स्नेहमें अभि उपसर्ग जोड़ा गया है । अतः यह सूचित होता है—स्नेह करो, किंतु अभिस्नेह मत करो । स्नेह और अभिस्नेहमें क्या फरक ? यदि स्नेह कर सकते हैं तो अभिस्नेह क्यों नहीं ? अभिस्नेह तो स्नेहसे बड़ा दीखता है । नहीं । अक्षर अधिक होनेसे अर्थ अधिक नहीं होता । जैसे ब्राह्मण महा ब्राह्मण । ब्राह्मण श्रेष्ठ है । या महाब्राह्मण ? महाब्राह्मणमें महा जुड़ा हुआ है । लेकिन महाब्राह्मण कहते हैं जो मुर्देका दान लेता है । इसी प्रकार अभिस्नेह बड़ा स्नेह नहीं है । तुच्छ स्नेह अभिस्नेह है । संस्कृतमें अभि और प्रतिपर्यायार्थमें प्रयुक्त होते हैं । पाणिनीय सूत्र है—

लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ॥ अभिरभागे ॥

प्रति, परि, अनु और अभि ये सब कुछ अर्थोंमें समान होते हैं । एक अर्थ है—लक्षण । लक्षणका मतलब है किसी व्यावृत्तस्वरूपोदेश्यक हो रहा हो । प्रति स्नेहका अर्थ है—किसी व्यक्तिको लक्ष्य रखकर स्नेह करना । अमुक व्यक्तिके प्रति प्रेम । इसी प्रकार अभि-

स्नेहका भी अर्थ है, किसी खास व्यक्ति या उद्देश्यके प्रति स्नेह। सीधा अर्थ है—कुछके प्रति स्नेह है, कुछके प्रति नहीं है। यही अभिस्नेह है। केवल स्नेह किसी लक्ष्यको लेकर नहीं, किंतु स्वाभाविक होता है, व्यापक होता है। किसी व्यक्तिके प्रति प्रेम है तो क्यों उसके प्रति ही? दूसरेके प्रति क्यों नहीं? यह प्रश्न होगा। उसका उत्तर निमित्तविशेष होगा। किसी निमित्तको लेकर स्नेह होता है, अर्थात् जो नैमत्तिक होता है। जो नैमित्तिक नहीं, स्वाभाविक है, वह स्नेह है।

यह तो शब्द पर विचार हुआ। अब अनैमित्तिक स्नेह कहां होता है? कैसा होता है? और नैमित्तक स्नेह कहां और कैसा होता है। इस पर विचार करें। इसके लिये संतोंका प्रथम लक्षण देखो।

शान्ता महान्तो निवसन्ति धन्या
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

संत कैसे होते हैं? शांत अर्थात् मनमें कोई कामना नहीं। प्रशांत मनस्क हो गये। और कैसे? महान्तः। स्वयं ब्रह्मरूप होनेसे प्राप्तव्य कुछ नहीं रहा। वे क्या करते हैं—"लोकहितं चरन्तः"। लोकहित करते है। किसलिये करते हैं? वे परोपकार क्यों करते हैं? परोपकारका अर्थ यहां केवल आत्मोपकार समझना चाहिए न कि रुपये देकर या दवाई आदि देकर उपकार करना। यह लोकोपकार क्यों करते हैं? क्यों प्रवचन करते हैं, स्वाध्याय कराते हैं, ध्यान-समाधि सिखाते हैं? कथा-प्रवचनादिके अनेक प्रयोजन होते हैं। गीता, उपनिषत् आदि प्रवचनोंसे पवित्रता होती हैं।

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनातिहि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा॥

वासुदेवकी कथा तीनको पवित्र करती है। प्रथम वक्ताको पवित्र करती है। क्योंकि वक्ता स्वयंका पूरा श्रवण और पूरा मनन करता है। श्रोता भले ही साढ़े सात बजेके बदले आठ बजे आवे, चलेगा। किंतु वक्ताको तो पूरा समय बैठना ही पड़ेगा। स्वयं मनन न करे तो बोलेगा कैसे ? अतः वक्ताका पूरा श्रवण मनन होता है। इसलिये कथासे सर्वप्रथम वक्ता पवित्र होता है। फिर श्रोता पवित्र होता है। फिर प्रेरक पवित्र होता है। स्वयं सुननेसे जो पवित्रता होती है, वह दूसरोंको प्रेरित करनेसे भी होती है। इस प्रकार कथा-प्रवचनादिसे अपना प्रयोजन है, स्वयंको पवित्र करना। किन्तु जो स्थितप्रज्ञ हो गया है, स्वयं पवित्र हो गया है, उसको कथा-प्रवचनादिसे क्या प्रयोजन ? कपड़ा यदि मैला हो तो साफ करनेका प्रयोजन है। किंतु धोबीने साफकर, इस्त्रीकर रख दिया। अब उसको धोनेका क्या काम है ? सभी संतोंकी बात नहीं कर रहे। स्थितप्रज्ञ संतकी बात बता रहे हैं। स्थितप्रज्ञ अपने ज्ञानसे ही पवित्र हो चुके हैं। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" यह परम पवित्र ज्ञान उनके मनमें स्थिर हो गया है। तब फिर पवित्रताके लिये कथा, उपदेशादिकी जरूरत स्थित प्रज्ञको क्यों है ? अन्य साधारण संतके लिये पवित्रता सम्पादन आवश्यक है। कथा बोलना भी आवश्यक है, सुनना भी आवश्यक है, इस पर प्रश्न नहीं है।

इसका उत्तर आचार्य लिख रहे हैं—वसन्तवत्। वसन्त ऋतुके समान वसन्तका वर्णन जयदेव कविने लिखा है—

"हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन समं"

वसंतको स्निग्ध सरस बताया है। वसंतमें न ठंढी होती है न गरमी। पाप ताप रहित है। कोमल मलय समीर प्रसारण उस समय होता है। मंद सुगंध प्रसार होता है। यह सब क्यों ? यह वसंतका स्वभाव है। उसकी स्वाभाविक स्निग्धता है। मधुरता है। सरसता है। वैसे संत भी स्वाभाविक स्निग्ध मधुर होते हैं। पाप

ताप दूर करते हैं। भगवद् यशः सुगंध प्रसारण करते हैं। किस पर ? क्या किसी खास व्यक्तिपर ? क्या वसंत दो चार व्यक्तिके प्रति ही स्निग्ध मनोहर होती है या सबके प्रति ? वसंतमें कोई पक्षपात नहीं होता। वैसे सन्तमें भी पक्षपात नहीं होता। इसीको अपरिच्छिन्न स्नेह कहते हैं। सन्त समदृष्टि होते हैं। समान रूपसे सर्वत्र स्नेह वर्षा करते हैं। वसन्तकी तरह संतोंमें स्वाभाविक अपरिच्छिन्न स्नेह होता है।

इस प्रकार स्नेह करनेका निषेध नहीं। अत "अभि" यह उपसर्ग जोड़ा है। अभिस्नेहका अर्थ है परिच्छिन्न स्नेह। परिच्छिन्न स्नेहका मतलब है, मोह ममता। स्वार्थ साधकके प्रति विशेष झुकाव। कहा गया है—

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाण कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

परिच्छिन्न स्नेह क्या है ? यह मकान मेरा है। यह वस्त्र मेरा है। यह मेरी पत्नी है। ये मेरे बंधु हैं। दूसरे सब पराये हैं। इस प्रकार ममता करके उन्हींके सुखके लिये प्रयास करना। धन संग्रह करनेमें लग रहना, वे भी अपने लिये, अन्यके लिये नहीं। इस मोह-ममतामें जो पड़े हैं, उनको यहां पुरुषाज बताया है। पुरुषाज माने पुरुष रूपी बकरा। बकरा क्यों बना ? बकरीके संयोगसे। बकरा कौन है प्रकृति या मोह-ममता। जिसको यहां अभिस्नेह शब्दसे बताया है यह बकरी है। उससे यह पुरुष बकरा हो गया है। उसे कालवृक-कालरूपी भेड़िया आकर मार डालता है। इस मोह-ममताको यहां अभिस्नेह शब्दसे कहा गया है। इसी अभिस्नेहको कुंती माताने स्नेहपाश कहकर बताया। कुंती माताकी प्रार्थना है—

"अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं वृष्णिषु पाण्डुषु ॥"

कुंतीमाताने परमात्मा भगवान श्री कृष्णचंद्रके लिये तीन सम्बोधन दिये हैं विश्वेश, विश्वात्मा और विश्वमूर्ति। यह तीनो सम्बोधन भगवानका विश्वके प्रति अपरिच्छिन्न सम्बन्ध एवं प्रेम सूचित करनेके लिये है। प्रथम विश्वेश संबोधन दिया गया है। विश्वेश माने जो विश्वका स्वामी है। जैसे एक पिताके पांच पुत्र हैं तो पांचोके प्रति वात्सल्य, प्रेम तथा स्नेह होता है। वैसे परमात्माके तो सभी बच्चे हैं। अतः सबपर समान रूपसे स्नेह है। ईश्वर ईशितव्य भावमें शायद भेद-भाव भी आ जाय। अतः आगे कहा – विश्वात्मन्। विश्वकी आत्मा परमात्मा है। अतः आत्मा परमात्माकी एकता होनेके कारण स्नेह विषयमें संशयकी गुंजाईश ही नही है। आत्माकी एकता हो किन्तु शरीर पृथक्-पृथक् होनसे उसपर स्नेहकी विषमता हो सकती है। अतः तृतीय विशेषण है—विश्वमूर्ति। विश्व भगवानका ही स्वरूप है। सर्वं खल्विदं ब्रह्मके अनुसार सारा जगत् परमेश्वर स्वरूप ही है। अतः विषमताका कोई स्थान नहीं। यह परमात्माकी स्थिति हो गयी। अब अपनी बात कह रही है—स्वकेषु। अल्पाः स्वे स्वकाः। अल्प अर्थमें क या अक् प्रत्यय है। क प्रत्यय का अल्प अर्थ है। बाल-बालक। कुछ बड़ा हो बाल और छोटा हो तो बालक। बाला कुछ बड़ीको भी कहते हैं। किंतु बालिका छोटीको ही कहते हैं। वैसे सब कहते हैं आत्मीयको। स्वका अर्थ है अल्प आत्मीय। अल्प आत्मीय कौन ? वृष्णिवंशी और पाण्डव कुरुवंशी। कुंती माताका नाम पृथा था। उनका पीहर है वृष्णिवंश। क्योंकि श्रीकृष्णकी वे बुवा थीं। और पांडव कुरुवंशी ससुरालवाले। स्त्रियोंके ये मुख्य सम्बन्धी होते हैं, पितृवंशीय और श्वशुर वंशीय। उनमें उनका विशेष स्नेह होता है—अभिस्नेह होता है। कुंती माता कह रही हैं कि हे भगवान् ! आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो इन दोनोंके प्रति जो मेरा स्नेहपाश है, उसे काट दीजिये। अर्थात् मेरे इस परिच्छिन्न स्नेहको, अभिस्नेहको काट दीजिये। और मेरा प्रेम सारे

विश्वके प्रति हो, जैसे आप विश्वेश्वरका प्रेम है। कुंती माता समझती थी कि इस स्नेहपाशके कटे बिना स्थितप्रज्ञता नहीं हो सकती।

एक संत महात्मामें और एक साधारण गृहस्थमें यही फरक है। साधारण गृहस्थ कह रहा हूं, असाधारण गृहस्थका संतसे भेद करना कठिन पड़ेगा। संतमें और गृहस्थमें क्या फरक है? एक जिज्ञासुने यही जिज्ञासा की थी—महाराज! आप लोग भी खाते-पीते हैं, पहनते हैं। आप लोग भी मोटरोंमें बैठते हैं, सैर करने भी जाते हैं। हमारा घर होता है, आप लोगोंका आश्रम होता है। हमारे लड़के-बच्चे होते हैं। आपके चेले-चाटी होते हैं। शिष्य-प्रशिष्य होते हैं। हम लोग चाचा, दादा आदि कहते हैं। आप लोग चाचागुरु दादागुरु आदि कहते हैं। हम लोग भाई-बहन कहते हैं, आप गुरु भाई, गुरु-बहन कहते हैं। पंखा, बिजली, टेबुल, कुर्सी, घड़ी आदि सभी उपकरण हमारे पास हैं और आपके पास भी हैं, तो आपमें और हममें क्या अन्तर? मैंने कहा ऐसे तो कोई अन्तर नहीं है। मैं तुम्हारे घरमें पुत्र या भाई या पौत्र बनकर आता हूं और मेरे जैसे दो-चार और आते हैं तो घरमें उसी भावसे रखोगे? सब धन-दौलत हम लोगोंको सौंपोगे? उसने कहा, यह तो नहीं हो सकता। पुत्रादि बनाया नहीं जाता, स्वयं होते हैं। मैंने कहा—आप हमारे आश्रममें आइये। शिष्य बन जाइये। गुरुभाई बन जाइये। आपमें योग्यता हो तो पूरा आश्रम सम्हाल लीजिये। तुम्हारे वहां सीमित स्नेह है। हमारे यहां विश्व प्रेम है। हां, नियम कुछ होते हैं। उनकी पूर्त्ति आवश्यक है। यही स्नेह और अभिस्नेहको लेकर गृहस्थ और महात्मामें फरक है। न कि खाने-पीने, चलने-फिरनेको लेकर। भर्तृहरिजी वैराग्य लक्षण क्या करते हैं?

भक्तिर्भवे मरणजन्म भयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।

संसर्गदोषरहिता विजनावनान्ता:
वैराग्यमस्ति किमत: परमार्थनीयम् ।।

सबसे बड़ा और अन्तिम वैराग्यका यही स्वरूप है। भक्तिर्भवे= भगवानमें भक्ति है। हृदिस्थं मरणजन्मभयम् -हृदयमें जन्म-मरण रूप संसार भयका स्वरूप ज्ञान है। स्नेहो न बन्धुषु=पुत्रमित्रादि सीमित बन्धुजनमें स्नेह अर्थात् आभस्नेह नहीं है। न मन्मथजा: विकारा:= स्त्री पुत्रादि प्राप्तिकी अभिलाषा नहीं है। संसर्गदोषरहिता विजनाव-नान्ता:=भजन योग्य, संसर्ग दोषराहत एकांत सेवन हो रहा है। इससे बढ़कर और कोई वैराग्य नहीं है। 'वन' का अर्थ है भजन स्थान। बिहड़ जङ्गल अर्थ नही है। "वन संभक्तौ" ऐसा पाणिनीय धातु पाठ है। 'वननीय संभजनीयं' ऐसा शांकर भाष्यमें लिखा है। एकान्त भजन स्थानमें भजन हो रहा है। इनमें यदि एक-एक भी हो तो भी वैराग्य ही माना जाता है।

कुन्तीमातामें भक्तिर्भवे इत्यादि प्रथम पादार्थ विद्यमान था। द्वितीय पादार्थ के लिये वे प्रार्थना कर रही हैं "स्नेहपाशमिमं छिन्धि" परन्तु यह गृहमें रहते हुए सम्भव है या नहीं ? यह प्रश्न सामने आया। जैसे संन्यासी जिस किसीको शिष्य बनाकर अपना स्थान दे देते हैं, वैसे क्या कोई गृहस्थ कर सकता है ? उसके तो औरस पुत्र होते हैं। वे ही पुत्र होंगे। इसका प्रथम उत्तर यह है कि इसका सम्भव या असम्भव पर विचार कर लिया जायेगा। किन्तु वर्त्तमानमें उसके अभावसे चिन्तित होनेकी भी जरूरत नहीं। कुन्तीमाता स्वयं स्नेह-पाश काटनेकी प्रार्थना कर रही हैं। तो उसका मतलब है, तब तक कटा नहीं था। आगे कटा कि नहीं कटा, यह तो इतिहासका विषय है। कुन्तीमाता जैसी महासाध्वीका स्नेहपाश नहीं कटा था तो अपना न कटनेकी क्या चिन्ता है ? आगे कट जानेके लिये या काटनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना करो। हम आज स्थितप्रज्ञ नहीं हुए सोचकर

न्यूनताका अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम साधन पथ पर हैं तो कभी न कभी लक्ष्य तक पहुँचेंगे ही।

किन्तु हम साधन पथ पर हैं या नहीं, इस पर सोचना परम आवश्यक होगा। स्थितप्रज्ञका अर्थ है पूरी प्रज्ञा प्राप्त होना। एम० ए० पास करना प्रज्ञाका मास्टर बनना। किन्तु प्रश्न यह है कि पाठशालामें भरती हुए कि नहीं हुए यह देखो। यदि स्कूल-पाठशालामें भरती हुए हैं तो पहली क्लास, दूसरी क्लास इस क्रमसे एम० ए० तक पहुँचेंगे। बच्चेको एम० ए० पहाड़ दीखेगा। परन्तु पास करते जानेसे एक दिन एम० ए० पहाड़ न होकर मैदान दीखने लगेगा। वैसी ही स्थिति स्थितप्रज्ञताकी भी है। स्कूल-पाठशालामें आप भरती हुए हैं, इसमें संशय नहीं। इसकी पाठशाला सत्संग है, 'मेरी स्कूल' या 'विलियंटन' क्लासेस नहीं। इसमें पहली क्लास-पहला धोरण क्या है? पहला धोरण आपका घर है। वहाँ समता है या नहीं ये देखो। आपके चार लड़के हैं। उन चारोंके प्रति आपका समान स्नेह है या नहीं, यह देखो। किसीके प्रति कम और किसीके प्रति अधिक हो किसीके प्रति पक्षपात हो तो समझिये कि आप पहली क्लासमें ही फेल हैं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है—एक माता-पिताके दो पुत्र थे। पहला लड़का जब कमाने लगा तो उसकी उपमाका कोई ठिकाना नहीं था। वे बोलते थे—जन्म समयमें ही ज्योतिषीने बताया था कि उसमें शंकरका अंश है। दूसरा लडका खाया-पिया या नहीं, लड़कियाँ किधर हैं कैसी हैं कोई ख्याल ही नहीं। महान आदर उसके प्रति था। बादमें दूसरा लड़का कमाने लगा अधिक और पहला घाटा होनेसे ढीला पड़ा तो पूरा झुकाव द्वितीय पर हो गया। पहलेको गाली देना शुरू हो गया। उसी व्यथामें वह लड़का आखिर तक व्यथित रहा। यह मेरा देखा हुआ उदाहरण है। घरोंमें प्रायः यह भेद-भाव रहता ही है। पहले आप अपने घरमें अभिस्नेहको मिटाकर स्नेह लावें।

स्नेह समदृष्टिका अर्थ समवर्त्तन नहीं है। व्यवहार तो अलग ही अलग सर्वत्र होगा। गलती करने पर दंड, उत्तम कर्म करने पर पुरस्कार दिया जाता है तो यह समदृष्टिका विघातक नहीं है। इसीलिये कुन्तीमाताने विश्वेश, विश्वात्मन, विश्वमूर्ते कहा। अपने आत्मामें प्रेम स्वाभाविक होता है।

प्रमानुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः

आत्मामें प्रेम नित्यसिद्ध है तो विश्वात्मा परमात्माका समस्त विश्वमें प्रेम है यह साध्य नहीं है, सिद्ध तत्त्व है। परमात्माका सारे विश्वमें समदर्शन है, प्रेम है। फिर भी परमात्मा अपराधी पापीको दंड एवं पुण्यवान्को सुख प्रदान करते हैं या नहीं? इसी प्रकार प्रथम घरमें सीखो। सबके प्रति समान स्नेह हो। व्यवहार पृथक्-पृथक् होगा। ऐसा नहीं कि लड़कीको साड़ी खरीद कर ला दी तो लड़केको भी पहननेके लिये साड़ी खरीद कर दे दें। लड़केको पेंट ला दिया, लडकीको साडी दी तो इसमें क्या भेद आया? व्यवहारमें भेद आया किन्तु स्नेह एक बराबर है। ऐसा स्नेह एक नौकरके प्रति भी होना चाहिये। नौकरके लिये उसके योग्य वस्त्र दो। इस प्रकार भिन्न व्यवहार करते हुए भी समान स्नेह रखो।

काशीकी बात है। हम लोग सब वहां शास्त्राध्ययन करते थे। कुंभमेलाका अवसर था। कई सेठ कलकत्ता, पटना आदिसे आये थे। बहुतसे दूसरे भक्त भी थे। एक छोटा आश्रम था। भीड़ होनेसे हम सब वहां गये। यहां भी बड़े-बड़े सेठोंको ऊपर ठहराया। दूसरोंको नीचे कमरेमें रहनेकी जगह दी। कईने इस विषयमे शिकायत की। महाराजको समदृष्टि होना चाहिये। यहां अमीर-गरीबका क्या प्रश्न है? सेठोंको ऊपर ठहराया। हम लोगोंको नीचे छोटे-छोटे कमरे दिये। सो भी एक-एक कमरेमें पांच आदमी। मैंने

उन भक्तोंको कहा—भाई समदृष्टि है, पर समवर्ती नहीं हो सकते। व्यवहारमे भेद आता है। व्यवहारमें जिसकी जैसी योग्यता है, वही उसके लिये उपयुक्त होगा। स्नेह सबपर एक बराबर है, किंतु व्यवहार पृथक्-पृथक् होता है।

इस प्रकार स्थितप्रज्ञ संतोंके भी व्यवहारमें फरक आता है तो सामान्य लोगके व्यवहारमें भेद आवे तो इसमे कौनसे आश्चर्यकी बात हैं। इस प्रकार प्रथम घरमें ही पाठशाला प्रारंभ करो। वहीं पहली क्लास है। उसे पास करो। बडी कठिन परीक्षा है। हां, एक धोरण पास कर लिया तो आगे सभी धोरण सरल होंगे। पास होते जायेंगे। इसकी भी मुख्य सात क्लास है। यदि अवान्तर क्लास छोड़ दिया जाय तब। हमारे यहां सात संख्याका महत्व है। सप्तभूमिका, सात लोक आदि प्रसिद्ध है। जिनमें प्रथम बताया, स्वगृहमे समभाव स्नेह संपादन करनेका प्रयास करो।

द्वितीयमें ग्रामवासी हैं। आप अपने ग्रामके रहनेवाले सबका भला चाहो। अपने जन्मस्थान गांवमें जितने हैं कहीं भी जायँ तो उनको भूलना नहीं। उनकी उन्नतिकी कामना करना। चाहे गांव का वह छोटा हो चाहे बड़ा। सबकी उन्नति एक प्रकार से चाहो।

तृतीयमें प्रांतवासी हैं। आपके प्रांतके जितने हैं सबके प्रति स्नेह है। भाषा बोलनेवाले सबकी उन्नति हो, कल्याण हो, ऐसी आशा तदर्थं प्रयास करते रहना चाहिये। इसमें कुछ विशालता आ जाती है। ग्रामस्नेह प्रान्त स्नेहरूप बनाया विशाल हुआ।

चतुर्थमें इस स्नेहको बढ़ाकर देशप्रेममें परिणत करना चाहिये। हमारे राष्ट्रमें सभी सुखी हों, समृद्ध हों। सबके सुखमें अपना सुख। सबके दुःखमें अपना दुःख। पूरे राष्ट्रमें ममता है, प्रेम है, स्नेह है। यहां तक तो साधारण मनुष्यकी बात है।

पांचवेंमें विश्वमानवमें स्नेह संत करते हैं। संत लोग कहते हैं कि जयहिंद तो तुम लोग बोलो, हम तो जय जगत करेंगे। मानव-मात्रका कल्याण हो, उन्नति हो। सब ज्ञानवान् हों, गुणवान हों। इसप्रकार समस्त मानव जातिके प्रति सद्भावना हो। यहां तक होने पर वह संत माना जाता है।

छठी कक्षामें मानव ही नहीं प्राणी मात्रके प्रति महाभावना होती है। पूरे प्राणियों में मंगल कामना हो रही है। यह अति समभाव है।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"
"सर्व भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्"

यह महासंतकी प्रार्थना होती है। केवल शब्दसे नहीं, हृदयसे। क्योंकि यह श्लोक तो सभी बोलते हैं। परंतु भावना ऐसी सच्ची किसीमें होती है या नहीं, यह तो टटोलने पर ही मालूम होगा। सभी सुखी हों। सभी निरोग हों। सभी मंगलमय दृश्य देखें। कोई भी दुःखी न हो। विश्वका कल्याण हो।

सातवीं कक्षामे फिर जड़-चेतना विभाग नहीं रहता। सर्वत्र आत्म-भावना होनेसे यह स्थिति होती है। वह फिर परमेश्वर तुल्य होता है। श्रीकृष्ण भगवान वैसे प्रत्यक्ष थे। अतः विश्वेश, विश्वात्मन, विश्वमूर्त्ते यह संबोधन हुआ। वहां फिर ममता नहीं आत्मभाव हो जाता है। इन छठी और सातवी कक्षाको लेकर कहा –

व्यक्तव्यो ममकारस्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ
कर्त्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्त्तव्यः

सातवीं कक्षामें पहुंच कर समस्त विश्वसे ममता छोड़ो। सर्वत्र आत्मभाव करो। बोले—महाराज, मैं ममता नहीं छोड़ सकता हूं। तब गुरुजीने कहा—बेटा ममता तू कर ले। किंतु उसमें शर्त्त रहेगी। शर्त्त है कि ममता सर्वत्र करो। एकके प्रति ममता है और दूसरेके प्रति नहीं, ऐसा न करना। यहां व्यक्तव्यो ममकार यह सातवीं कक्षा

का स्वरूप है। क्योंकि जडचेतनोभयमें आत्मीय भाव नहीं, आत्म-भाव ही हो गया है। समस्त जड़-पदार्थोंमें आत्मीयभाव नहीं, आत्म-भाव होता है, तब ममता छूट जाती है। छठ्ठी कक्षा है सर्वत्र आत्मीयभावका। प्राणियोंमें आत्मीयता होती है।

इन सात कक्षाओंका जो वर्णन किया, इनमें यह जरूरी नहीं है कि प्रथम कक्षा पास करने पर ही आप द्वितीय कक्षामें या तृतीयादिमें पहुंचेंगे। आप अपने गृहभाव समभाव करते हुए ही ग्रामादिमें वह कर सकते हैं। कभी-कभी घरमें कोई ऐसा दुष्ट निकला कि समभाव हो ही नहीं पा रहा—आखिर दुष्ट भी किसी न किसी घरमें ही पैदा होता है, ऐसी हालतमें ग्रामवासियोंमें स्नेह न रखा जाय ऐसी कोई बात नहीं है। जैसे-तैसे भी अभिस्नेहको समाप्त करनेका प्रयास जारी रहना चाहिये। स्नेहमात्रका प्रवर्धन करना चाहिये। अभिस्नेह विश्वात्म भावनामें बाधक है और विश्वात्म भावनाके बिना स्थितप्रज्ञता असंभव है। अतः यह लक्षण स्थितप्रज्ञका हुआ—यः सर्वत्रानभिस्नेहः। जो परिच्छिन्न स्नेहरहित है वह स्थितप्रज्ञ है।

तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं नाभिनन्दति न द्वेष्टि। 'प्रजहाति यदा कामान्' में सकल कामनारहित पुरुष स्थितप्रज्ञ है, ऐसा एक लक्षण बताया। 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट.' यहां आत्मतुष्टिको स्थितप्रज्ञका द्वितीय लक्षण बताया। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना' इस श्लोकमें स्थितप्रज्ञका पञ्चक्लेशाभाववान् ऐसा तीसरा लक्षण बताया। यः सर्वत्रानभिस्नेह· से परिच्छिन्न स्नेहवर्जित ऐसा चतुर्थ लक्षण कहा। तत्तत्प्राप्य इत्यादि भी यद्यपि लक्षण है। पांचवां लक्षण है तथापि विशेष प्रश्नके उत्तरात्मक लक्षण है। स्थितप्रज्ञस्य का भाषा यह सामान्य लक्षण प्रश्न था। उसका उत्तर अभी तक दिया। अब 'स्थितधी किं प्रभाषत' का उत्तर दे रहे हैं। प्रभाषणसे भी लक्षण ही का प्रश्न है। किंतु यह विशेष विषयक प्रश्न है। अतः उत्तर भी विशेष विषयक

ही होना चाहिये। तत्तत्=उन-उन. शुभाशुभं=शुभ या अशुभको, प्राप्य=प्राप्तकर, नाभिनन्दति=अभिनन्दन वचन नहीं बोलना, न द्वेष्टि=द्वेष वचन भी नहीं बोलना। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता=वही स्थितप्रज्ञ है।

शुभाशुभं प्राप्य=शुभाशुभको प्राप्तकर, ऐसा सिद्धवत् कथन है। हम पहले भी कह आये हैं कि शुभ एवं अशुभ, चाहे स्थितप्रज्ञ हो, चाहे अप्रज्ञ हो प्राप्त होगा ही। उसका निवारण कोई नहीं कर सकता। यहां तक कि भगवान भी निवारण नहीं कर सकते। राम भगवान थे। क्या वे अपने शुभाशुभ आनेसे रोक सके? भगवान कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम थे। उन पर भी शुभाशुभ आये। वे नहीं रोक सके। भक्तोंका कहना है कि वे रोक सकते थे, किंतु रोका नहीं। क्यों नहीं रोका? उत्तर है कि उनकी लीला थी। आते हुऐ शुभाशुभोंको रोकते तो लीलामें दिव्यता आती। अन्ततः यही कहना होगा कि मानव शरीर धारण करनेपर सबको फल भोगना ही पड़ेगा, यह दिखाना था। नीतिकारोंने तो स्पष्टतया कर्म फलकी ही गरिमा बतायी है।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥

कर्माधीन ब्रह्म भी है। कुम्हारके समान घड़ोंको बनाते रहना पड़ता है। ये हम लोगोंके शरीर घड़े ही तो हैं। तभी तो भगवानको 'घट-घट वासी' विशेषण देते हैं। पानी रखनेके घटमें रहनेवाला, ऐसा अर्थ तो उसका नहीं है। इन घड़ोंको बनाये बिना ब्रह्माको छुटकारा नहीं। यदि न बनायें तो ब्रह्माका ब्रह्मापना ही क्या रह जायगा। केवल इतना ही कर्म नहीं। सृष्टिकालमें ब्रह्मा एक असत्य बोले थे—हमने

शिवका अंत पाया। उससे उनका पंचम सर कटा। पहले ब्रह्मा पञ्च-मुखी थे। किंतु एक सिरके कटनेसे वे चतुर्मुख हो गये। ब्रह्मा पिता-मह थे, पूज्य थे, किंतु उनकी पूजा बंद हुई, तिरस्कार हुआ। यह सब ब्रह्माको सहना पड़ा। कर्मसे छुटकारा विष्णुको भी नहीं मिल सका। कभी मच्छली, कभी कछुआ, कभी सूअर ऐसे उनको भी जन्म लेना ही पड़ता है। दशावतार भी महा संकट है। कोई कहते हैं, नारदजी-के श्रापसे विष्णुको मनुष्य बनना पड़ा, स्त्रीवियोग सहना पड़ा, वानरकी सहायता लेनी पड़ी। रामावतार घटना सुप्रसिद्ध है। कृष्णावतारके विषयमें भी ऐसी ही बात है। नर-नारायणने अप्स-राओंके सामने अभिमान प्रदर्शन किया। उनको वरदान देना पड़ा जिससे कृष्णार्जुनावतार हुआ इत्यादि। शंकर भगवान भी कर्मसे नहीं बच सके। ब्रह्माजीका असत्य भाषी सिर काटा, किंतु ब्रह्महत्या पाप उन्हें लगा। तब हाथमें खप्पर लेकर भिक्षावृत्तिसे उनको जीना पड़ा। इसी प्रकार सूर्य भगवानकी भी कथायें पुराणोंमें आयी हैं, जो कर्म पराधीनतामें प्रमाण है। सारांश यह कि शुभकी प्राप्ति और अशुभकी अप्राप्ति अनिवार्य है।

तत्त्ववेत्ताके कर्म क्षीण होते हैं, नष्ट हो जाते हैं तब कर्मफल कैसे होगा ? उत्तर है संचित और आगामी कर्म ही नष्ट होते हैं, प्रारब्ध नष्ट नहीं होते।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"

उस परावर पर ब्रह्मका दर्शन होनेपर हृदयग्रंथियां टूट जाती हैं। समस्त संशय मिट जाते है। सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। यह श्रुति वचन है, किंतु कौनसे कर्म ? संचित और आगामी कर्म, न कि प्रारब्ध कर्म। शुकदेवजी महाराजसे बढ़कर हम किस तत्त्वज्ञानी को ढूंढे ? किस स्थितप्रज्ञकी खोज करें ? श्रीमद्भागवतमें प्रथम

स्कन्धमें लिखा है कि राजा परीक्षित प्रायोपवेशनमें बैठे थे—आमरण अनशन व्रतमें बैठे थे। उसी समय वहां बड़े-बड़े ऋषि महर्षि एकत्रित हुए। उस समय वहां शुकदेवजीका आगमन हुआ। कैसे आ रहे थे? अवधूत वेषमें। गांवके बच्चे और स्त्रियां उनपर पत्थर फेंक रहे थे। बच्चे लोग उनपर मूत्र डाल रहे थे। बताइये इससे बढ़कर अशुभ क्या होना चाहिये? फिर जब वे ऋषि सभाके संमुख पहुंचे तो सभी ऋषि-मुनि खड़े हो गये और राजा परीक्षित भी खड़े हो गये। सबने अभिवादन किया। यहां तक लड़के-बच्चोंने पीछा किया था। इन सबको अभिवादन करते हुए देखा तब वे वापिस लौटे। यह जो अभिवादन हुआ, यही तो शुभ है। देखो, शुकदेवजीको भी शुभ एवं अशुभ हुआ कि नहीं। अतएव शुभाशुभ प्राप्ति सबको होती है।

एक ज्योतिषीने मुझे बताया कि ज्योतिष शास्त्रमें ऐसा कोई भी मुहूर्त्त नहीं है, जिसमें पैदा हुआ व्यक्ति शुभ एवं अशुभके बिना जीवन जीयेगा। प्रारब्ध कर्मके आधार पर ज्योतिष है। प्रारब्धानुसार जन्ममरण होता है। तदनुसार उसका जीवन होता है। हमने पूछा, ज्योतिषीजी महाराज। आप लोगोंका तो अधिकतर अंदाज होता है। अमेरीकाका राष्ट्रपति जब पैदा हुआ, उसी क्षणमें दुनियामें हजारों बच्चे पैदा हो सकते हैं। क्या वे सभी राष्ट्रपति होंगे? ज्योतिषीने कहा—देशकालकी परिस्थितिसे बाह्य फलमें अन्तर भले हो, किंतु आंतरफलमें कोई फरक नही होता। उसने एक दृष्टांत बताया। एक ज्योतिषीको दो कुण्डली एक साथ बनानी पड़ी। एक राजकुमारकी और एक भीलकुमारकी। दोनोंका एक मुहूर्त्तमें एकही क्षणमें जन्म हुआ था। फलादेश दोनोंके लिये बराबर था। किंतु देश, समाज आदि परिस्थितियां अलग थीं। राजाका लड़का सोनेके पलनेमें पला। भीलका लडका चमड़ीसे मढ़े पलनेमें पला। राजकुमारने सुवर्णपुख युक्त धनूषबाण चलाना सीखा। भील कुमारने बांसका धनुष और बाण सीखा। राजकुमार उत्तरोत्तर बढ़ा और

राज्यवासियोंको वशमें किया। भीलकुमारने जंगल वासियोंको वश किया। राजकुमार राज्यका राजा बना। भील कुमार जंगलका राजा बना। दोनोंमें बाहरका स्वरूप अलग था, किंतु भीतरका स्वरूप एक था। एक चना बेचनेवाला दुकानदार है। उसको प्रति-दिन दस रुपया मिलता है। एक दिन बारह मिल गया तो भारी खुशी हुई। आठ हो गया तो भारी चिंता हुई। नौ या ग्यारह है तो खास बात नही, उतना फरक हो जाता है किंतु बारह और तो चौकानेवाला है। एक दूसरा क्राफिड मार्केटका व्यापारी है। रोज हजार कमाता है। नौ सौ या ग्यारह सौमें विशेष फरक नहीं, किंतु बारह सौमें भारी खुशी होती है। आठ सौ होनेपर भारी चिंता होती है। चिंता और खुशी चनेके व्यापारी और मार्केटके व्यापारीमें एक बराबर है। यही सुख-दुःख है। कर्मका मुख्य जोर इसीपर है। लोग कहते हैं—भारतमे इतना पूजा-पाठ होता है, किंतु गरीबी है। अमरीका, लन्दन आदिमें पूजा नहीं होती फिर भी वे अमीर हैं। सो क्यों ? उत्तर वही है। अधिक धन या कम धन तो देशकाल परिस्थितिके अनुरूप है। अदर सुख-दुःख मुख्यरूपसे कर्मका फल होगा। अमेरीकामें प्रतिशत दस व्यक्ति पागल होते हैं, ऐसा हमने पत्रिकामें पढ़ा था। इग्लैण्डमें प्रतिशत तीन। भारतमें इतने पागल कहां हैं ? यहां बम्बईमें ही साठ लाखकी वस्तीमें ढूंढेंगे तो भी सौ दो सौ नहीं मिलेंगे। तब मानसिक शांति परदेशमें है या भारतमें ? अस्तु। बाह्य शुभाशुभ हो चाहे मानसिक शुभाशुभ हो उसको लेकर स्थितप्रज्ञ न तो अभिनन्दन-प्रशंसा करता है और न द्वेष करता है—गाली देता है। ऐसा यहां एक अर्थ हुआ। इसकी व्याख्या अन्यान्य प्रकारसे भी है, सो भी देखिये।

ज्योतिषमें शुभ और अशुभका बहुत प्रयोग आता है। शकुन शुभ भी होता है और अपशकुन भी होता है। ये भी शुभाशुभ हैं। आप यात्राके लिये निकले या अन्य कोई कार्यके लिये प्रस्तुत हुए

तो कोई सुहागिन, सौभाग्यवती घड़ेमें पानी भरकर सामनेसे आयी तो शुभ मानते हैं। और कहीं बिल्ली रास्ता काट गयी तो अशुभ मानते हैं। सौभाग्यवतीको सराहते हैं। बिल्लीको गाली देते हैं, यह दुष्ट कहांसे आयी। खाली बिल्ली ही नहीं, शकुन शास्त्रमें कईके नाम हैं। निकलते समय राख सामनेसे आवे तो अपशकुन है। सूखी लकड़ी सामनेसे आवे तो अपशकुन है तेलका डिब्बा लेकर कोई सामनेसे आवे तो खराब है। कहीं गधा सामने मिला तो कहना ही क्या। भैंसा या सांड़ मिले तो भी अपशकुन है, वहां कईके नाम गिनाये हैं। वैसे शुकन भी कई हैं। सामनेसे दही आया तो शुभ है। गाय आ जाय तो शुभ है। हाथी-घोड़ा आदि भी श्रेष्ठ है। परन्तु शुभाशुभ प्राप्त होनेसे उनको लोग गाली देते हैं, यह बुरा है। ब्रह्मसूत्रमें स्वप्न प्रकरणमें बताया है—

"सूचकश्च हि तथा ह्याचक्षते च तद्विदः"

स्वप्नमें जो शुभदर्शनादि होते हैं वह केवल सूचक होते हैं। वैसे रास्तेको बिल्लीने काट लिया तो वह खतरेकी सूचना देती है। न कि बिल्ली खतरा लाती है। तो क्या सूचना देनेवाला खराब होता है ? समुद्रमें तूफान उठा है, किनारेकी ओर आ रहा है। सावधान रहो, यह सूचना पहले दी जाती है रेडियोंमें, तो क्या रेडियोको ही फोड़ डालेंगे ? अरे ! रास्तेमें गधा आ गया तो उसने सूचना दी तुम्हारा काम नहीं होगा, तो उसपर क्यों नाराज होते हो ? उसने तो भला काम किया। अगर गधा न आता तो भी काम बननेवाला नहीं था। जब-जब आपका काम नहीं बना, तब-तब आषाढनंदन (गधा) आया क्या ? उसने आकर खबर दी, कितना भला वह जानवर है ? लोग उसको रास्तेसे भगाना चाहते हैं। पहले राजा लोग शुभ शकुन सामने कराकर कूच करते थे। किंतु दोनों ओरसे ऐसा होता था तो क्या दोनोंकी जीत होती थी ? एक जीतेगा तो

दूसरा निश्चित हागेगा। तब उसका शकुन कहां गया? बलात् बनानेसे शकुन नहीं बनता।

एक गांवकी बात है। एक औरतने मुर्गा पाल रखा था। वह सुबह को को बोलता था। उसके बाद सूर्योदय होता था तो वह समझती थी कि मेरे कुक्ड़ेके बोलनेसेही सूर्योदय होता है। गांव वालोंसे कभी उसका झगड़ा होता था त वह कहती थी—तुम लोग मुझे समझते नहीं हो। मैं गुस्सा करूंगी तो तुम्हारा जीवन दुर्लभ हो जायेगा। सूर्योदय होना मैं बंद कर सकती हूं। लोग समझते थे, यह पागल है। एक रोज जमकर लडाई हुई तो उसने क्या किया-अपना मुर्गा लेकर दूसरे गांव चली गयी। उसने सोचा इन लोगोंको पाठ पढाऊंगी। मेरे अभावमें क्या होता है। क्या होता है? यह आप समझ गये होंगे। वह सोच रही थी कि मुझे बुलानेके लिये आयेंगे। सूर्योदयके अभावमें वे तंग आ जायेंगे। अरे, मुर्गा बोलता है यह केवल सूचक है। मुर्गा सूर्यको उगानेवाला नहीं है। वैसे ही शुभाशुभ है। ये केवल सूचक है, कारक नहीं है। अतएव ऐसा शुभाशुभ प्राप्त होकर प्रशंसा या निंदा नहीं करना चाहिये।

दो प्रकारकी व्याख्या हुई। अब एक तीसरे प्रकारकी व्याख्या सुनो। स्तुति निंदाके प्रसंगमें श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक आया है—

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च

इस जगतके बारेमें दो प्रकारका प्रवाद है। वेदांतमें आपने बार-बार सुना है कि यह संसार मायामय है। एकादशस्कन्धमें योगीश्वरो-पदेश प्रकरणमें 'मायां वेदितुम इच्छामि" मायाको जानना चाहता हूं। इस प्रश्नके उत्तरमें महदादि सृष्टि एवं प्रलय का ही वर्णन कर सुनाया है।

"मा कुरु धनजनयौवनगर्वं हरति निमेषात्कालः सर्वम्
मायामयमिदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं तत्प्रविश विदित्वा"

ऐसी आचार्योंकी चेतावनी है। धन, जन, एवं यौवनादिका गर्व न करो। यह सभी क्षणभंगुर हैं। इन सबको मायामय जानो और छाड़ो। तब ज्ञानसे तुम ब्रह्मको पा सकोगे। "प्रपञ्चोमायिको जडत्वात् परिच्छिन्नत्वात्" इत्यादि अनुमानसे भी यही कहा जाता है।

दूसरी ओर जगतको ब्रह्ममय भी बताया है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत" ऐसा श्रुतिवचन है। सारा जगत ब्रह्म है। क्यों? तज्जलान्। जगत ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, ब्रह्ममें रहता है, अंतमें ब्रह्ममें ही लीन भी होता है। जैसे सोनेसे कुण्डल उत्पन्न हुआ। सोनेमें रहा और सोनेमें ही लीन हुआ तो कुण्डल नामकी क्या चीज है? सोना ही है। वही गीतामें भी भगवानने बताया है— "वासुदेवः सर्वमिति समाहात्मा सुदुर्लभः" सारा जगत् वासुदेव ही है, ऐसा समझनेवाल महात्मा बड़ा दुर्लभ है। इन प्रमाणोंसे मालूम पड़ता है जगत् ब्रह्ममय है।

ये दोनों बातें विरुद्ध-सी लग रही हैं। एक ओर जगतको मायामय बताकर त्याज्य कर रहे हैं। दूसरी ओर जगतको ब्रह्ममय बता रहे हैं। यह क्या मामला है? असल बात क्या है? उत्तर दिया— जगत् उभयमय है। मायामय भी है, ब्रह्ममय भी है। "प्रकृत्या पुरुषेण च एकात्मकम्" प्रकृति तादात्म्य भी है। पुरुष तादात्म्य भी है। वह किस प्रकार? शास्त्रोंमें कहा है—

अस्तिभातिप्रियं चैव नामरूपं च पञ्चकम्
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं तथा द्वयम्

इस जगतमें ब्रह्मका भी रूप है, मायाका भी रूप है। अस्ति, भांति, प्रिय ये तीन ब्रह्मके रूप हैं। गृहमस्ति, गृह भाति, गृहं प्रियं— यह घर है, दीख रहा है, प्रिय है, ऐसा बोलते हैं। 'है' माने सत्,

दीखना माने चित् और प्रिय माने आनंद। सत्-चित्-आनन्द ये ब्रह्मके रूप हैं। वे तीनों रूप जगतमें भी हैं। ऊपरसे और दो हैं। एक नाम है और दूसरा रूपाकार है। गृह, घट, पुस्तक, घोड़ा, हाथी आदि नाम है औरसबका अपना-अपना एक-एक रूप भी है। ये दोनों मायामय है, कल्पित हैं। फलतः जगत् ब्रह्ममय भी है, मायामय भी है। अब आप इसकी स्तुति करें या निंदा करें। एक मकान है। उसमें कुछ भले आदमी रहते हैं, कुछ चोर-डाकू भी रहते हैं। दोनों प्रकारके लोग किरायेमे रहते हैं। डाकू है समझकर मकान ढहाया जाय या भले हैं समझकर बढ़ाया जाय सुविधा बढ़ाया जाय। ढहाते हैं तो भलाको भी नुकसान होगा। बढ़ाते हैं तो डाकुओंको भी फायदा होगा। तब ? चुपचाप बैठे रहो ब्रह्मरूप है समझकर जगत्की प्रशसा करो। उसको महत्व दो तो उसमे मायाको भी बल मिलेगा और मोह-ममतामें पड़ेंगे। माया है, समझकर हटाओ तो ब्रह्म भी हटेगा, शून्यवाद होगा। द्वैतवाद कहकर मायामें और भोगैश्वर्यमें फस। हवेलियोंमें भोगैश्वर्य प्रधानता हुई। बौद्धोंने मायामय कहकर तिरस्कार किया तो वे शून्यवादी बन गये और घोर अंधकारमें पड़ गये।

अनाहृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः

ये तमोगुणियोंमें श्रुतिका अनादर किया और निरात्मवादमें पड़कर पुरुषार्थच्युत हो गये। तब क्या हो, कैसे हो ? विवेक दृष्टि करो। अपनी अपनी विवेक दृष्टिसे विवेक कर देखो। सामान्य रूपण प्रशस्त या गर्हित मत मानो। लोग अपनी-अपनी दृष्टिसे बात करते ह। आधा लीटर दूध है उसमें आधा सेर पानी मिलाया तो अब उसको क्या कहा जायेगा ? दूध कहा जायेगा या पानी ? शहरवाल उसे दूध कहेंगे, क्योंकि उनको शुद्ध दूध कभी मिलता

नहीं है। गांवोंमें ऐसा दूध लाकर दें तो कहेंगे—यह क्या पानी लाये हो।

काशीमें हम रहते थे तो एक भैयेसे दूध बांधा। उमको बोल दिया कि तुम चार पैसा अधिक लो, किंतु दूधमें पानी नहीं डालना। लेकिन फिर भी दूध पतला। हमने पूछा, भैयाजी दूधमें क्यों पानी डालते हो ? भैयेने कहा, हम ऐसा पाप कभी नहीं करते। एक रोज दूध दुहते समय उसके घर पर हम पहुँचे तब मटकेमें पानी रखा हुआ था, उसीमें दूध दुह रहा था। हमने कहा—अरे भाई ! तुम रोज झूठ बोलते थे दूधमें पानी नहीं डालता हूं। यह क्या कर रहे हो ! उसने कहा—महाराज, हम दूधमें कभी पानी नहीं डालते, ऐसा महापाप हम नहीं करते। मैंने कहा इस मटकेमे पानी है, मैंने देख लिया है। उसने कहा—म केमें पानी रखकर हम दूध दुहते हैं। पानीमें दूध डालना काई पाप नहीं है। बताईये किस शास्त्रमें लिखा है कि पानीमें दूध नहीं डालना चाहिये। आप लोग गंगाजीमें दूध चढ़ाते हैं कि नहीं ? वह भी पानीम दूध डालना ही तो है। मैं चुपचाप चला आया। यह कहानी नहीं बोल रहा हूं। सच्ची घटना कह रहा हूं। काशीमें सभा भैये ऐसा करते थे। उसीको लेकर यह बात कहावत जैसी हो गयी। भैयेने साफ कहा—महाराज, जैसा भी हो हम लोगोक दूधमें पानी थोड़ा रहता ही है।

इसी दुग्धजलके समान "सत्यानृते मिथुनीकृत्य" यह संसार सत्यानृतका मिथुनीभाव है। उस दूधकी प्रशंसा की जाय या निंदा ? निंदा कर सकन। "धिगिदं दुग्धं" नहीं कह सकते क्योंकि दूधको धिक्कारना पाप है। "सम्यगिदं दुग्धं" ऐसी प्रशंसा करें, तो उसमें पानी पड़ा है। कैम कहें 'सम्यक्'। तब क्या करें ? न निंदा करो न प्रशंसा करा। भैयाको बोलो—तुम ले जाओ, हमें नहीं चाहिये। या फिर कहो, पानी डाले बिना लाओ। इसी प्रकार विश्व सद-सदात्मक होनेसे, शुभाशुभरूप होनेसे न शुभरूपेण प्रशंसा करना है

और अशुभरूपेण उसकी निंदा ही करनी है। किंतु हंस बनकर विवेक कर पियो। निरक्षीर मिलन जहां है, वहां हंस दोनोंको अलग करता है और क्षीरको पीता है। नीरको त्याग देता है। यहां "तत्तत्" विशेषण दिया है। वह प्रसिद्धि द्योतक है। प्रतीत हो रहा है, शुभ है, अशुभ है, ऐसा। वैसी प्रसिद्धि है। परंतु मिलितरूप है। हंस बनकर विवेक करो। हंस परमहंमको भी कहते हैं। परमहंस बनो या परमहंस भाव अपनेमें लावो। फिर सत्यासत्य विवेक करो। शुभाशुभ विवेक करो। और सच्चे शुभ सत्यको अपनाओ।

यही तीसरे प्रकारकी व्याख्या हुई। एक चौथे प्रकारकी भी यहां व्याख्या है। वह समझने योग्य है। विवेकी पुरुष शुभ एवं अशुभ कर्मोंको देखकर उनकी प्रशंसा या निन्दा नहीं करता। वे दोनोंके मूलकी ओर ही देखते हैं। सबका मूल एक परब्रह्म तत्त्व है। उपनिषदोंमें वर्णन आया है—

एष ह्येव साधु कर्म कारयति यानेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति
एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति यानधोनिनीषति

शुभ कर्मको भी वही परमात्मा कराता है। जिनको ऊपर उठाना है। उसमे शुभकर्म कराता है। वही परमात्मा अशुभ कर्म भी कराता है। जिनको नीचे गिराना है, उससे वह अशुभ कर्म करता है। क्या परमेश्वर ही शुभाशुभ कर्म कराता है ? तो हमें पुण्यपाप क्यों लगता है ? उत्तर यह है कि परमेश्वर हाथ पकड़ कर शुभ या अशुभ कर्म नहीं कराता, किंतु कर्मशक्ति एवं ज्ञानशक्ति प्रदान कर कराता है। परमाणु शक्ति प्रसिद्ध है। तारापुरमें परमाणुशक्तिका केंद्र है। उसमे बिजली तैयार होती है। उससे हजारों मिल-कारखाने चल रहे हैं। घरोंमें उससे प्रकाश हो रहा है। उसीसे पंखा, वातानुकूलित फ्रीज आदि चल रहे हैं। एक शब्दसे कहो तो बहुत बड़ा भारी निर्माण, बंबई जैसे शहरोंका निर्माण परमाणुशक्तिसे हो रहा है। परंतु उसी परमाणुशक्तिसे अणुबम बनाया जाय तो ? एक ही

परमाणु बमसे पूरा शहर नष्ट भी हो सकता है। जापान और जर्मनको पश्चम शतकमें नष्ट किया तो किसने ? परमाणुशक्तिने। उमसे उनका संप्रति (वर्त्तमानमें) जो निर्माण हुआ सो किससे ? परमाणुशक्तिसे। तब परमाणुशक्तिने ही निर्माण भी किया, ध्वंस भी किया ऐसा कहा जा सकता है या नहीं ? किंतु परमाणुशक्तिने आपको शक्तिमात्र दिया, विवेक या अविवेक आपके पास है। विवेकसे आप निर्माण कीजिये और अविवेकसे विनाश कीजिये। इसी प्रकार परमेश्वरने केवल आपको ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति दी। विवेक या अविवेक आपका है। विवेकसे आप सत्कर्म कीजिये साधुकारी बनिये। या अविवेकसे आप असत्कर्म कीजिये और पापकारी बनिये। प्रथममें ऊर्ध्वगमन है तो द्वितीयमें अधोगमन निश्चित है। आप पूछेंगे—यह विवेक और अविवेक भी परमेश्वरने दिया ? नहीं। विवेक आपको सत्संगमें मिलेगा—संतोंसे मिलेगा। अविवेक आपको कुसंगसे मिलेगा। भगवान केवल शक्ति प्रदान करते हैं। दो शक्ति हैं, ये ही ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति। उतना देकर वे चुप रहते हैं पक्षपात नहीं करते।

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति परमेश्वर कैसे देता है ? इस विषयपर भी विचार हुआ है। सुरेश्वराचार्य वार्तिकमें आया है—परमेश्वरका प्रतिबिंब ही ये दोनों है। वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, यह परमेश्वर ज्ञान नहीं है, क्योंकि परमेश्वरका प्रकाश उत्पन्न और नष्ट नहीं होता। वह नित्य प्रकाश है, किंतु यह अंतःकरणकी वृत्ति है। विषयाकार वृत्ति जड़ है। वह विषको भला क्या प्रकाशित करे। प्रकाशित करेगा—विषयकारवृत्तिमें जो परमात्म प्रकाशका प्रतिबिंब पड़ता है वह। जैसे दर्पण किसीको प्रकाशित नहीं करता, किंनु दर्पणमें सूर्यका प्रतिबिंब पडा हो तो वह प्रकाशित कर सकता है। यही ज्ञानशक्तिकी प्राप्ति है। अर्थात् परमेश्वरका प्रकाश प्रतिबिंब अंतःकरण वृत्तिको प्राप्त हुआ। दूसरी वृत्ति प्रवृत्ति है।

इसीको सूक्ष्म शरीरकी प्राणादि वृत्ति भी कहते हैं। उसमें जब परमात्माका प्रतिबिंब पड़ता है तो उसमें क्रिया पैदा होती है। जैसे चुम्बक संनिधिमें लानेसे लोहेमें क्रिया शुरू होती है, वैसे ही परमात्मा के सानिध्यमें प्राणोंमें क्रिया होती है। तब कर्मेन्द्रियोंमें भी क्रिया होने लगती है। फलतः ज्ञानशक्ति प्रदाता एवं क्रियाशक्ति प्रदाता परमेश्वर हुआ। इन शक्तियोंसे आप अब कुछ भी कर लीजिये। एक पहलवान आदमी है, वह तालाब या समुद्रके किनारे चल रहा था तो चलते हुए किसीको धक्का दिया, गिरा दिया, ऐसा भी हो सकता है। यदि कोई डूब रहा हो, पानीमें गिर गया हो तो उसे बचा भी सकता है। दोनोंमेंसे क्या करना, यह विवेककी बात है। सामर्थ्य तो शक्तिसे उपलब्ध है। जो भी हो, यह सिद्धांत सामने आया कि शुभ या अशुभ कोई भी कर्म हो, उसके मूलमें परमात्माकी ही शक्ति स्थित है। स्थितप्रज्ञ शुभ या अशुभकी ओर नहीं देखता, किंतु मूलकी ओर देखता है। हर कार्यमें परमात्माकी शक्तिका ही दर्शन करता है। तभी वह स्थितप्रज्ञ है।

यहां हमने चार प्रकारसे व्याख्याकी। चारोंका एक बार फिरसे विश्लेषण सुन लो। प्रथम है—शुभ या अशुभ फल सुख-दुःख प्राप्त होनेपर स्थितप्रज्ञ प्रारब्धफल समझकर प्रशंसा या निंदा नहीं करता। द्वितीय है—शुभ शकुन या अशुभ शकुन सामनेसे प्राप्त हुआ तो उसे शकुन हेतु व्यक्तिका दोष न समझकर किंतु केवल सूचना मात्र समझकर उसकी प्रशंसा या निंदा नहीं करना। तीसरा है—किसी भी शुभवस्तु या अशुभ वस्तु प्राप्तकर दोनोंमें ब्रह्मकार्यता और मायाकार्यता समझकर निंदा स्तुतिमें नहीं पड़ना, क्योंकि वस्तुकी निंदा होने पर मायाके समान तद्गत ब्रह्मकी भी निंदा होती है। चौथा है—दूसरोंका शुभ कर्म या अशुभकर्म पाकर (यहां पाकरका अर्थ है—जानकर, प्राप्यका ज्ञात्वा भी अर्थ है) दोनोंके मूल स्रोत परमेश्वर शक्तिका ही स्मरण करता है। अत एव वह न तो उसकी प्रशंसा करता

है और निन्दा ही करता है। माया वैचित्र्यको देखकर केवल आश्चर्यचकित होतां है। पहले श्लोकमें दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः इत्यादि कह चुके हैं। अतः अधिकार्थ लाभके लिये भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये। प्रथम अर्थमें पुनरुक्ति इसलिये नहीं है कि यहां मुख्यतया "किं प्रभाषेत"के उत्तरमें 'नाभि-नन्दति न द्वेष्टि" यह बताया है।

तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। प्रथम श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते' ऐसा स्थितप्रज्ञ नाम लिया। द्वितीय श्लोकमें "स्थितधीर्मुनिरुच्यते" इस प्रकार स्थितप्रज्ञके स्थान पर स्थित धी का प्रयोग किया। धी और प्रज्ञा पर्यायवाची है। "धी प्रज्ञा शेमुषी मतिः" ऐसा अमरकोश वचन है। फिरभी अवयवार्थ में अन्तर पड़ता है। प्रज्ञा कहनेसे प्रकृष्टज्ञान की ओर इशारा है। धी कहनेसे ध्यानकी ओर इशारा है। पाणिनीय व्याकरण में आया है—

"ध्यायतेः संप्रसारणं च"

ध्यानार्थक 'ध्यै' धातुके यकार को 'इ' करके दीर्घ करनेपर धी शब्द होता है। ये दोनों इशारे उचित ही हैं। क्यों? 'प्रजहाति यदा कामान्' इस श्लोकमें कामशब्द से संसारको अर्थात् अनात्म पदार्थको छोड़ने और आत्मनि तुष्टः से आत्माको प्राप्त करनेकी बात बतायी, अनात्माका त्याग और आत्माकी प्राप्ति ज्ञान मार्ग है। अतः स्थित प्रज्ञ शब्दसे कहा। द्वितीय श्लोक में पांच क्लेशों की निवृत्ति बतायी। यह योग मार्ग है। अतएव ध्यानार्थक धी शब्द का प्रयोग कर स्थिति धी कहा। तृतीय श्लोकमें व्यस्त प्रयोग किया—तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। आगे भूमिका भेद बतायेंगे। तदनुसार यह कुछ नीचे की भूमिका है। प्रज्ञा को आत्मसात् करनेमें कुछ अभी बाकी है। अतः लक्ष्य प्रज्ञा ऐसा व्यस्त करके बताया। सामान्यतया शब्दार्थ तो स्थितप्रज्ञ ही है॥ ४॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२-५८)

[कछुआ जिस प्रकार अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है वैसे जब यह मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे समेट लेता है तब वह स्थितप्रज्ञ है ।]

पाँच लक्षण अभी तक बता चुके। सर्वकाम निवृत्ति स्थितप्रज्ञका प्रथम लक्षण है। आत्मतुष्टि द्वितीय लक्षण है। पंच क्लेश निवृत्ति तृतीय लक्षण है। स्नेहपाश त्याग चतुर्थ लक्षण है। स्तुतिनिन्दा वर्जन पाँचवाँ लक्षण है। इनमें पाँचवाँ लक्षण **किंप्रभाषेत** के उत्तरमें दिया गया। अब **किमासीत** के उत्तरमें छठा लक्षण कहा जा रहा है। "**युक्त आसीत**" ऐसा इस प्रकरणमें कहा जायेगा। तथापि यह स्थितप्रज्ञ विशेष लक्षण ही है, यह हम पहले कह चुके हैं। इस श्लोकमें कूर्मका दृष्टान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गीता कोई काव्यग्रन्थ या साहित्यग्रन्थ नहीं है। इसमें उपमालङ्कार, रूपकालङ्कार, अनुप्रास, यमकादिका कोई महत्त्व नहीं है। स्वभावतः कहीं आ गया तो अलग बात है। अतएव गीतामें उपमा, रूपक आदिके नहीं बराबर है। यहाँ एक उपमा कूर्मकी दी है। इसका विशेष महत्त्व दार्शनिक क्षेत्रमें है।

यदा संहरते । यहाँ संहरतेका अर्थ मार डालना नहीं है। संहारका असली अर्थ मारना नहीं है, वह लाक्षणिक अर्थ है। संहारसे ही उप-संहार शब्द है। उपसंहारका अर्थ है—पूर्वोक्तका सारांश कहकर समाप्त करना। पहले ग्रन्थमें या पहले भाषणमें जो भी कहा, जितना भी कहा, सबको समेटकर संक्षेपसे उपसंहार किया जाता है। अतः संहारका अर्थ है समेटना। प्रलयकालमें भगवान संहार करते हैं इसका

अर्थ भी मार डालना नहीं है, किन्तु समेटना ही है। जैसे सड़कोंके किनारे बेचनेवाले विक्रेता दिनमें सामान फैला देते हैं और सायंकाल-को फिर समेट लेते हैं, जितना बिक गया उतना बिक गया, वैसे परमेश्वर भी सृष्टिकालमें जगत्‌को फैला देते हैं, दिनावसानमें सबको फिरसे समेट लेते हैं, जितने मुक्त हुए उतने मुक्त हो गये। कहनेका मतलब यह कि संहार समेटनेको कहते हैं, मारनेको नहीं।

चायम। च अयम्। संहार करनेवाला कौन? साधक-मुमुक्षु। मुक्त तो संहार किये हुए होता है। मुमुक्षु संसार करता है। कौन है वह मुक्त या मुमुक्षु, जो संहार करता है? हृदवच्छिन्न चैतन्य। हृदवच्छिन्न चैतन्य मुमुक्षु होता है। वही मुक्त भी होता है। हृत् माने मन। हरति संहरतीति हृत्। हृत या हृदय शब्दका अर्थ ही हरण करनेवाला–संहार करनेवाला होता है। हृदय छातीको नहीं कहते। हृदय माने मन। हृदय और मन दोनों पर्यायवाचकके रूपमें माने गये हैं—

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं, मनः"

ऐसा कोशमें बताया है। हृत्, हृदय मन, मानस इत्यादि शब्द पर्यायवाची होते हैं। यह हृदय किसका हरण करता है? यही एक विलक्षण बात है। चोर अपने सम्मुख वस्तुका हरण करता है। जो उसके सामने आया उसका हरण करता है। जो उसकी आँखोंमें नहीं आया उसका हरण नहीं करता, किन्तु मन इससे विपरीत है। वह संमुखीनका हरण नहीं करता, पीछेवालेका हरण करता है। स्थितप्रज्ञ लक्षणमे ही आगे आयेगा—

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते
तदस्य हरति प्रज्ञाम्"

इन्द्रियोंके पीछे पड़ा हुआ मन–इन्द्रियाभिमुखी भूत मन अपने अभिमुखमें स्थित इन्द्रियोंका हरण नहीं करता, किन्तु प्रज्ञाका हरण करता है।

मन बीचमें है। एक ओर इन्द्रियाँ हैं, उसके बाद विषय है। दूसरी बुद्धि है उसके बाद आत्मा है। बीचमें मन है। एक ओर दूसरी ओर न कहकर इसको ऊपर-नीचे भी कह सकते हैं। नीचेकी ओर इन्द्रियाँ हैं, उनके नीचे विषय है। मनके ऊपरकी ओर बुद्धि है, उसके ऊपर आत्मा है। मन यदि इन्द्रियाभिमुख है तो बुद्धिका हरण करेगा और मन यदि बुद्धिके अभिमुख है तो इन्द्रियोंका हरण करेगा। "तदस्य हरति प्रज्ञां" यहाँ प्रज्ञा माने बुद्धि अर्थ है। प्रज्ञा शब्द बुद्धि वाचक है।

"बुद्धिर्मनीषाधिषणाधीः प्रज्ञाशेमुषी मतिः"

ऐसा कोश श्लोक है। बुद्धि, मति, मनीषा, प्रज्ञा आदि पर्यायवाची शब्द है। मन इन्द्रियाभिमुख हुआ तो बुद्धिको समेटकर विषयोंमें पहुँच जायेगा। और मन यदि बुद्धिके अभिमुख होगा तो इन्द्रियोंको समेटकर आत्मामें पहुँच जायेगा। यही मन्त्रमें भी कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्

साधारण रूपेण मन इन्द्रियोंके पास पहुँचता है और इन्द्रियोंका स्वभाव है विषयोंकी ओर भागना। तब पराग् दर्शन होता है। अर्थात् बुद्धि बाह्यवस्तु दर्शन करने लगती है। इसके विपरीत—'कश्चिद्धीरः' धीरः का अर्थ है –"धियं ईर्त्ते गच्छतीति धीरः"। धी माने बुद्धिको जो प्राप्त हो, जो मन बुद्धिके अभिमुख है। वही धीर है। वह बुद्धि ऊपर आत्मापर पहुँचकर उसका दर्शन करता है। "आवृत्तानि संहृतानि चक्षूंषि इन्द्रियाणि यस्य सः" उस समय वह उपसंहृतेन्द्रिय होता है।

मन जब बुद्धिकी समेटकर इन्द्रियोंके पास पहुँच जाय तो तब हरते कहेंगे। और जब मन इन्द्रियोंको समेटकर बुद्धिके पास पहुँच जायेगा

तब संहरने कहेंगे। सं सम्यक्को भी कहते हैं, ब्रह्मको भी कहते हैं। समीचीन हरण यही है। बुद्धिका हरण असमीचीन है। अतः वहाँ संहरते व्यवहार नहीं होगा। ब्रह्मकी ओर हर ले जाना इस अर्थमें भी संहरते प्रयोग होगा। इसीके स्पष्टीकरणार्थ—"इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः" कहा। केवल "संहरते" कहनेसे ही अर्थ यही आता। लेकिन अन्य अर्थके संशयके लिये स्थान रहता।

कूर्मोऽङ्गानीव। इस इन्द्रियोंपसंहारमें साधनोंको सूचित करनेके दृष्टान्त है। कूर्मोऽङ्गानीव। इसके अनेक रहस्य हैं। क्रमशः हम कुछ रहस्योंपर प्रकाश पायेंगे। कूर्म माने कछुआ। प्रथम उसका स्वरूप देखो। उसके बाहरसे एक ऐसी मोटी त्वचा होती है—आवरण होता है जो अत्यन्त कठोर होता है। किंतु भीतरसे कूर्मका शरीर मुलायम होता है। किसानोंका शरीर कठोर होता है, क्योंकि उनका बाहर आवरण बराबर नहीं होता, गरीब होते हैं। मैंने गङ्गोत्तरीमें एक संतके दर्शन किये थे। बाहर कोई आवरण नहीं, वस्त्र नहीं तो उनका शरीर बड़ा कड़क हाथीकी चमड़ीके समान था। जिसमे चीनमें पुराने जमानेमें लड़कियोंके पांवमें लोहेका जूता पहनाया जाता था। जिससे जवानीमें और बुढापेमें भी पांव मुलायम कोमल रहे। कूर्मकी यही स्थिति है, उसके बाहरसे इतना कड़ा मोटा आवरण है कि पत्थरपर पत्थर पटको तो टूटेगा, किंतु कूर्मका आवरण नहीं टूटेगा। परिणामतः अंदर बड़ा मुलायम रहता है। मनुष्यको कैसे होना चाहिये ? साधकका स्वरूप कैसे हो ? सिद्ध कैसे होते हैं, इसमें यह एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है।

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को विज्ञातुं समर्हति"

भवभूति एक महाकवि हुए। वे लिखते हैं, ये भवभूति कौन है ? इसमें "भवभूतिरयं सुरेश्वराचार्य" ऐसी भी किंवदन्ती है। ये ही भवभूति संन्यासी होने पर सुरेश्वराचार्य कहलाये। वे कहते हैं—

लोकोत्तर महापुरुषोंका चित्त बड़ा ही विलक्षण होता है। उसको पहचानना बहुत कठिन है। वह वज्रसे भी अधिक कठोर होता है। और पुष्पसे भी अधिक कोमल होता है। कैसा कठोर और कोमल ? इसपर भर्तृहरि कहते हैं—

> संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
> आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ।।

महापुरुष वे हैं जिनके पास संपत्ति आती है तो वे अतीव दयालु हो जाते हैं, उनका चित्त कमलके समान कोमल हो जाता है। किसी-को दुःखी देखनेपर उनका हृदय दयासे पिघलने लगता है। कोई रोगी हुआ तो उनका हृदय द्रवित होता है। स्वामी विवेकानन्दजीको अमेरिकासे बहुत सारा धन प्राप्त हुआ। भारतमें गरीबोंकी स्थिति देखकर उनका हृदय द्रवित हुआ। गरीब बीमार होते हैं तो दवा पूछनेवाला भी कोई नहीं होता। उन्होंने उस धनसे सैकड़ों सेवाश्रम खोले। मरीजोंकी सेवा होने लगी। वैसे भी परदुःख देखनेपर महा-पुरुषोंका हृदय द्रवित होता है। किंतु संपदा आनेपर विशेष रूपसे पिघलता है। इसके विपरीत आपत्ति उनपर आती है तो वे अति निष्ठुर हो जाते हैं दूसरोंके प्रति नहीं किंतु अपने ही प्रति। अर्थात् कितनी भी भारी आपत्ति आवे वे अविचल रहते हैं, घबराते नहीं। साधारण लोग विपरीत होते हैं। आपत्ति आनेपर नम्र होते हैं। रोने-पीटने लगते हैं और संपत्ति आने पर अकड़कर चलते हैं। दोनोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं पड़ती। इस प्रकार संतोंका हृदय वज्रसे भी कठोर और कुसुमसे भी मुलायम होता है।

भगवान रामचन्द्रका उदाहरण महापुरुष लोग प्रस्तुत करते हैं। भगवान राम ओर एक अतिकठोर और दूसरी ओर अति कोमल भी थे।

> दशकन्धरदुर्वक्षःप्रविदारणनिष्ठुरः
> कथं जटायुमरणे विह्वलो राघवोऽरुदत्

रावणके साथ जब युद्ध हुआ तो हजारों राक्षसोंको मार गिराया। रावणके हृदयको बाणसे फाड़ डाला। उस समय राम कितने कठोर रहे। किंतु जटायु जहां गिर पड़ा था, उसके प्राण छटपटा रहे थे तो वहां रामने उसे अपने गोदमें लिया। विह्वल होकर राम रोने लगे। दुरितके प्रति निष्ठुरता और सुकृतके प्रति कोमलता यह संतोंका स्वभाव है।

यहां कूर्म दृष्टांत और गहन है। यह साधन बोधक है। यहां बाहर कठोर है और भीतर मुलायम है। बाहर और भीतरका कुछ अर्थ विशेषरूपसे देखना चाहिये। बाहर कठोर और भीतरसे मुलायमका मतलब क्या? इसको जाननेके लिये थोड़ा भक्ति शास्त्रकी ओर बढ़ो। प्रथम वहां यह बताया—

> हृदयं मृदुलं विधेहि रे
> धरपादाम्बुजकुड्मलं हरेः
> मृदि विस्फुटमङ्कते पदं
> निमितायां न शिलातले क्वचिद्

हृदयको पहले मुलायम बनाओ। फिर हरिचरणको हृदयमें लावो। प्रथम हृदय माखनके समान कोमल होना चाहिये। उसके बिना हरिपदस्मरणका कोई परिणाम नहीं होता। उदाहरणके रूपमें मिट्टी अगर गीली होगी तो उसमें पांव रखो तो पांवोंकी निशानी पड़ेगी। पत्थर पर हजार बार पांव रगड़ो तो भी कुछ होनेवाला नहीं। वैसे हृदय यदि गीली मिट्टीके समान मुलायम हो तो भगवच्चरणोंकी छाप हृदय पर पड़ेगी। यदि हृदय वज्रके समान कठोर हो तो हजार बार स्मरण करनेपर भी उसका कोई प्रभाव हृदयपर नहीं पड़ेगा। हृदयको मुलायम कैसे बनावें? यह प्रश्न होगा। क्या पानी ज्यादा पीया करें? उससे हृदय भूमि गीली हो जायेगी कि नहीं, नहीं। पानी-पीनेसे नहीं। हृदय गीला करनेका साधन दूसरा है।

हरिपादसमागमे निजं
हृदयं प्रेमरसेन सेचय
विषयोपगमे च भीकरैः
खरवैराग्यकरैर्विशोषय

जब हरिचरण-भगवच्चरणका स्मरण करो तब अपने हृदयको प्रेम रूपी अमृतसे सींचो। सर्वस्व निवेदन करते हुए हे परमात्मा तू ही मेरा सब कुछ है, ऐसा भाव रखते हुए हृदयको मुलायम करो। इसीसे हृदय मृदुल होता है। यही "मृदूनि कुसुमादपि" का अभिप्राय है। और कठोरता कब हो? विषयोपगमे। शब्द स्पर्शादि मोहक विषय उपस्थित हो जाते हैं तो गीली हृदय भूमि सूख जाती है। किससे? धूपसे। क्या धूपमें खड़े रहनेसे? नहीं। वैराग्य रूपी धूपसे हृदयको सुखा डालो। विषय सुखको क्षणभगुर तुच्छ समझो। ये विषय आये तो क्या, गये भी तो क्या।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
संमानिताः प्रियजनैर्बहुधा ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥

यहां वैराग्य अभिव्यङ्ग्य है अतएव उत्तराऽप्रतिपत्ति दोष यहां नहीं है। सकलकामनाओंको पूर्ण करनेवाली भारी धनसंपत्ति आयी तो उससे होता क्या है? शत्रुओंके सिरपर लात मारी अर्थात् उनको नीचा दिखाया तो भी होता क्या है? आपके प्रियजनोंने आपको मानसम्मान दिया, आदर किया, ऊंचा किया तो उससे भी होता क्या है? सौ दो सौ वर्ष तक जीवित रहे तो भी उससे होता क्या है? यह महाकाल है। अनन्त है। अपार है। न आपके शत्रु रहेंगे और न मित्र और न आपही, और न आपकी श्री ही। सपनेके समान सबके सब बीतने वाले हैं। क्या इन सबको हम महत्त्व दें? यही

खर वैराग्यकर है—कड़ी धूप है। उसमे हृदयको सुखा डालना चाहिये। जिससे विषयोंकी छाप हृदयपर न पड़े।

परन्तु लोगोंकी वृति इस प्रकार नहीं होती। नित्य सत्य परमात्माके लिये उनके अन्दर कोई महत्व नहीं होता। और क्षण भंगुर विषयोंके लिये मरते दम तक महान आदर रहता है। इसको श्वान वृत्ति बतायी है।

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते

एक श्वानवृत्ति होती है और दूसरी गजवृत्ति होती है। किसी कुत्तेको आप रोज रोटी डालते हो—रास्तेमें भटकनेवाले कुत्तोंमें यह विशेषतया होती है कि रोटी देनेवालेको देख कर ही पूंछ हिलाना शुरू करेगा, मानो कि वह पांव लंबाकर दंडवत् करता है। फिर जमीन पर लेटेगा, पेट दिखायेगा, मुंह दिखायेगा। इतनी नम्रता, चापलूसी; किसके लिये ? टुकड़ेके लिये। इसी प्रकार विषयोंको देखकर वृत्ति होती हो तो वह श्वानवृत्ति कहलाती है। दूसरी ओर गजराज है। हाथीको खिलानेके लिये भातके बड़े-बडे गोले, बड़े-बड़े रोटले बनाते हैं। उसके सामने ले जाय वह तुरंत खाता नहीं है। हमने एक जगह देखा। हाथी गंभीर होकर देखता है। पहले शायद इसलिये गंभीरता से देखता होगा कि यह कहीं मुझे भिखारी तो नहीं समझ रहा ? वह खाता नहीं है। वैसे आप नारियल, गन्ना आदि दें तो खा ले यह अलग बात है। खाना नहीं खायेगा। खाना खिलानेके लिये महावत या हाथीका मालिक हजार बार चापलसी करता है तो वह खाता है। राजा खालो, बड़े परिश्रमसे बनाया है। हमारा परिश्रम सफल करो, इत्यादि चापलूसी करनी पड़ती है। तब जाकर कहीं वह खाता है। नहीं तो भूखा मरेगा, किंतु खायेगा

नहीं। विषयोंका दास मत बनो। गजवृत्तिमे रहो। विषयोंके लिये लालायित मत हो। यह तो विषयोंके सामने भिखारी बनना है। विषयोंके प्रति गजवृत्ति रहना चाहिये।

भगवान श्रीकृष्णचंद्रने यहां कूर्मोदाहरण दिया है। बाहर अति कठोर है। भीतर अति मृदु है। बाहर और भीतरका पूर्वोक्तरीत्या चाहिये। बाहर क्या है? भीतर क्या है? बाहर माने विषय। भीतर माने आत्मा। स्थितप्रज्ञके सामने दो प्रकारकी वस्तु उपस्थित है। स्थितप्रज्ञाके साधकके प्रति भी वे दोनों उपस्थित हैं। एक इन्द्रियार्थ है विषय है। दूसरा अन्तरात्मा है, परमात्मा। परमात्मा को ग्रहण करनेवाली बुद्धि है। इन्द्रियार्थोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियां हैं। बीचमें स्थितप्रज्ञ था साधक मनोवच्छिन्न चैतन्यरूपेण स्थित है।

श्रीमद्भागवतमें कथा आती है—दक्षपुत्र दस हजार हर्यश्व जब सृष्टिवृद्ध्यर्थं तप करनेके लिए नारायण सरोवरके किनारे पहुँचे तो वहां नारदजी पहुंच गये। नारदजीने उनसे कुछ कूट प्रश्न किये। उनमें एक प्रश्न यह था कि एक नदी है जो उभयतोवाहिनी है। जो ऊपरको भी बहती है और नीचेको भी बहती है। यदि तुम समझदार हो तो बताओ कि वह नदी कौनसी है? हर्यश्व इस प्रश्नका जवाब नहीं दे सके। तब नारदजीने कहा, तुम फिर सृष्टि ही करोगे कैसे? हर्यश्वोंको जिज्ञासा हुई यह नदी कौन-सी है? उत्तर यहां पर स्पष्ट है। मन एक नदी रूप है, वह प्रवाहशील है। निरंतर बहता रहता है। यह कभी इन्द्रियोंके अभिमुख होता है तो नीचेकी ओर बहने लगता है। और यह कभी बुद्धिकी ओर अभिमुख होता है तो ऊपरकी ओर बहता है। नीचेकी ओर बहा ले जानेके लिये प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। यह अत्यन्त सिद्ध है। ऊपरकी ओर कभी कभी बिना प्रयास चल पडता है। किंतु बहुत कम। यदि यह ऊपरकी ओर बहने लग जाय तो इन्द्रियाँ अपहृत हो

जाती हैं, वे भी ऊपरकी ओर बहने लगती है। तब प्रत्यगात्माका भी दर्शन होने लगता है—"प्रत्यगात्मानमैक्षरावृत्तचक्षः"। किंतु इन्द्रियोंको ऊर्ध्व प्रवाहिनी बनावें कैसे ? यहां तो अन्योन्याश्रय है। आप प्रथम मनको ऊर्ध्ववाही बनावें तब इन्द्रियां ऊर्ध्ववाहिनी होंगी, और इन्द्रियां जब ऊर्ध्ववाहिनी होंगी तभी मन ऊर्ध्ववाही होगा, यही अन्योन्याश्रय है। इसके उत्तरके रूपमें भगवानने कूर्मोऽङ्गानीव यह दृष्टांत दिया। बाह्य कठोरता और आन्तर मृदुलता यही इसका परम साधन है। इन्द्रियोंकी कठोरता और बुद्धिकी मृदुलता। अपनी इन्द्रियोंको बार-बार समझाओ। अभी तक बहुत सारे विषयोंका अवलोकन हो गया लेकिन अभी तक क्या प्राप्त हुआ ? पाया नहीं, खोया। इन्द्रियशक्तियां नष्ट हो गयीं।

भगवान अर्जुनको कह रहे हैं कि तुम्हारे पचासी वर्ष बीत गये। पचासी वर्षके बाद किसी भी प्रकारकी अभिलाषा वासना नहीं होनी चाहिये। अब तक बहुत कुछ देखा, सुना, अनुभव किया। पचासी वर्ष कम नहीं है।

'मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि'

पंचाशीति एक खास हिसाब है, अतः आचार्योंने उल्लेख किया। पहले ही यह सब होना चाहिये था। लेकिन अभी ही सही। कूर्म बचपनसे ही बाहर कठोर और भीतर मुलायम होता है। वैसे मनुष्यको भी बाल्यसे ही बाह्य विषयोंके प्रति कठोर और आन्तर परमात्माके प्रति उदार भावना होनी चाहिये थी। बाल्यसे नहीं हुई तो जबसे विवेक प्राप्त हुआ तबसे ही सही, यह भावना दृढ करना ही चाहिये।

विषयोंके प्रति कठोरताका अर्थ है, विषयोंसे अनभिभूत होना। विषयोंका आघात लगता रहे पर विचलित न होना। विषयाभिभवका अर्थ है विषयाकारा कारित होना। विषयाकाराकारित

होनेमें हेतु है विषयोंके प्रति राग-द्वेष। इनका ही परित्याग आगे बताया भी जायेगा।

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्"

राग-द्वेषसे इन्द्रियां विषयोंमें चिपक जाती हैं। इनके परित्यागसे इन्द्रियार्थोंसे इन्द्रियोंका सहार होता है—उपसंहार होता है और आत्मभिमुखता होती है। कूर्मोदाहरणका यह एक रहस्य हुआ। अन्य रहस्य भी क्रमशः देखेंगे।

कूर्म उदारहण देनेका यह एक अभिप्राय हुआ—बाह्य निष्ठुरता एवं अन्तः कोमलता। यह शरीरको लेकर बताया। अब उसके स्वभावको लेकर भी उपमार्थं लिया जाता है। कूर्ममे अनालस्य, अशीघ्रकारिता, नैरन्तर्य एव धैर्य ये विशेष गुण होते हैं। साधकके किये इन गुणोंको जीवनमें लाना परम आवश्यक है।

अनालस्य। कूर्ममें आलस्य नहीं होता। साधन पथ पर चलने-वालोंके लिये आलस्य सर्वथा त्याज्य है। यह तो तमोगुणका कार्य है। साधन मार्गमें यह अवरोध करता है।

"आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः"

आलस्यको शरीरके अंदर बैठा हुआ भारी शत्रु समझो। प्रातः काल चार बजे उठनेमें आलस्य होता है। माना चार-पांच वजे तक भी नींद पूरी नहीं हुई क्योंकि देरीसे सोये, तो भी पांचके बाद साढ़े पांच तक उठना ही चाहिये। वैसे जल्दी सोने और जल्दी उठनेका आयुर्वेद सिदांत है। देरीसे उठने पर उत्तर कार्यमें विलम्ब होता है। बहुत बचपनमें एक कहानी पढ़नेको मिलती थी। कछुआ और खरगोशकी दौड़की प्रतिगोगिता लगी थी। पांच माईल पार करना था। खरगोशने छलांग मारी वह तीन चार माईल तो मिनटोंमें पारकर गया। लेकिन थक गया तो विश्राम करनेके लिये पेड़के नीचे सोया। यहां कछुआ तो अभी तक तैयार होकर सिर्फ चारों ओर देख रहा

था, किस ओर चलना है। फिर चलना जहां प्रारम्भ हुआ वहां प्रमाद, आलस्यके बिना चलता ही रहा, लक्ष्य तक पहुंचकर विजय भी पाली। इधर खरगोश थका था, अभी उठूं, अभी उठूं करता ही रह गया। इसी प्रकार मनुष्य भी प्रमाद तथा आलस्यमें जी रहा है। वह लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता। उससे पहले सूर्यास्त हो जाता है। जीवनका अंत हो जाता है। इसीलिये कबीरदास कह गये—

काल करे सो आज करे, आज करे सो अब।
छिनमें परलै होयगी बहुरि करेगा कब॥

आलस्यका अर्थ कार्यकी शिथिलतामें कारण प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा ये तीनों समझना चाहिये।

अशीघ्रकारिता। यह कूर्ममें द्वितीय गुण है। धीरे-धीरे, एक रूपसे चलना कूर्मका गुण है। एकदम दौड़ भी नहीं लगाना और एकदम बंद भी नहीं करना। एक भक्तजी कहने लगे कि पहले-पहले जब गुरुमंत्र मिला तो तीस माला, चालीस माला तक पहुंचता था। तीस, चालीस माला किये बिना चैन नहीं पड़ती थी. तो कभी पूरी न होने पर रातको बैठने लगा। उसमें भारी झंझट मालूम पड़ा तो ग्यारह माला कर दिया। सुबह उठकर ग्यारह माला कर लेते थे। कुछ महीनों तक यह सिलसिला भी चला। किंतु कभी उठनेमें देरी हो जाय तो उसमें भी गड़बड़ी होती थी तो पांच मालाका नियम रखा। परन्तु किसी दिन बाहर जाना पड़ता था तो उसमें विघ्न आता था, इसलिये अब सब नियम छोड़कर जितना हो उतना करने लगे। मैंने कहा, जितना हो सके उतना करते हैं बड़ी गनीमत, परंतु यह भी कितने दिनों तक स्थायी है, यही देखना है। यह पतत्प्रकर्ष है। साधनामें पतत्प्रकर्ष नहीं होना चाहिये। प्रतिदिन उत्कर्ष ही होना चाहिये। शुरुआत छोटी करो।

"अल्पारम्भः क्षेमकरः"

ऐसा बताया है। योग साधनामें तो यह खास बात है। योग साधनमें अधिकारम्भ होता ही नहीं। थोड़ेसे शुरुआत होता है और उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः

कोई भी कार्य खरगोशके समान सहसा मत करो। यह अविवेक है। अविवेकसे अनेकविध आपत्तियाँ आती हैं। विचारपूर्वक ठोस कदम उठाओ। उसके पास गुणलुब्ध सभी सम्पदायें आती हैं। कार्य चाहे लौकिक हो चाहे पारमार्थिक-शनैः कन्था शनैः पन्थाः इस न्यायसे धीरे-धीरे सिद्ध करना चाहिये।

नैरन्तर्य तीसरा गुण है। कूर्म चलता है तो कहीं विश्राम नहीं करता है। वह चलता ही रहता है। जब तक कोई विघ्न बाधा उपस्थित न हो तब तक वह चलता ही रहता है। वेदोंमें बताया है— सदा सदा ही आगे बढ़ते रहना चाहिये।

कलिः शयानो भवति संजिहानन्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेताभवति कृतं संपद्यतेचरन्॥
चरैवेति चरैवेति

चारयुग प्रसिद्ध है। बताया है कि ४८ लाख वर्षका सत्ययुग होता है। २४ लाख वर्षका त्रेतायुग होता है। १२ लाख वर्षका द्वापरयुग होता है। कहीं कहीं, तड़तालिस, छत्तीस, चौबीस, बारह ऐसा भी हिसाब बताया है। अभी कलियुगको प्रारम्भ हुए पाँच हजार वर्ष हुए हैं। कलिका यह प्रथम चरण है। लोग कहते हैं यह सब गप्पें हैं। किन्तु गप्पकी कोई बात नहीं है। एक चतुर्युगका हिसाब पूर्वोक्त रीत्या एक करोड़ वर्षके आस-पास होता है। ब्रह्माजीका दिन एक

हजार चतुर्युगका है। जिसमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। अर्थात् एक हजार करोड़ वर्ष तक सृष्टि चलती है, फिर प्रलय होता है। चौदह मन्वन्तरोंमें यह सप्तम मन्वन्तर है। अर्थात् अभी सृष्टिको हुए पाँचसौसे कुछ कम करोड़ वर्ष बीत गये। पाँचसौ करोड़ माने पाँच अरब वर्ष। चार साढ़े चार अरब वर्ष बीत गये सृष्टिको, तो आज कल वैज्ञानिकोंको पृथ्वीपर दो तीन अरब वर्ष पुराना पत्थर मिल गया है। चन्द्रलोकसे जो पत्थर लाये थे वह तीन अरब वर्ष पुराना बताते हैं। वैज्ञानिकोंको तीन अरब वर्ष पुराना पत्थर मिला। हम साढ़े चार अरब वर्ष पुरानी सृष्टि बता रहे हैं, तो इसमें आपको कौनसी गप्प लगी? उन्नति अवनति होती रहती है। विनाशकारी भूकंप, खंड प्रलयादि हो जाता है तो ये सारी सस्कृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। फिर धीरे-धीरें दुबारा प्रारम्भ होता हैं तो लोगोंको लगेगा कि इससे पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था। आजकलके तीस-चालीस मालेके मकान आदि जो बनते हैं, ये सब ध्वंस हो जाय तो भग्नावशेष सौ वर्ष भी नहीं रहेगा। सिमेंट तो सौ सालमें मिट्टी हो जाता है। लोहा मिट्टीमे गल जाता है। हजार वर्ष तक तो मिट्टीके और पत्थरोंसे बनी चीजें ही रहती हैं। खोदने पर वे ही चीजें मिलेंगी तो इतिहासकार लिखेंगे यह पत्थर युग था, मिट्टीयुग था। अतः ये सब अनुमानिक इतिहास अविश्वसनीय हैं। पुराण प्रोक्त इतिहास ही विश्वास योग्य है। अस्तु,

इस प्रकार हम सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग सिद्ध भी करें तो भी हमने तो न देखा और न इस जन्ममें देख सकेंगे। हम क्या? हमारे पुरात सैकड़ों पीढ़ीवाळोंने भी नहीं देखा। इतिहासकी बात अच्छी है। हमें अपने जीवनकी बात बताइये। वर्त्तमानकी बात बताइये। पुरानी बातोंको ही दुहराते रहें तो क्या लाभ होगा?

तपः परं कृतयुगे, त्रेतायां दानमुच्यते
द्वापरे यज्ञमेवाहः कलौ च हरिकीर्त्तनम्

इत्यादि साधन वर्णन यदि लाखों वर्ष पुराने सत्ययुगादिके लिये हैं तो यज्ञदानतपकी चर्चा वर्त्तमानमें वृथा होगी। इस पर मन्त्रने कहा—वर्त्तमानमें भी चारों युग चल रहे हैं। मन्त्रोंके सामने पौराणिक कट्टरपना नहीं चल सकता। पौराणिक भी वेदोंको परम प्रमाण मानते हैं। मन्त्रने कहा—

कलिः शयानो भवति। मनुष्य जब लेटा रहता है, सोया रहता है तब समझ लो उसका कलियुग चल रहा है। लेटनेका अर्थ बिस्तरे पर लेटना नहीं। फिर तो रात भर कलियुग चला, कहना पड़ेगा। लेटनेका मतलब है काम छोड़ना और सोना। जिसमें निद्रा है, कर्म नहीं। अर्थात् तमः प्रधानावस्था कलियुग है। जब आपमें आलस्य आने लग जाय, साधन करनेमें प्रवृत्ति न हो, चाहे उस समय भले ही आप दौड़ रहे हो, तो भी लेटना ही माना जायेगा। यहाँ अध्यात्मकी बात होनेसे उसीके अनुरूप विचार करना होगा। बड़े-बड़े पैसेवाले हैं। करोड़पति हैं। पैसेके लिये दिन-रात एक कर रहे हैं। साधनाके मार्गपर वे खर्राटा मारकर सो रहे हैं। कोई साधन कर्म नहीं कर रहे हैं. ये सब कलियुग है। घोर युग है। यही बात स्थितप्रज्ञमें भी आगे मिलेगा। "या निशा सर्वभूतानां" ऐसे लोगोंको सत्संग क्या? भगवान क्या इत्यादि विचार ही मनमें नहीं आते। केवल संसार ही नजर आता है। "शीङ् स्वप्ने" ऐसा धातुपाठ है। संसार स्वप्नको ही वे देखते हैं। परमार्थ जागरण सर्वथा नहीं रहता।

संजिहानस्तु द्वापरः। शयानके बाद संजिहानता है। बिस्तरसे जगा है निद्रात्यागकर बैठा है। तब द्वापर समझो। बैठने इसीलिये न, कि आगे उठेंगे, चलेंगे। तदर्थं विचार चालू है। तमोगुणसे आगे बढ़ने पर रजोगुण है। साधना प्रारम्भ नहीं हुई है केवल साधनार्थ विचार शुरू हुआ है। गहन निद्रा नहीं है। नींद टूट चुकी है। फिर भी तंद्रा छूटी नहीं है। तंद्रा छूटी होती तो उठकर चल न पड़ते।

"संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां"

मोह निद्रा टूट रही है। संसार स्वप्नवत् भास रहा है। मनमें वैराग्योदय हो रहा है। श्रवणादि हो रहे हैं। यही संजिहानता है — निद्रात्याग है।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति। उठनेवाला त्रेतायुग है। उठनेका मतलब है चलनेका पूर्वोपचार पूर्ण हुआ। चलनेका निश्चय हुआ। उत्=ऊर्ध्वं तिष्ठन्। उठ खड़ा होना।

"उत्तिष्ठत जाग्रत"

ऐसा श्रुतिमें कहा गया है। संसार रागको छोड़कर परमात्माको प्राप्त हो जाऊं, ऐसी इच्छाके साथ प्रथम जो सामान्य श्रवण होता है, वही संजिहानता है। उसके बाद विवेक वैराग्यादि पूर्ण हुआ। विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए सद्गुरुकी शरण ली और वेद-वेदांत-का विधिवत् श्रवण शुरू किया, इसीको उत्थान कहते हैं। स्थितप्रज्ञ-के प्रथम लक्षणमें यह बताया जा चुका है—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च
लोकैषणायाश्च व्युत्थाय

तीन एषणाओंसे उठना ही वास्तविक उठना है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा ये तीन एषणायें हैं, इनका परित्याग व्युत्थान है। श्रवण-मनन तो हमेशा चलता है। संजिहान समयमें और व्युत्थान समयमें श्रवण-मनन चलता है। प्रथम सामान्य होता है, द्वितीयमें विशेष होता है, यही फरक है। उस समय सत्त्वगुण प्रवृद्ध होता है। किंतु रजोगुणका भी अंश रहता है। अतः इसको त्रेतायुग कहते हैं।

कृतं संपद्यते चरन्। चलना शुरू हो गया तो सत्ययुग है। चलना शुरू हो गया मतलब साधना प्रारंभ हुई। श्रवण मनन तो त्रितय साधारण है। इसमें विशेष रूपसे निदिध्यासन शुरू हो जाता है।

अभ्यास चालू हो गया, यही चलना है, विजातीय प्रत्ययाभिभव पूर्वक सजातीय प्रत्यय प्रवाह ही निदिध्यासन है। पामरोंको प्रथम ब्रह्मचितन ही नहीं होता। अर्थात् ब्रह्मवृत्ति सोयी हुई है। वह सुप्त है, अभिभूत है। आसीन जब होता है तब ब्रह्मवृत्ति बीच-बीचमें कभी-कभी सिर दिखाती है। उठते समयकी स्थिति यह है कि ब्रह्मवृत्ति ऊपर उठी, पर तुरत हीं विजातीय वृत्ति आयी। उसे आगे बढ़ने नहीं दिया। श्रवण काल और मननकालमें बीच-बीचमें ब्रह्मवृत्ति उठती रहती है, किंतु अन्य वृत्तियाँ भी तो आती हैं। आचार्यने ब्रह्मके बारेमें कहा तो ब्रह्मवृत्ति हो गयी। किंतु मैं सुन रहा हूं, आचार्य बोल रहे हैं, ये सतीर्थ्य सभी सुन रहें हैं इत्यादि विजातीय वृत्तियाँ भी अनेक होंगी। मनन करते समय भी प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् आदि सोचते समय प्रपञ्चादि विजातीयवृत्ति होती हैं। निदिध्यासनके समयमें विजातीयवृत्तियां आकर रुकावट नहीं डालती। उस समय ब्रह्मवृत्ति प्रवाह चलता है। तालाबमें पानी खड़ा है। नदीमें पानी चल रहा है. क्योंकि वहां प्रवाह है। निदिध्यासन दो प्रकारका होता है। सहज समाधिरूप तथा निर्विकल्प समाधिरूप। सहज समाधिमें ब्रह्मवृत्ति प्रवाहके बीचमें अन्य वृत्तियां आती हैं। परंतु वे रुकावट नहीं डालती। जैसे स्रोत बह रहा है। बीचमें कंकड़-पत्थर आ जाते हैं तो भी स्रोत टूटता नहीं। उनको लांघकर आगे बढ़ता ही रहता है। वैसे घटपटादिको देखते रहें तो भी अधिष्ठान ब्रह्मवृत्ति भी चालू हो रहती है। दूसरा प्रशांत गंगा प्रवाहवत् निर्बाध होता है। निर्विकल्पक समाधिमें अन्यवृत्तियां किसी भी आकारमें नहीं आती। इनमें चाहे सहज समाधि हो चाहे निर्विकल्पक समाधि हो, प्रवाह तो जारी ही है। यही "चरन्नैव" रूपी अवस्था है। इसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। अतः यह सत्ययुग है।

चारयुगोंकी स्थिति इस प्रकार है कि कलिमें रज उपसृष्ट तमोगुण रहता है। रजोगुण गौण और तमोगुण मुख्य रहता है। यही

सोना है। द्वापर युगमें तम उपसृष्ट रजोगुण रहता है। तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान होता है। यही निद्रा त्यागकर बैठना है। रजोगुणमें थोड़ी प्रवृत्ति तो होती ही है। त्रेतायुगमें तमोगुण नहीं रहता, उसके स्थानमें सत्वगुण आ जाता है। सत्त्व उपसृष्ट रजोगुण रहता है। सत्वगुण गौण और रजोगुण मुख्य होता है। यही उठना है। फिर सत्ययुगमें वही उलट जाता है। रजोगुण गौण और सत्वगुण मुख्य होता है। यही चलना है—आगे बढ़ना है।

इस स्थितिके बाद फिर क्या करना सो बताया—चरैवेति-चरैवेति। आगे चलते रहो, चलते रहो। रुकना नहीं। पीछे हटना नहीं। कूर्मदृष्टांतका यही अभिप्राय है कि निरंतर साधनामे लगे रहो। भगवान् पतञ्जलि ऋषिने भी योगसूत्रमें नैरन्तर्यका उपदेश करते हैं—

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः"

अभ्यास प्रथम तो दीर्घकाल पर्यन्त करना होगा। दीर्घकालकी क्या अवधि? आठ मास, दस मास, साल, दो साल या दस साल? इसकी अवधि तत्वसाक्षात्कार ही है। वह जभी हो तब तक करना है। ध्रुव जैसा साधक हो और छः महीनेमें ही काम बन गया तो अच्छी बात है। नहीं तो साल, दो साल, दस साल क्या पूरा जीवन, और कई जीवन भी लग सकते हैं। गीतामे तो **"अनेकजन्मसंसिद्धः"** बताया है। अनेक जन्मोंमें जाकर सिद्धि होती है।

बहुत लोग शिकायत करते हैं—महाराज! बहुत दिनोंसे साधना कर रहे हैं, किंतु कोई फरक नहीं पड़ रहा है। दस साल पहले जो स्थिति थी वही अब भी है। दस साल पहले भी चित्त चंचल था, अब भी चंचल है। स्थिर नहीं हो रहा है, शान्ति नहीं मिल रही है। बल्कि शुरुआतमें मन कुछ अच्छा भी था अब वह भी नहीं रहा। किंतु बात ऐसी नहीं है। अभ्यासमें फरक पड़ रहा है।

आपको मालूम नहीं हो रहा है। बच्चा जब हुआ तो एक दिनमें, दो दिनमें, दस दिनमें कोई वृद्धि, परिवर्त्तन मालूम नहीं पड़ेगा तो क्या पंद्रह साल तक वैसा ही पड़ा रहा और एक ही दिन एकाएक लम्बा मोटा हो गया ? नहीं। वह प्रतिदिन क्या प्रतिक्षण बढ़ रहा था। परंतु आपको प्रतीत नहीं हो रहा था। अंदाजा तो साल, दो सालमें लगने लगा। बीस वर्ष तक लड़का छः फुट लम्बा होता है तो या पहले एक फुट रहा बाकी पांच फुट लम्बा हुआ। दो साल माने दसवाँ अंश। कम से कम दशांश वृद्धि हो तब कुछ मालूम पड़े। यदि सौ जन्ममें भगवद्-प्राप्ति होती है तो एक जन्ममें क्या मालूम पड़ेगा। दशांशकी प्रतीतिके लिये दस जन्म लेने पड़ेंगे। तब दो चार सालमें क्या फरक मालूम पड़ेगा ? किंतु यह विश्वास रखो कि फरक अवश्यमेव पड़ रहा है। लड़का रोज बढ़ रहा है, यह निश्चित है, आपको प्रतीत हो रहा हो या न हो रहा हो। जितना भी आप सत्कार्य करते हैं, उसका नाश कभी भी नहीं होता। "नेहाभिक्रम-नाशोऽस्ति" यह पहले कहा जा चुका हैं। अतः दीर्घकाल तक करते ही रहना चाहिये। बीचमें निराश होनेका कोई कारण नहीं।

साथमें नैरन्तर्य भी चाहिये। सत्संगमें एक हफ्तेमें एक बार रविवारके दिन जाते हैं। पचीस सालसे सत्संग कर रहे हैं, किन्तु रविवारके दिन ही। इतनेसे नहीं चलेगा। नैरन्तर्येण करो। नैरन्तर्यका चौबीस घंटा अर्थ नहीं। किंतु दिनमें नियम बनाकर नियमानुसार करते जाना ही नैरन्तर्य है। बीचमें अन्तर न आवे, इसको निरन्तर कहते हैं। यह ऊर्ध्वकी ओर नाव चलाना है। काशी-से प्रयागकी ओर। भरुचसे शुक्ल तीर्थ कर्नालीकी ओर। सुनते हैं, तेनसिंह कलकत्ता गंगासागरसे लेकर जोशीमठ तक नाव ले गया था। नाव निरन्तर खेते रहे तो ही यह संभव है। बीचमें छूट जाये तो फिर वापिस आयेगा। फिर उतना दुबारा ऊपर चढ़ाना पड़ेगा। विद्यार्थी व्याकरण पढ़ते समय रोज सूत्र रटते हैं। दो-चार दिन

छूट गया तो पढ़ा हुआ भूल जाते हैं तो फिरसे रटना पड़ता है। वैसे अधीनका संस्कार तो रहता ही है, नष्ट नहीं होता। फिर भी परिश्रम दुगुना-चौगुना हो जाता है। वैसे श्रवण-मननादि निरन्तर करते रहो तो दृढ़ होगा। अन्यथा संस्कार तो रहेगा। श्रवणादि व्यर्थ तो नहीं होंगे, फिर भी आवरणसे अभिभूत हो सकते हैं। परिश्रम अधिक करना पड़ जायेगा। केवल सत्संगकी ही बात नहीं। यह तो सत्संग प्रसंग होनेसे हम बोल गये। समस्त साधनाभ्यासकी यही बात है कि निरंतराभ्यास होना चाहिये। ब्रह्मसूत्रमें लिखा है—

"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"

बार-बार आवृत्ति करो। फिर-फिर श्रवणादि करो। निरंतर करो।

तीसरा अभ्यास करनेमें आदर-सत्कार भी चाहिये। सत्संगमें आते हैं तो उसका समादर साथमें होना चाहिये। चलो समय अच्छा कटेगा, इस दृष्टिसे नहीं। भगवत्पूजन, ध्यान करते हो तो समादर-पूर्वक करो। ऐसा नहीं कि—"चलो शुरूकर दिया है तो नियम भंग न करो, थोड़ा बहुत कर लो" ऐसे उपेक्षाभावसे करें। पूरी निष्ठासे श्रवण करो। पूरी निष्ठासे मनन भी करो। श्रद्धा-भक्तिसे पूजन-अर्चन करो। इससे मेरा श्रेय होगा, कल्याण होगा, यह दृढ़ भावना मनमें हो। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीका वचन है—

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम
वासुदेव कथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः

नैष्ठिकी रतिका अर्थ है—निष्ठापूर्वक रति। नितरां स्थिति जिसमें हो वही निष्ठा है। वासुदेवकथामें नैष्ठिकी रति हो गयी तो समझ लो बुद्धि सही रास्तेमें आ गयी है। सम्यग् व्यवसित हो गयी है। इसी कारण मनुष्य श्रेष्ठ बनता है। इसलिये यहांका संबोधन है राजर्षिसत्तम। राजा नहीं, राजर्षि। केवल राजर्षि नहीं, किंतु राजर्षियोंमें सत्तम महान। इसीको सत्कार कहते हैं। आप कछुएको

चलते हुए जैसे कोई जाड़ी मोटी माई सैर करने निकली हो, प्रसन्न बदन हो, मानो कि चार मन वजन उठाकर चल रही हो, ऐसा कछुआ दिखाई पड़ेगा। मुंह आगेकी ओर लंबाकरके एक-एक टांग आगेकी ओर पसारते हुए बड़ी तत्परताके साथ चलता नजर आयेगा। जैसे कोई बूढ़ी गाय कुछ दूर हरी घास पड़ी हो तो गर्दन आगेकी ओर लम्बी करके चलने लगती है। अत्यन्त तत्परतासे वह चलता है। साधकको भी तत्परतासे साधना करनी चाहिये। तत्परता अर्थात् साधना में गौरव एवं श्रद्धा प्रेमपूर्वक प्रवृत्ति।

कूर्ममें चौथा गुण है–धैर्य। किसी देशमें पानी कम बरस गया और तालाब सूखने लगा तो मछलियां वहीं सब मर जाती हैं। किंतु कछुआ वहांसे दूसरे तालाबकी तलाशमें निकलता है। कूर्मकी स्पर्श-नेन्द्रिय बड़ी तेज होती है। पशु-पक्षियोंमें किसी-किसीकी कोई कोई इन्द्रिय अति तेज होती है। गिद्धकी चक्षुरिन्द्रिय बहुत तेज होती है। दस माईल दूरसे वह अपने खानेकी चीज देख लेता है। गृध्रदृष्टि प्रसिद्ध है। श्वानकी घ्राणेन्द्रिय प्रबल होती है। हमारी घ्राणेन्द्रियमें पचास झिल्लियां होती हैं। पचास प्रकारकी सुगंधिका वह विवेक कर सकती है। किन्तु कुत्तेकी पांचसौ झिल्लियां होती हैं। पांच सौ आदमीकी गन्धको चीरकर वह चोरकी गंधको पकड़ सकता है। वैसे कूर्मकी स्पर्शनेन्द्रिय बड़ी तेज होती है। पचास माईल दूरीपर भी यदि तालावमें पानी हो तो उसको पता लग जाता है, और वह उस ओर चल पड़ता है। रोज वह चले तो अधिकसे अधिक चार-पांच माईल चल सकता होगा। इस रफ्तारसे भले ही उसको दस दिन लग जाय वहां पहुंचनेमें, परंतु वह घबराता नहीं. धैर्य रखता है। चलता ही जाता है। हर कार्यके लिये धैर्य रखना चाहिये। जैसे हम अभी बता रहे थे—दीर्घकाल पर्यन्त साधना करनी पड़ेगी। और उसके लिये उतना ही धैर्य भी रखना होगा। ऐसा मत सोचो कि मैं इतने सालोंसे जपकर रहा हूं, किंतु भगवानका सपनेमे भी

अभी तक दर्शन नहीं हुआ। मेरी मेहनत व्यर्थ जा रही है। आपका पुरुषार्थके साथ प्रारब्ध भी है। प्रारब्धका मतलब यह नहीं समझना कि भगवद्-दर्शन प्रारब्धाधीन है। उसका अर्थ यह है कि अनेक जन्मोंमें साधना पूरी होती है। "अनेक जन्मसंसिद्धः" इस गीता-वचनके अनुसार अनेक जन्मोंमें सिद्धि मिलती है, भगद्दर्शन मिलता है, उनमें आपने कितने जन्मोंका अभ्यास किया, उसीके अनुरूप शीघ्रतामें तारतम्य होता है। यह कैसे मालूम पड़ेगा ? जितना अधिक आपने पूर्वमें अभ्यास किया उतनी ही तेज आपकी गाडी होगी। आप अभी बसमें है या ट्रेनमें या बैलगाडीमें अथवा प्लेनमें, इसका क्या पता है ? हो सकता है बैलगाडीमें दिल्ली तक निकले हों। हो सकता है, अभ्यासकी तीव्रताके कारण प्लेनमें ही बैठे हों। जैसा भी हो धैर्य रखना ही उचित है।

दो तपस्वी तप कर रहे थे। एक पानी पिये बिना शीर्षासन लगाकर तप कर रहा था। दूसरा पानी पीता है, कंदमूल खाता है, कभी रोटी मिली तो वह भी खा लेता है। वह भी तप कर रहा था। तप करते-करते कई वर्ष बीत गये। चालीस-पचास सालसे घोर तपश्चर्या चल रही थी। एक बार नारदजी घूमते-घूमते वहां पहुंचे। नारदजी दानों तपस्वियोंसे अलग-अलग मिले। नारदजीने कहा - मैं विष्णु लोकमें जा रहा हूं। कोई बात भगवानसे पूछना हो तो कहो। मैं पूछकर आपको जवाब दूंगा। पहले तपस्वीने कहा— भगवानसे पूछ आइये कि मुझे आप कब दर्शन देंगे। दूसरेको पूछने पर उसने भी यही कहा कि आप अवश्य पूछेंगे कि हमें भी आपके दर्शनोंकी आशा है या नहीं। नारदजी वहांसे बैकुंठ लोकमें गये। वहां उन्होंने दोनों तपस्वियों की बात कहकर भगवानका जवाब लेकर चले। घूमते-घूमते दा-तीन वर्ष बाद फिर वहीं पहुंचे। प्रथम तपस्वीने नारदजीको पहचाना और पूछा मेरे प्रश्नका क्या जवाब मिला ? नारदजीने कहा—भगवान कह रहे थे कि आपको मेरे

दर्शनके लिये छः जन्म और लेने पड़ेंगे। तपस्वीने कहा– एक-एक क्षण निकलना मुझे इतना कठिन हो रहा है, कठोर तपसे मैं बेहाल हो गया हूं। भला भगवानका यह कैसा पक्षपात ? ध्रुवको छः महीनेमें ही दर्शन दिया। मुझे छः जन्म लेने पड़ेंगे। यह कैसा अन्याय ? वह निराश होकर रोने लगा। अन्याय-अन्याय कहने लगा। बोलने लगा, मैंने सोचा था कि शीर्षासन लगाकर तप करूं तो छः महीनेमें न सही, चार-छः सालमें तो दर्शन होगा। क्या मैं छः जन्म तक इसी प्रकार कष्ट उठाता रहूं ? अहा ! क्या यह भगवानकी नीति है ? नारदजी चुपकेसे वहांसे उठकर दूससे तपस्वी-के पास गये। उसने भी नारदजीको पहचाना। बड़ी प्रसन्नतासे पूछा—भगवन ! मेरा क्या होगा ? नारदजीने कहा—तुम न सुनो तो ठीक रहेगा, क्योंकि नारदजीने सोचा पहले तपस्वीका यह हाल हुआ तो उससे बढ़कर इसकी दशा होगी। तपस्वीने कहा—जो भी हो सुनाइये। नारदजीने कहा—जिस नीमके पेड़के नीचे आप बैठे हैं, इसपर जितने पत्ते हैं उतने जन्म आपको लेने पड़ेंगे. तब भगवान-का दर्शन होगा। यह सुनते ही तपस्वी उठकर नाचने लगा। हंसने लगा। नारदजीको बार-बार प्रणाम करने लगा। धन्य-धन्य हो नारदजी, आपने अमृतमय खबर सुनाई। नारदजीने सोचा, इसने मेरी बात पूरी समझी नहीं, इसलिये खुश हो रहा है। नारदजीने कहा —आप इतने खुश हैं, लेकिन कितने जन्मके बाद आपको दर्शन मिलेगा, यह समझमें आया ? तपस्वीने कहा—समझमें सब आ गया। नीमके पेड़पर जितने पत्ते हैं, उतने जन्मकी बात तो क्या, करोड़ों अरबों जन्म भी मुझे भले ही लेना पड़े। खुशी मुझे इस बातकी है कि आखिर मेरा नाम भगवानके दर्शनके खातेमें चढ़ गया। अब चाहे जभी दर्शन हो। अपार खुशीमें नाचता-नाचता वह तपस्वी बेहोश होकर गिर पड़ा। भगवान तुरत वहां पहुचे। नारद-जीने कहा, भला यह कैसी बात ! आप इसे दर्शन देने अभी कैसे

पहुंचे ? भगवानने कहा, मेरा भक्त जब मुझमें तन्मय होता है, तल्लीन होता है तो मैं दर्शन देने आता हूं। नारदजीने कहा, लेकिन आपका वचन तो मिथ्या हो गया। क्या मिथ्या हुआ ? इस नीमपर जितने पत्ते हैं उतना जन्म लेना होगा। भगवानने कहा—देखा, कितने पत्ते इस पेड़ पर हैं ? नारदजीनें देखा, एक भी पत्ता नहीं है। सभी पत्ते गिर गये थे। अस्तु कथाका तात्पर्य यही है कि समयकी दीर्घताके लिये कभी अधीर नहीं होना चाहिये। कितना भी लम्बा समय क्यों न हो वह भी कट जायेगा। पहाड़को देखकर घबराओ तो काम नहीं चलेगा। हम कैलाश यात्रामें जब गये तो एक-एक पहाड़की चढ़ाई दस-दस मील, बारह-बारह मीलकी थी। फिर उसी प्रकार उतराई भी। किंतु चढ़ाई देखकर घबरानेसे कुछ नहीं होता। चढ़ते-चढ़ते पूरी चढ़ाई समाप्त हो ही जाती थी। विद्यार्थी जब पढ़ते हैं तो शास्त्री, आचार्य पहाड़ जैसा दीखता। बी ए., एम. ए. अति दूर दीखता। क्या मैं भी बी ए. पासकर सकूंगा, ऐसा शंकित होता। किन्तु एक दिन वह भी आ जाता है, जब बी ए, एम ए से भी आगे बढ़कर, शास्त्री, आचार्यसे भी आगे बढ़कर स्वतंत्र चिंतक बन जाते हैं और इन सब कक्षाओंको छोटी-छोटी देखने लगते हैं। साधनामें भी यही बात है। साध्य बहुत दूर मालूम पड़ेगा। कभी-कभी निराशा-सी भी होने लगेगी। किंतु निराश होनेकी कोई बात नही है।

प्रकृतमें विशेषरूपसे विषयोंसे इन्द्रियोंको समेटना यही साधना बतायी जा रही है। पहले-पहले साधकोंको संशय होने लगता है कि सचमुच विषयोंसे इन्द्रियोंको समेटना संभव है क्या ? उत्तर है धैर्य रखो। कूर्मोदाहरण केवल अंगोपसहारमें ही नहीं। लक्ष्य स्थानमें पहुंचनेमें उसके धैर्यके अंशमें भी। प्रत्याहार साधना योगशास्त्रमें बतायी गयी है। उस साधनासे इन्द्रियोंपसंहार संभव है। तदर्थ खूब धैर्यशाली बनना चाहिये। इस प्रकार प्रमादालस्यनिद्राराहित्य,

अशीघ्रकारिता, नैरन्तर्य एवं धैर्य ये चार साधन कूर्मोदाहरणसे सूचित किये।

कूर्मोदाहरणमें एक उसकी शारीरिक स्थितका मानस अनुकरण करनेकी सूचना दी—बाहर कठोर और भीतर मुलायम। दूसरा यह बताया कि स्वभावतः वह प्रमादालस्य आदिसे रहित होता है, अशीघ्रकारी होता है और धैर्यके साथ बढ़ता ही जाता है। इसीको श्रुतिने भी "चरैवेति चरैवेति" से कहा। यह लक्ष्यकी ओर बढ़ना उसी प्रकार है जैसे समुद्रकी ओर नदियोंका बढ़ना होता है। निरन्तर प्रवाह है, लक्ष्यभिव्रजन है। चाहे वह सहज समाधिसे हो, चाहे निर्विकल्प समाधिसे हो। अब वह प्रवाही करण कैसा हो? इसमें भी यही कूर्मोदाहरण प्रस्तुत है। कूर्मकी चालमें तीन विशेषतायें होती हैं। एक गूढचारित्व, दूसरी लक्ष्यैक चित्तता और तीसरी सजगता है।

गूढचारिता। मैं इधर-उधर कुएँमें या नदीमें जो कछुए बैठे हैं। उनकी बात नही कह रहा हूं। जंगलमें या गांवोंमें जहां तालाब, सरोवर आदिमें कछुए होते हैं, उनकी बात कह रहा हूं। जब वहांके पानीमें कोई दोष आ जाता है या पानी सूखने लगता है। तब वे उस तालाबको छोडकर दूसरे तालाबोंमें जाते हैं, जहाँ पानी भरपूर होता है। गांवोमें कई ऐसे तालाब होते है, जो गरमियोंमें सूख जाते हैं। तब वहां की मछलियां तो मर जाती हैं, किंतु कछुए दूसरे सरोवरमे चले जाते हैं। जाते समय वे गाय, भैंस, कुत्ते आदिके समान मनुष्योंके चलनेके चौड़े मार्गसे नहीं जाते। रास्तेके बाद जो बीहड़ जमीन होती है वहां कंकड़, पत्थर पड़े होते हैं, उस मार्गसे चलते हैं। हमने परिभ्रमणके समयमें देखा है, आम रास्ता छोड़कर चालीस पचास फूट दूरसे वे चलते हैं। जिससे लोगोंको मालूम न पड़े। कूर्मोदाहरणसे भगवान सूचित करते हैं कि साधकको

भी साधना गुप्त रूपसे करनी चाहिये, प्रकट रूपसे नहीं। दिखावा तो सर्वथा नहीं करना चाहिये। एक सेठको मैंने देखा, उसके पास बड़ी लंबी माला थी। एक सौ आठ दानेकी नहीं एक हजार आठ दानेकी। मैंने पूछा, कितना जप रोज करते हो? सेठ बोला—सवा लाख। महीनेमें? नहीं, रोज। भला यह कैसा जप है? यह तो केवल दिखावा है। जप, तप आदि दिखावेके लिये तो तो नहीं ही होना चाहिये। बल्कि कोई देखे नहीं, ऐसा करना चाहिये। महात्मा लोग कमरा बंदकरके अंदर जप करते हैं, साधना करते हैं। शास्त्रोंमें बताया है कि दिखाकर करनेसे आधा फल चला जाता है। भक्त लोग कहते हैं कि यह सब फिर जंगलोंमें, गुफाओंमें संभव है, शहरोंमें कैसे हो सकता है? शहरों में भी हो सकता है। सुबह चार-पांच बजे पूरा घर एकांत ही होगा। सब सूर्योदय होनेपर उठनवाले ठहरे। एक भक्तने हमसे पूछा—महाराज! भागवत कथामें सुना है कि माला हाथमें लेकर कथा सुनो, हर वक्त नाम जप करो। इसके लिये एकांत अनेकांतकी जरूरत नहीं। इसका उत्तर है कि कथा समझमें नहीं आती तो माला जप चालू करो। अगर कथा समझमें आती हो तो दोनों एक साथमें सभव नहीं है। उसमें फिर एकाग्रता कहां रही? यह तो दो अग्रता हो गयी, इसको व्यग्रता कहते हैं। हर हमेशा नाम लेना साधना नहीं है। नाम ग्रहणसे पुण्य होगा, इतनी बात जरूर है। किंतु ऐसा करने पर कहीं मेकेनिक जप नहो जाय—यांत्रिक न हो जाय, यह भी ध्यानमें रखना पड़ेगा। वस्तुतः साधनाके रूपमें करना चाहते हो तो एकांतमें करना चाहिये।

लक्ष्यैकदृष्टिता दूसरी है। एक जगह एक गांवसे दूसरे गांव जा रहा था तो दो बच्चे खेल कर रहे थे, ऐसा देखा। रास्तेमें उन लोगोंने कछुएको जाते देख लिया। बीहड़ जमीन थी कंकड़ीली। उत्तर दिशाकी ओर वह जा रहा था। लड़कोंने उसे उलट दिया, फिर

उसे लकड़ियोंसे उठाकर दूसरी ओर डाल दिया । मैं वहां एक पेड़के नीचे विश्राम करने लगा । थोड़ी देर बाद कछुआ सीधा हो गया, फिर उसी ओर जाने लगा । लड़कोंने उसको कपड़ेमें बांधकर दूसरी ओर ले जाकर छोड़ा । लड़के कुछ दूर जाकर बैठे । कछुआ उठकर फिर उसी ओर चलने लगा । मैंने फिर लड़कोंको कहा, तुम क्यों इसे हैरान करते हो ? लड़के कहने लगे, क्यों वह उस तरफ ही जाता है ? हमने बीसों बार इधर-उधर किया, लेकिन वह उसी ओर जाता है । बिल्ली, कुत्ते सब दूसरी-तीमरी ओर भागते हैं । मैंने कहा, इसे हैरान मत करो । उसे जहां जाना है, जाने दो । तुम्हें पाप लगेगा । पापका नाम सुनकर लड़कोंने पीछा छोड़ा । वहां हमें शास्त्रीय बात प्रत्यक्ष देखनेको मिली कि कछुआ लक्ष्यकी ओर चल पड़ा तो उसी ओर चलता जाता है । आचार्यने साधना पञ्चकमें बताया है—

> एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
> पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्
> प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
> प्रारब्धं त्विह भुज्यतामिह परब्रह्मात्मना स्थीयताम्

गूढ़चारी बनो । एकान्तमें सुखपूर्वक बैठो । एक ही अंतर्हृदय-मध्य जहां हो, उसको एकांत कहते हैं । जहां जन-कोलहाल न हो, वार्तालाप न हो, द्वैत प्रसङ्ग न हो, वह एकान्त है । बहुतसे लोग ऐसे होते हैं कि दो-चार-दस गपशप लगानेवाले न हों, तो उनका समय ही नहीं कटता । एकांत सेवन के प्रिय बनो ।

परतरे चेतः समाधीयतां—परतर परमात्मा है, उसीमें चित्तको समाहित करो । लक्ष्य बनाकर उसी ओर चित्तवृत्ति प्रवाहको विजातीयवृत्त्यभिभवपूर्वक प्रवाहित करो । यही लक्ष्यैकदृष्टिता है । एकाग्रता भी इसीको कहते हैं ।

पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां—लक्ष्यैक दृष्टि होकर क्या करना चाहिये ? पूर्णात्माका समीक्षण करना चाहिये। खण्डितात्माका नहीं। गीतामें जीवात्माको परमात्माका अंश माना है। अंशको अंशीसे पृथक् करो तो अंशी खंडित होगा, पूर्ण नहीं होगा। शरीरसे हाथ काटकर अलग करो तो शरीर फिर पूर्ण नहीं माना जा सकेगा। यह बड़ा भारी पापकर्म माना गया है। संतभक्त कहते हैं कि एक वृक्षकी डाली काटकर अलग करो, अंशीसे अंश अलग करो तो भी पाप लगता है तो परमात्माके अंश जीवात्माको काटकर अलग करो तो कितना भारी पाप लगता होगा, यह अंदाजा कर लो। यही लक्ष्यकी ओर चलनेका अभिप्राय है कि अखण्ड ब्रह्मात्मदर्शन करते जाओ।

जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्। यह जगत क्या है ? समुद्रमें फेन बुद्बुदके समान ब्रह्ममें मायावायुपाद होनेसे परिच्छिन्न दृश्य कल्पनामात्र है। जीवात्मा भी परमात्मासे पैदा हुआ। जगत भी परमात्मासे पैदा हुआ। दोनोमें फरक क्या है ? जीवात्मा समुद्रमें तरङ्गके समान है, जगत समुद्रमें फेन बुद्बुदके समान है। हवा आदि उपाधिसे समुद्रसे कुछ जल ऊपर उठा तो वह तरंग कहलाती है। उसमें बाह्य उपाधि हवा है। फेन बुद्बुद क्या है ? वह भी हवासे ही उत्पन्न हुआ। किंतु अंदर भी हवा भरी है। इसी प्रकार जीवात्मा और जगत है। जीवात्मामें परिच्छेदक अज्ञान है। स्वरूपमें अज्ञान नहीं है। प्रपंचमें स्वरूपमें भी अज्ञान प्रविष्ट है। अर्थात् जगत अज्ञानका परिणाम और चैतन्यका विवर्त्त है। जीवात्मा अज्ञानका परिणाम नहीं है। आभासवादमें प्रतिबिम्बांश चैतन्यका विवर्त्त हो सकता है। यहां यही हम बता रहे थे कि ध्यानादिमें बैठते समय जगतको बाधित देखो। यह जगत तो फेन बुद्बुदके समान उत्पन्न विनष्ट है। बल्कि जीवात्मा भी तरंग मात्र है। मैं सागरके समान अखण्ड अनंत हूं, ऐसा अनुभव करो। इसप्रकार पूर्णात्माका दर्शन और जगत् का बाध ये मुख्य लक्ष्य हैं। एतदर्थं ही यह यात्रा है। उसका फल

प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां इत्यादि है। सबका चरम लक्ष्य—"परब्रह्मात्मना स्थीयतां" से बताया गया। अर्थात् इस यात्रामें पूर्णात्मा दर्शनसे और जगत बाधसे आपके संचित कर्म लीन हो जायेंगे। आगामी कर्मोका श्लेष नहीं होगा। प्रारब्धका तो भोगसे क्षय होगा। प्रारब्ध क्षय होने पर परब्रह्म रूपसे अवस्थान होना। ये चारों स्वतः होंगे, क्योंकि संचित नाश या आगामीका अश्लेषज्ञान फल है, यत्न साध्य नहीं है। प्रारब्धका भोग तो यत्नान्तर्गत है ही नहीं। प्रारब्ध क्षय हुआ तो प्रथम जो पूर्णात्मा-समीक्षण हुआ था, उसके फलस्वरूप परब्रह्म रूपेण स्वतः एव अवस्थान होगा। अतः श्रवणमननिदिध्यासनात्मक निरन्तर चरण (चरैवेति चरैवेतिसे बताये गये चरण) का फल पूर्णात्माका सुसमीक्षण तथा जगत् बाध दर्शन ही है। इन दोनोंका साधन एकान्त सुखासन तथा चेतः समाधानरूपी निदिध्यासन ये दो हैं।

कूर्मकी यात्रामें दो विशेषतायें हो गयीं—गूढचारिता तथा लक्ष्यैकप्रवणता। अब तीसरी विशेषता देखनी है, वह है सजगता। कूर्म जब चलता है तो कहीं भी थोड़ी भी आहट सुनाई पड़ी तो अपने अंगोंको अंदर खींचकर ऐसा पड़ा रहता है कि देखने वालेको लगेगा कि कोई निर्जीव पत्थरका टुकड़ा पड़ा है। जब आदमी आगे बढ़ जाते हैं तो फिर अपने हाथ-पांव निकालकर चलने लगता है। पर पराभव से हमेशा वह सजग रहता है। यही यहां भाष्यमें लिखा है—

"कूर्मो भयात्स्वाङ्गान्युपसंहरति"

कूर्म इस डरसे कि कोई उपद्रव न कर ले, अपने अंगोंको खींच लेता है। भयका अर्थ है उपद्रवकी आशंका। कूर्म जैसे डरता है वैसे साधकको भी डरते रहना चाहिये। किससे? व्यक्तियोंसे? नहीं। विषयोंसे। यही भगवान बोल रहे हैं—इन्द्रियार्थेभ्यः कूर्म

उपद्रवियोंसे बचनेके लिये अंगोंको खींच लेता है। साधकके लिये उपद्रवी विषय ही हैं। हर हमेशा सजग रहना चाहिये। थोड़ा भी प्रमाद हुआ तो मार खानी पड़ेगी।

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गाः पुनः पञ्चभिरञ्चितः किम्

ये पांच विषय ऐसे हैं कि इनके बन्धनमें फंसकर पांच प्राणी मार खा गये। शब्दसे हरिण, स्पर्शसे हाथी, रूपसे पतङ्ग, रससे मछली, और गंधसे भ्रमर मारे गये। एक-एक विषयमें फंसनेसे इन पांचकी दुर्दशा हुई तो पांचों विषयोंमें फंसे मनुष्यकी दुर्दशा कहना ही क्या ? इन विषयोंसे हमेशा सजग रहना चाहिये। सजगता ऊपरसे इस-लिये जोड़ रहे हैं कि रहना आखिर इन्हीं विषयोंके बीचमें है। शब्द-के बिना कोई नहीं रह सकता। बातचीत करनी पड़ेगी। गाना, रोना तो सर्वत्र विद्यमान है। नीरव कोई स्थान नहीं हो सकता। स्पर्श भी सर्वत्र होगा। किसीका स्पर्श होगा। किसीका स्पर्श किये बिना कौन रह सकता है ? मनुष्यका स्पर्श नहीं तो जंगलमें पशु-पक्षियोंका स्पर्श होगा। आखिर मिट्टी-पत्थर का कठोर एवं मुलायम स्पर्श होना निश्चित है। रूप भी अवश्य देखनेको मिलेगा। कोई आँखोंपर पट्टी बांधकर घूमता नहीं है। देखने लगते हैं तो कहीं सुंदर रूप भी दिखाई पड़ेगा और कहीं कुरूप भी दिखाई पड़ेगा। यहां आवश्यक है, सजगता। जहां फंसने जा रहे हैं, वहांसे इन्द्रियोंको लौटाना चाहिये। इसी प्रकार रसानुभवके बिना कोई भी व्यक्ति नहीं होगा। उदराग्निको शांत करनेके लिये कुछ न कुछ आहुति उसमें डालना ही पड़ेगा। उसमें सरस तथा नीरस वस्तुओंका आना भी अपरिहार्य है। रसकी अनुभूति अवश्यमेव होगी। आवश्यकता है—सजगताकी। जहां बंधनकी आशंका हुई वहां तुरंत इन्द्रियोंको

समेटना चाहिये। इसी प्रकार पञ्चम विषय गंध भी है। चलते समय कहीं पुष्पवाटिका भी आयेगी और नाला, गटर भी आयेगा। कोई मनुष्य ऐसा है, उसने शरीरमें इत्तर-सुगंधी लगाये हुए है। दूसरा ऐसा है कि पसीनेकी दुर्गंधि शरीरसे निकल रही है। रहना इन्हींके मध्यमें है। आवश्यकता यहां भी सजगताकी है। जहां पतनाशङ्का हो, वहांसे इन्द्रियोंको समेटना चाहिये।

कहांसे समेटना चाहिये, इस विषयमें प्रथम विवेककी आवश्यकता है। विचार करना होगा। और सजगता लानी होगी। श्रीमद्भागवतमें आया है—

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित् ''।
आसां क्रीडनकोवश्यऋष्यशृङ्गोमृगीसुतः॥

ऋष्यशृङ्ग नामका एक महान तपस्वी मुनिकुमार था। महर्षि विभाण्डकका वह पुत्र था। विभाण्डक ऋषिका विचार था. ऋष्यशृङ्गको सर्वोच्च महामुनि महर्षि बनानेका। इसलिये उन्होंने जंगलमें रहते हुए वेदवेदाङ्गवेदान्तकी शिक्षा देने लगे। ऋष्यशृङ्ग थोड़े ही दिनमें सकल वेदशास्त्र निष्णात हो गया था। महर्षि विभाण्डक किसीको उससे मिलने नहीं देते। ऋष्यऋङ्गने किसी स्त्रीका दर्शन भी अभी तक नहीं किया था। उसकी माता भी मानुषी नहीं थी। मृगी थी। जैसे गोकर्णका जन्म गायसे हुआ था, वैसे ऋष्यशृङ्गका जन्म हरिणीसे हुआ था। इसकी विस्तृत कथा महाभारतादिमे है।

इसी समय राजा रोमपादके राज्यमें बड़ी भारी अनावृष्टि हो गयी थी। राजा रोमपाद महाराजा दशरथके मित्र थे। पंडितोंने और विद्वानोंने बताया कि यदि ऋष्यशृङ्ग हमारे राज्यमें आवें तो वृष्टि होगी। परंतु उसको लावें कैसे, यह भारी समस्या थी। क्योंकि महर्षि विभाण्डक उन्हें किसीसे मिलने नहीं देते थे। बड़े-बड़े बुद्धिमान मंत्रियोंने उपाय बताया कि राजन्! गायिकाओंको वहां भेजा जाय।

गीतसे आकृष्ट कर उन्हें राज्यमें लाना होगा। गायिकाओंको एवं बंदीगणको जंगल भेजा। साथमें लड्डू रसमोदकादि (गुलाब जामुन) भी ले गये। जंगलमें आकर उन लोगोंने पड़ाव डाला और विभाण्डक ऋषिकी गतिविधियोंको प्रथम देखती रहीं। उनको मालूम पड़ा कि सप्ताहमें अमुक दिन वे कुशकाशादिके लिये बाहर काफी देर तक जाते हैं। अमुक दिन ऋषि-मुनियोंसे मिलने जाते हैं। अमुक समयमें आश्रममें केवल ऋष्यश्रृङ्ग रहते हैं। पूरा-पूरा पता चला तो एक रोज ऋषि बाहर गये तो गायिकायें अति मनोहर सुस्वर गीत गाने लगीं। ऋष्यश्रृङ्ग ध्यानमें बैठा था, उसको मधुर-मधुर संगीत स्वर सुनाई पड़ा। किंतु पिताने पहले ही कह रखा था कि ऐसी कर्ण मधुर आवाजमें विचलित नहीं होना चाहिये। फिर भी आवाज मधुर लगी तो ध्यानमें बैठी हुई अवस्थामें ही उसे सुनने लगा। सुननेमें ध्यान लगाया तो और अधिक मधुर लगने लगा। मृगीपुत्र होनेके कारण मातासे जो स्वर माधुरी समास्वादन संस्कार पुत्रमें आया हुआ था उसको वह जागृत हुआ।

क्या माता-पिताका संस्कार पुत्रमें उतर आता है? यदि आता है तो संस्कारसे स्मरण होता है। तब माता-पिताने जो-जो अनुभव किया उन सबका स्मरण पुत्रको होना चाहिये। लेकिन होता नहीं है। और सस्काराधान होना है। स्वयं संस्कार आता हो; ऐसी बात तो नहीं हो सकती। माता-पिता सिखाकर पुत्रमें अच्छा संस्कार डाल सकते हैं। न कि अपने अन्दरका संस्कार पुत्रादिमें उतार सकते हैं। उत्तर यह है कि संस्काराभिव्यंजक तत्व माता-पिता से आ सकते हैं। वैसे हम सबमें अनेक संस्कार पड़े हुए हैं। चौरासी लाख प्रकारके संस्कार तो वैसे ही हैं। एक-एक योनियोंमें सहस्रों अवान्तर संस्कार भी होते हैं। इन संस्कारोंका अभिव्यञ्जक तत्त्व भिन्न-भिन्न शरीरोंमें होता है। एक माताने मुझे बताया कि एक बार मेरी जिह्वा ऐसी हो गयी कि खट्टी चीज खानेका बड़ा मन

करता रहा। बहुत परेशानी हुई, तो डाक्टरसे कहा, ऐसा क्यों होता है। डाक्टरने दवा दी, कुछ दिन खाने पर खट्टी चीज खानेकी आदत छूटी। कोई डाक्टर यहाँ हो तो उनको दवाका नाम भी मालूम होगा। तब क्या इन्द्रिय निग्रहके लिये विवेक-वैराग्य साधनाकी उपेक्षा डाक्टरोंकी दवाई श्रेष्ठ निकली ? बात यह है कि हमारी जिह्वा पर हजारों झिल्लियां हैं। एक झिल्ली उग्र हो गयी तो खट्टा पसंद आने लगा। दूसरी झिल्ली उग्र हो गयी तो मीठा खानेकी इच्छा जाग्रत हो गयी। संस्कार-वासना तो हमारे अंदर पहलेसे ही है। किंतु उनको जागृत करनेवालोंका होना या न होना ही विशेषता है। मृगके कानोंकी झिल्ली अधिक है। उनके उग्र होनेसे गीतरस वासना जग जाती है। वही तत्त्व ऋष्यश्रृंगमें आ गया। इसी प्रकार वासनाके उद्‌बेधक तत्त्व आते रहते हैं। इसी कारण बोलते हैं, मां-बापका संस्कार बच्चोंमें आ गया। वास्तवमें संस्कार आता उतरता नहीं है।

संस्कार क्या चीज है ? नैयायिक लोग संस्कारको आत्मगुण मानते हैं। वेदांती उसे अंतःकरण गुण मानते हैं। उसका स्वरूप वस्तुतः क्या है ? नैयायिक उसे अनुभवजन्य मानते हैं। वस्तुतः अनुभवोत्पन्न नही है। अनुभव ही सूक्ष्म रूपापन्न होने परसंस्कार कहलाता है। बारिशके समय बड़े-बड़े मेढक पैदा होते हैं। कहांसे पैदा होते हैं ? एक ही दिनमें कैसे वे इतने बड़े हो गये ? एक दिनमें पैदा होकर बड़े नहीं हुए। असल में वे पहलेसे ही शरीर फूल जाता है। यही दृष्टांत अनुभव और संस्कारका है। अनुभवका ही थे। गर्मीमें सुखकर जमीनमें मिल जाते हैं। बीजरूपेण रह जाते हैं। बारिश होते ही सूक्ष्मरूप संस्कार है अनुभव ही सूखने पर. सूक्ष्म होने पर संस्कार कहलाता है। जैसे गुब्बारा है, उसमें हवा भरा तो बड़ा बड़ा दीखता है। हवा निकाल दें तो छोटा सा हो जाता है। विषयेन्द्रिय सनिकर्ष होता है तो विषयाकार वृत्ति होती है। वह वृत्ति विषयोंके बाहर खोलके समान

पैदा होती है। जब तक विषय संमुख है, तब तक बड़ी रहेगी। फूली हुई रहेगी। गुब्बारेमें हवाके समान, पानीमें मेंढकके समान वृत्तियोंमें विषय रहता है। विषय निकल गया तो वह अपने आप छोटी हो जाती है। सूख जाती है। यही सूखी हुई, सूक्ष्म हुई वृत्ति ही संस्कार है। वृत्ति नष्ट नहीं होती। उसी वृत्तिको विषयके निकलनेके बाद हम देखते हैं तो विषयाकारमें स्मरण होता है। आप कहेंगे कि अंदर स्मरण करते समय वृत्ति उतनी बड़ी दीखती है, जितनी प्रत्यक्षकालमें दीखती थी। कहां वह मेंढकके समान सूक्ष्म हुई? नहीं। वह उतनी बड़ी नहीं हो सकती। हाथीको देखते समय चित्त फैला। हाथी जितना बड़ा बाहर हुआ। हाथी चला गया। फिर हाथी का स्मरण आप करने लगे तो आप क्या करते हैं? हाथी जितनी बड़ी वृत्ति अंदर देख रहे हैं। आप हाथी जितने बड़े तो हैं नहीं कि आपके अंदर हाथी जितनी बड़ी वृत्ति आ जाय। एक बार प्रत्यक्ष दर्शन होनेके बाद वृत्ति सूक्ष्म होने पर भी वह स्थूल सी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ आपने किसी व्यक्तिको देखा। मकानको देखा। बादमें उसका फोटो लिया, तो फोटो छोटा होने पर भी आप व्यक्तिको उतना ही बड़ा समझते हैं। अन्तःकरण उस समान रूप, संख्या परिणामादि बनाकर देखता है।

संस्कार सूक्ष्म पड़ा रहता है तो उद्बोधक उसे उद्बोधित करता है। तब वह अंदर दृश्य हो जाता है। यही स्मरण है। इसी उद्बोधनमें ही माता-पिता, वंश-परंपरा आदि काम करते हैं। 'ऋष्यशृङ्गमें मृगीका संस्कार जगा' का मतलब मृगी पुत्र होनेसे उसके कानोंकी झिल्ली जैसी झिल्ली ऋष्यशृङ्गके कानोंमें थी। गीतादि रसानुभव तो जन्म-जन्मान्तरसे चला आ रहा है। अतः तत्संस्कार पहलेसे विद्यमान था ही। उन झिल्लियोंने नवीन गीत सुना तो पूरे संस्कारको जगाया। और मनमें इच्छा उत्पन्नकी। ये उद्बोधक तत्त्व संस्कारोंको जब जागृत करने लगते हैं, उसी समय

सजगताकी जरूरत पड़ती है। इन्द्रियोंमें प्रथम रसानुभूतिसे रागद्वेष जागृत होते हैं, तब मनमें भी संस्कारोद्भवसे रागद्वेष जगते हैं। मनमें रागद्वेषके उत्पन्न होनेसे बचानेके लिये ही सजगता आवश्यक है। यदि विभाण्डक ऋषि उस समय होते तो तुरत ऋष्यश्रृङ्गको सजग करते तो उस तरफ न झुकते। इसीलिये तो कहते हैं कि स्वयं जब तक परिपक्व नहीं होते। तब तक गुरु संनिधिमें रहना चाहिये। गुरुके मार्ग नियंत्रणमें रहना चाहिये।

ऋष्यश्रृङ्ग आसनसे उठकर बाहर आया और कान लगाकर सुनने लगा कि कहांसे यह मधुर-मधुर स्वरलहरी आ रही है। तुरंत दिशा ज्ञान हो गया तो उस ओर चलने लगा। गायिकायें तो छिप-छिपकर ऋष्यश्रृङ्गकी गतिविधियां देख ही रही थी। वे कुछ आगे गयीं। ऋष्यश्रृङ्गकी दृष्टि उनपर पड़ी। प्रथम ऋष्यश्रृङ्गने समझा कि ये ब्रह्मचारी लोग हैं। जंगलमें आस-पासमें कही वेदाध्ययन कर रहे होंगे। अभिवादन, स्वागत, सत्कारादि किया। गायिकाओंने खूब गीत सुनाया और ऋष्यश्रृङ्ग उसमें मस्त हो गया। फिर गायिकाओंने लड्डू, गुलाबजामुन आदि जो भी लायी थी, ऋष्यश्रृङ्गको खानेको दिया। ऋष्यश्रृङ्गने बड़े ध्यानसे देखा। पूछा—यह कौनसा फल है? किस पेड़का है? खानेपर बहुत मीठा-मीठा लगा। पूछने लगा, इसके न छिलके हैं, न गुठलियाँ हैं। न इनमें कहीं खटास ही है। ऐसा फल मैंने कहीं नहीं देखा। गायिकाओंने कहा, यह फल हमारे राजाके राज्यमें मिलते हैं, अयोध्यामें मिलते हैं। आप हमारे साथ चलें। ऋष्यश्रृङ्ग बोला, पिताजीको आने दिया जाय, उनसे कहकर चलेंगे। गायिकाओंने कहा—वे आयेंगे तो हमें भस्म करेंगे। आपको भी जाने नहीं देंगे। रसलोलुपताके कारण अनुशासनच्युति हो गयी, कर्त्तव्यच्युति हो गयी और गीत-मोहित ऋष्यश्रृङ्ग उन बालकाओंके साथ चला। कथा विस्तारपूर्वक रामायण महाभारत आदिमें है। राज्यमें वृष्टि तो हुई, किंतु वहां जाकर ऋषिकुमार संसारमें फंसा।

रोमपाद पुत्री शांताके साथ विवाहादि हुआ। परंतु विभाण्डक ऋषि जो चाहते थे कि मैं अपने पुत्रको सर्वोच्च ऋषि बनाऊँ, यह कामना धरी रह गयी।

इसलिये यहां बताया जा रहा है कि विषय संनिधानमें अत्यंत सजग रहना चाहिये। आगे बतायेंगे "यन्मनोऽनुविधीयते" इन्द्रियोंका अनुविधान मन न करे, एतदर्थं ही सजगता चाहिये। मन इन्द्रियाधीन न हो एतदर्थं हमेशा जागृत रहना चाहिये।

केवल गीतवादित्रने ही समेटना नहीं है। स्तुति, निंदा आदि सुनते समय भी मनको खूब सम्हालना चाहिये। शब्दका एक बाह्य स्वरूप है. दूसरा आंतर स्वरूप है। बाहर स्वरमाधुरी होती है। अंदर अर्थं माधुर्य होता है।

"प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः"

प्रिय वाक्य और प्रशंसा-वाक्य सुननेपर सभी प्रसन्न हो जाते हैं। अपनी प्रशंसा और प्रतिद्वन्द्वीकी निन्दा बड़ी मीठी लगती है। और अपनी निन्दा और प्रतिद्वन्द्वीकी प्रशंसा सुननेमें आ जाय तो जल-भुनकर खाक हो जाते हैं। इससे बचनेके लिये गीता में स्थान-स्थान पर चेतावनी दी है। **"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी"** **"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः"** इत्यादि। एवं अध्यात्मशास्त्रमें सर्वत्र इसका उल्लेख साक्षात् या परम्परया आ ही जाता है। महात्मा गांधीके ऊपर उनके जीवनकालमें ही एक संतने संस्कृतमें सुदर कई काव्य लिखे थे और उन्होंने महात्मा गांधीको दिखाया। महात्मा गांधीने देखा और थोड़ा पढ़ा। बादमें कहा कि आपकी कृति बड़ी सुन्दर है। हां, यदि मुझसे आप सम्मति लेना चाहेंगे तो, आपको बुरा न लगे, इसे गङ्गामैयाको समर्पित कर देना चाहिये। अपनी स्तुतिसे जहां अनुराग हो जाता है वहां स्तावक व्यक्तिके प्रति अनावश्यक रूपसे झुकाव भी होता है। फिर गुण-ग्राहिता न रहकर स्तावक प्रिय होने

लगते हैं और जो बड़े होते हैं उनके पीछे कई स्तावक रहते ही हैं, जो स्वार्थ-साधनको लक्ष्य किये हुए हैं। अतः बड़ोंको तो स्तुति-कारियोंसे काफी दूर रहना चाहिये। उनसे पूरी तरहसे सजग रहना चाहिये।

साधारण व्यक्तियोंको भी चाहिये कि वे स्तुतिके मोहमें न पड़ें। एक भक्त मेरे पास आया। उसने मेरी बड़ी स्तुति की। अवश्य ही वह किसी स्वार्थसे मेरी स्तुति नहीं करता होगा, क्योंकि मुझसे क्या स्वार्थ सिद्ध होने वाला था। उसके मनमें जो उमंगे आयीं होंगी, जो खुशियां हुई होंगी उसीको वह प्रदर्शित करता रहा होगा। परन्तु मैंने कहा—मेरी प्रशंसा मेरेसे करो तो क्या फायदा? वह मेरे प्रवचनोंकी प्रशंसा कर रहा था। मैंने कहा, यह प्रशंसा जो प्रवचनमें नहीं आते हैं, उनके प्रति करो तो उनको सुननेकी कुतूहलता होगी और वे प्रवचनमें आ जायेंगे तो बड़ा लाभ हो सकेगा। प्रवचनोंमें यदि अधिकसे अधिक व्यक्ति आवें तो प्रवक्ताको खुशी होती है। क्योंकि अनेक लोग लाभ ले रहे हैं और साधारण लोगोंको कुछ मालूम ही नहीं रहता कि कैसा प्रवचन है। वे दूसरे जब कहते हैं प्रवचन अच्छा तो अच्छा समझते हैं। बढ़िया कहने लगते हैं।

यह शब्दात्मक विषयकी बात हुई। इसी प्रकार अन्य विषय भी हैं। ऋष्यश्रृंगके उदाहरणमें प्रायः सभी विषयोंकी बन्धकताकी बात आ जाती है। रोमपादके राज्यमें जानेके बाद वहाँ वृष्टि हुई तो राजा अत्यंत प्रभावित हुए। राजाने अपनी पुत्री शान्ताका विवाह ऋष्यश्रृंगसे कराया। इस प्रकार वे स्पर्श विषयोंमें बंध गये। वहांके नाना रूप-रंगोंपर भी चित्त पाशित हुआ। लड्डू आदि रस विषय पाश पहले ही बताया गया। इस प्रकार महामुनि बननेके स्थानमें वे महा गृहस्थ हुए। कूर्म दृष्टांत भगवान दे रहे हैं सजगताके लिये। विषयोंके बीचमें ही विषयबद्ध हुए बिना कैसे रहें, यह सीखना चाहिये।

कूर्म दृष्टांतके अनेक प्रयोजन बताये। प्रथम उसके शरीरको लेकर यह समझा गया कि बाहरसे कठोर और भीतरसे मुलायम हो। अर्थात् बाह्य विषयोंके प्रति कठोर तथा अन्तरात्माके प्रति नरम छाप ग्रहण करने वाला हो। दूसरा उसके स्वभावको लेकर बताया कि वह प्रमादालस्यादि रहित होता है। अशीघ्रकारी होता है, धैर्यवान होता है। सर्वत्र इन गुणोंकी आवश्यकता हो या न हो, पर साधनामें आवश्यक है। धनार्जनादिमें शीघ्रता की भी जरूरत हो सकती है। कहीं अधीरता भी कामयाब हो सकती है। परंतु अध्यात्म-साधनामें अपेक्षित नहीं है। "कालेन पच्यते विद्या" यह उक्ति प्रसिद्ध है। विद्या एवं साधना कालसे परिपक्व होती है। इसमें नैरन्तर्य भी आवश्यक है। तीसरी बात क्रियाकी विशेषता बतायी। साधना एकान्तमें हो। कूर्म गूढ़चारी होता है। साधनाको दिखावा मत बनाओ, हां, आपकी साधना देखकर आपके बच्चोंको लाभ होता हो तो कुछ दिखावा कर भी सकते हैं, परंतु अधिकतर तो गूढ़ ही होना चाहिये। कुछ प्रत्यक्ष तो लोक संग्रहार्थ माना जा सकता है। बाह्य दिखावा तो सर्वथा वर्ज्य है। लक्ष्यैकदृष्टि तथा बाह्य विषयों-से सजगता यह परम आवश्यक है ही। इन साधक एवं गुणोंके साथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण अन्य भी कुछ कूर्म दृष्टांतसे भगवान प्रस्तुत करना चाहते हैं। ये सब कल्पनामें हमारी हैं, कूर्म तो साधारण प्राणी है, ऐसा मत सोचिये। श्रीमद्भागवतमें एकादश स्कन्धमें दत्तात्रेयजीने ऐसे ऐसे ही तो चौबीस गुरुओंका वर्णन किया है और इसी प्रकारसे ही अर्थ भी निकाला गया है। अतः ऐसा अर्थ शास्त्र सम्मत है।

कूर्मकी आयुके बारेमें विलक्षण किंवदन्ती है। गाय, भैंस आदि-की पंद्रह-बीस वर्षकी आयु होती है। पक्षी, कीड़े आदिकी और कम होती है। कौएको चिरंजीवी कहा है। हाथीकी सौ वर्षकी आयु है। मनुष्य और हाथीकी आयु लगभग एक बराबर है। किंतु कूर्मकी

आयु दो सौ, चार सौ वर्ष होती है। किसने देखा ? देखनेवाला आदमी मर गया। दूसरा आया तो उसने जन्म नहीं देखा। तब कैसे जाना कि वह दो सौ चार सौ वर्ष रहता है ? अनुसंधानकारियोंने। मनुष्य अनुसंधानसे पता लगा लेता है। मनुष्य-परम्परा अनुसंधान स्वभावकी होती है। जीव-जंतु विज्ञानमें यह बात बतायी गयी है। इतने दिनों तक जीनेका क्या रहस्य है ? कूर्म इतने दीर्घायु क्यों होते हैं ? कारण यही है कि वह भारी प्राणायाम करता रहता है। कूर्म पानीसे प्राणवायु ग्रहण नहीं करता, जैसे मछली करती है। किन्तु पानीसे बाहर आकर ही वह प्राणवायु ग्रहण करता है। इसलिये वह स्थलमें नहीं मरता जैसे मछली जल न होनेपर मर जाती है। कछुआ जलसे बाहर आकर एकबार श्वास खींचता है, फिर जलमें डूबकी लगाता है, तो घटों तक जलके अन्दर ही रह जाता है। दो घटे, चार घंटेके बाद फिर श्वास खींचने बाहर आता है। इस प्रकार कछुएका प्राणायाम चलता रहता है। प्राणायामसे आयु बढ़ती है। अतः वह बहुत दिनो तक जिंदा रहता है। साधकको भी साधना करनेके लिये, दीर्घायु होना आवश्यक है। अतः प्राणायाम करना चाहिये।

जब आयु आदि विधिके अधीन है, तब प्राणायामसे आयु कैसे बढ़ सकती है ? ऐसा प्रश्न उठ सकता है। शास्त्रमें आयु, कर्म आदिको प्रारब्धाधीन माना है—

> आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च
> पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः

आयु कितनी लम्बी है, यह बालक गर्भमें आता है, तभीसे लिखा रहता है। कर्म माने कर्म प्रयुक्त यश, अपयश वह भी पहले ही लिखा रहता है। वित्त भी प्रारब्धाधीन होता है। विद्या भी प्रारब्धके बिना प्राप्त नहीं होती। वैसे निधन अर्थात् मरण कारण भी।

जब ऐसा शास्त्रकारोंका मत है तब प्राणायामसे आयु वृद्धि कैसे होगी? इसका उत्तर विद्वानोंने यह दिया है कि आयुका मतलब श्वासकी संख्यासे ही है। रोज इक्कीस हजार छत्तीस श्वास हम लेते हैं। एक सालमें लगभग पचहत्तर लाख श्वास लेते हैं। इक्कीस हजार सौ से गुणित करो तो इक्कीस लाख। फिर तीन सौ साठ लानेके लिए लिये साढ़े तीनसे गणित करो, वही हिसाब पड़ेगा। सौ वर्षके लिये प्रायः पचहत्तर करोड़ श्वास लेते हैं। यदि आप प्रतिदिन एक घंटा प्राणायाम करें तो पचहत्तर करोड़ पूरा होनेमें दस-पांच अधिक लगेंगे। ऋषि-मुनि आदि तो बहुत प्राणायाम करते थे तो उनकी आयु हजारों वर्ष तक होती थी। खैर, हमें हजारों वर्ष तक तो जीना नहीं है। प्रयत्न करने पर भी अब वहां तक पहुंचनेकी आशा भी नहीं है। कूर्म प्राणायाम करता है इतना मात्र हम बोल रहे थे। भगवान श्रीकृष्ण कूर्मोदाहरणमे प्राणायामकी कर्त्तव्यता प्रतिपादन कर रहे हैं। प्राणायामका प्रयोजन केवल आयु बढ़ाना ही नही है अन्य प्रयोजन भी शास्त्रमे लिखा है।

> अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः
> तेषां स्नात्वा विशुद्धयर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥

ऐसा मनुस्मृतिमें लिखा है। प्रतिदिन हम हजारों पाप करते हैं। चलते, फिरते समय चप्पल-जूतेके नीचे अनेक प्राणी आते हैं, मर जाते हैं। क्या इन सबका पाप लगता है या नहीं? लोग कहेंगे, अनजानमें हो गया तो पाप क्यों लगेगा? पाप लगता है. चाहे जानकर करो चाहे अनजानेमें करो। आपने पत्थर फेंका अनजानमें किसीके माथे पर लगा, माथा फूटा तो क्या उसको दर्द नहीं होगा? अनजानमें पाप कर्म हो सकता है किन्तु पाप ही नही लगता, यह मानना संभव नहीं। इसीका फल चौरासी लाख योनिया हैं। एक मनुष्य योनिमें चौरासी लाख योनियोका कर्म तैयार करना है तो रोज दो-चार हजार जन्मकी तैयारी तो करनी ही पड़ती होगी।

इनकी निवृत्ति कैसे हो ? इसके लिये भिन्न प्रायश्चित बताया है। संन्यासीके लिये कहा—प्राणायामान् षडाचरेत्। रोज यदि प्रातः और शाम को या एक ही समय स्नान कर छः प्राणायाम करें। गृहस्थोंके लिये पञ्चमहायज्ञका विधान है। यज्ञ नहीं, महायज्ञ। सुनकर घबराना नहीं या असम्भव न समझना कि हजारों ब्राह्मणोंको बुलाकर महायज्ञ करना सबके लिये शक्य कैसे ? यहां महायज्ञ अन्य प्रकारके हैं।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

ये ही पांच महायज्ञ हैं। शास्त्राध्ययनाध्यापन प्रथम ब्रह्मयज्ञ है। सत्संगमें आप आकर बैठते हैं। वेद-शास्त्र श्रवण कर रहे हैं तो यह ब्रह्मयज्ञ है। ब्रह्मका अर्थ है वेदशास्त्र। उसका श्रवण श्रवणयज्ञ है। इससे पांचवाँ हिस्सा पाप नष्ट होता है। रोज पांच हजार पाप होते हों तो एक हजार पापको आपने एक घंटेके सत्संगमें नष्ट कर दिया। शेष के लिये पितृयज्ञ माने तर्पण, होम प्रसिद्ध देवयज्ञ है, वैश्वदेव माने पशुपक्षी पालन। नृयज्ञ है घरमें संत-महापुरुष, ब्राह्मणादि अतिथियोको बुलाकर अतिथि सत्कार करना। इनमें जितने यज्ञ संभव हैं उतने अवश्य कीजिये। एक-दो यज्ञ यदि शक्य नहीं हुए, जैसे नित्य तर्पण, नित्य होमादि तो उसके लिये प्राणायाम ही विकल्प है।

प्राणायामा ब्रह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवयुक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥

ब्राह्मणादि वर्णाश्रमियोके लिये परम तप है—न्यूनतम तीन प्राणायाम। परंतु विधिवत् संपादन करना चाहिये। विधिवत् क्या ?—

"देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः"

देशकाल, संख्या, परिदृष्ट तथा श्लोकोक्त व्याहृति प्रणवयुक्त प्रणायाम करो। अर्थात् प्राणायाम करते समय प्रणव एवं व्याहृतियोंका मनन हो। "ॐ भूभुर्वः स्वः" यही प्रणव एवं व्याहृति हैं। सीधा यही समझो प्रणव व्याहृति सहित गायत्री बोलकर प्राणायाम करो। त्रिपदा गायत्री तो आप जपते ही हैं। उसमें "आपो ज्योती रसोमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम्" अंतमें जोड़ना। दो-तीन गायत्री मन-मनमें बोलते हुए प्राण चढ़ावो। उससे चौगुना; अर्थात् दो गायत्रीसे चढ़ाया तो आठ गायत्री बोलकर प्राणोंको रोको– कुंभक करो। फिर चार बार बोलकर श्वासका रेचन करो। यही प्राणायाम हैं। यह मैं योगियोंका प्राणायाम नहीं बता रहा हूं। उसके लियें गायत्री आदि का नियम नहीं और तीन प्राणायाम क्या, एक-एक समयमें अस्सी प्राणायम वे करते हैं। उसका विवेचन योगसूत्रमें है।

केवल प्राणायाम ही नहीं, किंतु प्राणायामादि चार करनेके लिये मनु महाराजने बताया है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान चार हैं।

प्राणायामैर्दहेदोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्
प्रत्याहारैश्च संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्

प्राणायामसे दोषोंको नष्ट करो। प्राणायाम तप है। तपसे दोष नष्ट होते हैं। हिंसा आदि नष्ट होते हैं। सभी पाप नष्ट नहीं होते। दोषात्मक पापोंका नाश होता है। प्राणायामके बाद योगसूत्रमें बताया है। परंतु मनुस्मृतिके श्लोकमें धारणाका नाम लिया है। ऐसा क्यों हुआ? कारण यही कि प्रत्याहारमें दो अंश हैं। एक अंश धारणासे पूर्व होना चाहिये और दूसरा अंश स्वत एव धारणाके बादमें ही सम्पन्न होता है।

"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"

ऐसा प्रत्याहार सूत्र है। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना यह एक अंश है। दूसरा चित्तस्वरूपानुकार यह द्वितीय अंश है। इसका स्वरूप हम धारणाको समझनेके बाद स्पष्ट रूपसे देखेंगे। धारणाका लक्षण है—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"

धारण करना ही धारणा है। कहां धारण करना? हृदय, नाभि या बुद्धिमें। क्या धारण करना? कोई भी इष्टदेव रूप। राम, कृष्ण, शंकरादिका रूप धारण करो। कैसे धारण करना? कर्णरन्ध्रसे और नेत्ररन्ध्रसे ग्रहण करके धारण करो।

प्रविश्य कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरूहम्।
धुनोति शमलं कृष्णो यथैवाग्निरिवेन्धनम्॥

मुख्य साधन कर्मरन्ध्र है। द्वितीय साधन नेत्र। भगवानके स्वरूपका ज्ञान आप प्रथम सत्सगमें ही प्राप्त कर सकेंगे। प्रथम आप भगवानका फोटो देख भी लीजिये। फिर भी यह भगवान है, इसमें यह शक्ति है इत्यादि आप कैसे जानेंगे? फोटो केवल आलंबन ही है। उससे एक आकार मात्र प्रस्तुत होगा। किन्तु सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता, जगत्कर्त्तृता आदि कहांसे मालूम होगा? चित्र तो चित्र ही है। उसमें ये सब गुण तो नहीं ही हो सकते। और केवल एक चित्र-मात्रका ध्यान नहीं करना है। चित्रको एक अत्यंत अज्ञानी पामर भी देख सकता है। पशुभी देख सकता है। परंतु भगवद्गुणोंका दर्शन उसमें सत्संगसे ही सभव है। भगवानकी हजारों प्रकारकी लीलायें भी सत्संग श्रवणसे ही जानी जा सकती हैं। अतः परमात्मा विषयक ज्ञानके लिये सर्वोत्तम साधन श्रोत्र है। द्वितीय साधन नेत्र है। श्रोत्रसे श्रवण किया, किंतु आलम्बन नेत्रसे सम्पादन किया जाता है। नेत्रसे मूर्त्ति चित्र आदिका दर्शन होता है। तो आलंबन दृढ होता है। इन्हीं दो इन्द्रियोंकी प्रधानता होनसे वेद मंत्रोंमें भी मुख्य रूपेण इन दोनोंका ही ग्रहण हुआ है।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः

हम कानोंसे भद्र- मंगलमय, भगवत् लीला नामरूपादिका श्रवण करें और आंखोंसे भगवानकी मूर्त्ति, चित्रादि या सक्षात् भगवानका दर्शन करें। श्रवण और दर्शनसे तदाकार वृत्ति होती है। उस वृत्तिको हृदयमें धारण करना ही धारणा है। अर्थात् उद्‌बुद्ध संस्कार से स्मृति रूपेण धारण करना धारणा है।

वेदांतशास्त्रमें बाह्यवस्त्वाकार चित्तवृत्ति वतायी है। घटदेशमें वृत्ति बनी। फिर उस वृत्तिका क्या होता है? बाहर ही खड़ी रहती है या नष्ट होती है? जैसे दीपकसे प्रकाश निकला, बाहर गया। फिर नष्ट हुआ। ऐसा नहीं कि बाहर गया हुआ प्रकाश वापिस आवे। वैसे ही चित्तवृत्ति भी है क्या? नहीं। यहां चित्तवृत्ति बाहर जाती है तो वापिस भी आ जाती है। चित्त स्वयं रबरके समान विषय संनिधानमें फैल गया। विषय विगम होनेपर सिकुड़ गया। जैसे लंबा किया रबर छोड़ने पर अपने मूलमें पहुंच जाता है वैसे चित्त भी मूल स्थानमें पहुंचेगा। परंतु जैसे पूर्वमें हम बता आये कि विषयों के छूटने पर वृत्ति सूक्ष्मरूपेण चित्त पर रहती है। वही संस्कार कहलाता है।

श्रवणसे या दर्शनसे श्री कृष्णाद्याकारवृत्ति बाहर बनी। वही वृत्ति फिर वापिस हृदयमें प्रविष्ट हुई। यही प्रविश्य कर्णरन्ध्रेण का अर्थ है। कर्णरन्ध्र तथा नेत्ररन्ध्रसे तदाकार वृत्ति की निवृत्ति ही हृदयमें भगवत्प्रवेश है। यही भगवद्धारणा है। उससे फिर क्या होगा— "धुनोति शमलं कृष्णः" भगवान् शमलको धो डालते हैं। शमल माने पाप। उसे स्वयं भगवान धो डालते हैं। यही "धारणाभिश्च किल्बिषं" इस मनुवचनका अर्थ है। भगवान जहां जाता है, वहां पाप कैसे रहेगा? प्राणायामसे हिंसादि दोष तथा नाड़ी दोष निवृत्त होते हैं। धारणासे पापनिवृत्ति होती है।

प्रत्याहारैश्च संसर्गात्। धारणाके पूर्व तथा पश्चात् प्रत्याहार चलना है। पूर्व में प्रत्याहार विषय संप्रयोग वार्जन रूपी साधना संपादानार्थ है। बादकी धारणा है चित्त स्वरूपानुसार इवेन्द्रियाणाम्। वृन्दाबनमें भगवान खड़े हैं, कदम्ब वृक्षके नीचे मुरली मनोहर श्यामसुंदर स्वरूप चित्रमें देखा। उसको हमने श्रवणानुरूप हृदयमें धारण किया, यह धारणा हुई। फिर अंदर ही अंदर मुरलीवादन सुनने लगे। कोमल-कोमल चरण स्पर्श करने लगे। अतिदिव्य मधुर मंद मुस्कान श्याम मनोहर रूप माधुरीको निहारने लगे। भगवच्चरणामृत पान करने लगे। वृन्दावन तुलसीवनसे निःसृत वनमालासे प्रसारित सुगन्धको सूंघने लगे। मुरलीनाद सुनने लगे तो किससे सुनने लगे? कान से या नाकसे? कानसे ही सुनेंगे। कोमल-कोमल चरण स्पर्श त्वगिन्द्रियसे करेंगे? या नेत्रेन्द्रियसे? त्वगिन्द्रियसे ही। श्यामसुन्दर दिव्यरूप देखने लगे तो आंखोसे या कानसे? आंखोंसे। चरणामृतादि रसास्वादन करने लगे तो जिह्वासे या आंख कानसे? जिह्वासे। तुलसीवनमालादि सौगन्ध्य सूंघने लगे तो किससे? नाकसे या कान या आंखसे? नाकसे। कहेंगे कि आंख मूंदकर यह ध्यान चल रहा है तो वहां श्रोतादि इन्द्रियां काम कहां कर रही हैं? न मही। लेकिन सुनना आदि जो भी धर्म है वह श्रोत्रादिका ही धर्म है। श्रोत्रादिमें उसका संस्कार रहता है, तो श्रोत्रादि अवच्छेदेन मन ही शब्द सुनेगा। फिर भी श्रोत ही सुनता है, आंखें ही देख रही हैं, ऐसा लगेगा। इमीको चित्तस्वरूपानुकार कहते हैं। बाह्य विषयका संयोग टट गया तो वे इन्द्रियां मनके पास आ जाती हैं और मनमें जो श्रवणादि संस्कार हैं, उनके माथ एक होकर सुनती हुई-सी, देखती हुई-सी, मूंघती हुई-मी लगेंगी। इमीको प्रत्याहार कहते हैं।

धारणासे भगवानका पञ्चात्मक स्वरूप अंदर आया। पञ्चात्मक अर्थात् अप्राकृत दिव्य शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक स्वरूप।

"अप्राकृतिकः शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्चगन्धश्च तत्र प्रवर्त्तते"

उस पञ्चात्मक रूपका श्रवण स्पर्शन दर्शनादि-सा इन्द्रियां अंदर करने लगती हैं। उस समय बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध पूरा ही टूट जाता है। इसीको लेकर मनुस्मृतिमें कहा—"प्रत्याहारैश्च संसर्गात्"। प्रत्याहारसे विषय संसर्ग टूटता है। सुषुप्तिकालमें भी विषय संसर्ग टूटता है। पर दृढ़तर संस्कार रूपसे चालू रहता है। प्रत्याहारमें विषय संसर्ग प्रयत्नपूर्वक हटाया जाता है। और धारणाका परिपक्व स्वरूप चित्तस्वरूपानुकार भगवद्विषयक होनेसे स्वयं भगवान भी विषय संबंध तोड़नेमें सहायक होते हैं।

ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्। धारणामें, ध्यानमें क्या फरक है? लोग धारणाको ही ध्यान समझते हैं। मूर्त्ति, फोटो आदि देखकर ध्यान करते हैं, ऐसा बोलते हैं, यह धारणा मात्र है। ध्यान नहीं है। क्योंकि धारणा और प्रत्याहारमें नानाकारचिंतन होता है। शब्द स्पर्शादि पञ्चात्मक स्वरूप चिंतन होता है। श्रीमद्भागवतमें बताया है कि प्रथम पादादिशिरःपर्यन्त धारणा की जाती है—

"पादादि यावद्धसितं गदामृतः"

उसके बाद एक स्थान पर चित्तको स्थिर किया जाता है। यही वास्तवमें ध्यान है।

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"

ऐसा पातञ्जल सूत्र भी है। नानाकार चिन्तनमें एकातानता नहीं होती। एकाकार चित्त वृत्ति प्रवाह हो तभी ध्यान हो सकता है।

मनुमहाराजने समाधिकी बात नहीं बतायी क्योंकि समाधि सर्वसाधारण नहीं होती। ध्यानपर्यन्त पहुंचो तो भी बड़ी बात होगी। ध्यानमे ही अनीश्वर गुण निवृत्ति होती है। ऐश्वरीय गुण आने लगते हैं। ऐश्वर गुण क्या है? संकल्प सिद्धि। उसके संकल्पमें बड़ी शक्ति आ जाती है। उसका संकल्प कभी मिथ्या नहीं होता। जो भगद्धारणासे किल्विष नाश कर चुका हो और कमजोरी लानेवाले

विषयोंके संसर्ग प्रत्याहार द्वारा तोड़ चुका हो और ध्यानसे भगवानका स्वरूप हृदयमें प्रवेश करा चुका हो, उसके संकल्प भला क्यों कमजोर रहेंगे ? उसके संकल्पमें ईश्वरीय शक्ति आ जाती है। अत एव अनीश्वर गुण नष्ट हो जाते हैं।

कूर्म दृष्टांतसे इन चारोंको भगवानने यहां प्रकट किया है। साधकको इन चारोंकी आवश्यकता बतायी है। इनमें प्राणायामके विषयमें प्रथम ही हम बता चुके हैं कि कूर्म बाहरसे श्वास लेकर घटों तक जलमें डूबा रहता है। कूर्मसे यह प्राणायाम सीखो। प्रत्याहार तो इस श्लोकका मुख्य विषय है। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः कूर्मोऽङ्गानीव। कूर्म जैसे अपने अंगोंको खींच लेता है, वैसे इन्द्रियोंको विषयोंसे समेट लेना चाहिये। धारणा और ध्यानमें भी कूर्म अत्यन्त प्रसिद्ध है।

कछुई कुआं या सरोवर आदिके किनारे अंडे देती है। उसके बाद अंडोंका पोषण कैसे करती है ? बच्चे होनेपर उनका पोषण कैसे करती है ? इस इस विषयमें शास्त्रोंमें दिलचस्प वर्णन आया है। कछुई अंडोको चिड़ियोंके या सांप आदिके समान नहीं सेंकती। अंडा देकर वह गहरे जलमें डूब जाती है। वहां जाकर वह अंडोंका ध्यान करती रहती है। अपनी ध्यान शक्तिसे ही वह अंडोंको सेंकती है। फिर बच्चे पैदा होते हैं तो वह दूध नहीं पिलाती। दाने चुगकर नहीं खिलाती, किन्तु ध्यानसे ही बच्चोंका पोषण करती है। यह एक बड़ी विलक्षण बात है। आप कहेंगे कि कछुई ध्यानसे पोषण करती है यह कैसे मालूम पड़ा ? उसके हृदयमें घुसकर किसीने देखा नहीं। क्या ऐसे नहीं हो सकता कि उसने अंडा दिया और कछुईके अंडोंका स्वभाव है वह सेंके बिना ही पकता है। कछुएके बच्चोंमें पर सहायता नहीं रहती। वे अपने आप पानीमें बड़े होते हैं। परन्तु ऐसा कोई प्राणी दुनियामें देखनेमें नहीं आता कि माता-पिताके पोषणके बिना ही जिन्दा रहता हो। ऋषि मुनियोंने इस विषयका बड़ा अनुसंधान किया। हजारों वर्ष पूर्व आधुनिक यंत्र नहीं थे। इसके बिना ही

प्रत्येक पेड़-पौधे जड़, कंद मूल आदिका उन लोगोंने अनुसंधान किया। तपसे, ध्यानसे पता लगाया। ऋषियोंने जो गुण धर्म लिखे हैं, उसको आज तक कोई वैज्ञानिक नहीं काट सका है। तो क्या एक ही चरकने दुनियां भरके सारे जहर खाकर देखा कि इन सबका गुण दोष लिख डाले ? उन्होंने अपनी तपस्यासे ही ध्यान, समाधिमे सब कुछ देख लिया। चरक कौन है ? योगशास्त्रनिर्माता पतञ्जलि ऋषि ही तो हैं। वे समाधिस्थ होकर सर्वगुण धर्म दर्शन करते थे। अतएव उनका समस्त ग्रंथ आज वैज्ञानिक कसौटी पर खरा-खरा उतर रहा है।

खैर, यह तो श्रद्धाका विषय हुआ। अब कूर्मी ध्यान्से अपने अंडोंका पोषण करती है, इसको हम वैज्ञानिक कसौटी पर उतारकर कैसे समझें ? आज कौनसा ऐसा यंत्र है जो दूसरेके मनकी भावनाको बताता हो ? उत्तर है कि यंत्रोंकी जरूरत नहीं है। उसके बिना ही मालूम पड़ सकता है। अण्डे देनेके बाद कछुईको अगर कोई मार देता है तो फिर अण्डेसे बच्चे नहीं निकलते। बच्चे पैदा हो गये उसके बाद भी कछुई मारी जाय तो पैदा हुए बच्चे भी मर जाते हैं। इससे निश्चित है कि जीवित कछुईका कोई सम्बन्ध बच्चोंसे या अण्डेसे अवश्य है। शारीरिक सम्बन्ध तो है नहीं। अन्ततः यही कहना होगा कि मानस सम्बन्ध है। कछुई मनसे ध्यान करती है। उसीमे अण्डे फूटते हैं, बच्चोंका पालन होता है। हमने पहले बताया कि ध्यानसे संकल्प शक्ति बढ़ती है। पूछेंगे कि कछुई और अण्डोंको भी इसी प्रकार ध्यानमे खोल सकती है क्या ? उत्तर है, उसको दूसरेके अण्डोंका ध्यान रखनेकी जरूरत क्या है ? आप सिफारिश करें और कछुई समझ जाय और अन्य अण्डोंका ध्यान करे तो अलग बात है। और अपने बच्चोके प्रति ध्यान स्वतः होता है। लोकमें भी यह प्रसिद्ध बात है कि माता-पिताका आशीर्वाद पुत्र पर लगता है क्योंकि उन्होंने पुत्रका बहुत ध्यान किया है। इसलिये पुत्रके प्रति उनकी संकल्प-शक्ति काफी हद तक काम करती है। कूर्मीका ध्यान अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है, वह संकल्पसे ही पालन-पोषण कर लेती है। इस प्रकार कूर्ममें अनुप्रोक्त चारों गुण योगाङ्ग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं— प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान। यदि भगवानने कूर्मको विवेक-बुद्धि दी होती नो यह मनुष्योंसे बहुत आगे निकल गया होता। पर, भगवानने मनुष्यों पर पक्षपात किया। कूर्मोंको मालूम नहीं, प्राणायाम, प्रत्याहारादिसे क्या लाभ उठाना चाहिये। परन्तु जो मनुष्य होकर भी प्राणायाम प्रत्याहार, आदिसे क्या लाभ उठाना चाहिए इस बातका ज्ञान नहीं रखता, वह कूर्मसे भी गया बीता है ही।

कूर्ममें इस प्रकारके अनेक विशिष्ट गुण हैं. इसीलिये भगवानने भी कूर्मावतार लिया था। दस अवतार प्रसिद्ध हैं—

> मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा।
> रामो रामस्तथा रामः कृष्णः कल्किरिमे दश॥

इन दश अवतारोंमें कोई श्रीरामावतारको श्रेष्ठ मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदासादि राम भक्त हुए। दूसरे लोग कृष्णावतारको श्रेष्ठ मानते हैं। सूरदास, वल्लभाचार्य आदि कृष्णोपासक हुए। कुछ महापुरुष नृसिंहावतारको उत्तम मानते हैं। अनेक भक्त नृसिंह उपासना करते हैं। उपासनाकी दृष्टिसे जो भी ठीक हो, परन्तु मैं कहूगा अवतारस्वरूप विचार करो तो कूर्मावतार सर्वोत्तम सिद्ध होगा। मत्स्यावतारमें भगवानने हयग्रीव नामके असुरको मारा और वेदोद्धार किया। नृसिंहावतारमें भगवानने हिरण्यकशिपुका वध किया और प्रह्लाद जैसे भक्तोंका उद्धार किया। वराहावतारमें हिरण्याक्षका वध किया और डूबती पृथिवीका उद्धार किया। वामनावतारमें किसीका वध तो नहीं किया किन्तु वधके बराबर बलिको नीचे गिराया। बलिको छला और देवताओंकी रक्षा की। परशुरामावतारमें अधार्मिक मदोद्धत हजारों-लाखों क्षत्रियोंका वध किया और धर्म रक्षण किया। श्री रामावतारमें रावण, कुम्भकर्णादि अनेक

राक्षसोंका वध किया और धर्मकी रक्षा की। विभीषणकी रक्षाकी। श्रीकृष्णावतारमें कंस, शिशुपाल, दन्तवक्रादिका वध किया। सनातन धर्मकी रक्षाकी। आगे कल्कि अवतार आनेवाला है। कल्कि भगवान समस्त अधर्मियोंको मारने वाले हैं। इस प्रकार सभी अवतारोंमें वधकी बात आयी है। अब पूछो कूर्मोवतारमें किसका वध हुआ? कूर्म भगवानने किसीका वध नहीं किया और कार्य बहुत बड़ा किया। अमृतमंथनके समयमें मंदराचल समुद्रमें धसता जा रहा था तो कूर्म भगवानने उसका उद्धार किया। उसे अपनी पीठपर उठाया। यदि कूर्मावतार न हुआ तो निश्चित ही अमृतमथन असंभव था। सामान्य रूपसे अमृतसे देवताओंकी जीत और असुरोंकी हार अमृतोत्पत्तिसे समझी जाती है। अध्यात्म पक्षमें—अमृत माने मोक्ष प्राप्ति। दैवी संपदावालेकी जीत और आसुरी संपदा वालेकी हार, ऐसा अर्थ लगाया जाता है। सर्वथापि कूर्मावतारका विशेष महत्त्व है हो। भगवान अपने उसी अवतारका स्मरण करके कह रहे हैं कूर्मोऽङ्गा-नीव। अर्थात् कूर्मोवतारमें जैसे कोई हिंसा नहीं हुई और अमृत साधन हुआ, उसी प्रकार साधकको अहिसाव्रत निष्ठ होना चाहिय।

श्रीमद्भगवद्गीताकी अनेक व्याख्यायें हैं। व्याख्याका मतलब केवल अनुवाद, टिप्पणी आदि नहीं। किन्तु विस्तृत रहस्यभेदी विवरण। शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, हनुमत् पैशाच भाष्य आदि तो प्रसिद्ध ही हैं। इनके अनुयायी अनेक आचार्यों की भी व्याख्यायें हैं। श्रीधरस्वामीकी व्याख्या है, मधुसूदन सरस्वतीकी व्याख्या है। भगवान शंकराचार्यके अनुगामी एक ब्रह्मानन्दगिरिकी व्याख्या है। उसमें "प्रजहाति यदा कामान्" से लेकर "यदा संहरते चाय०" तक श्लोकोंमें चार भूमिकाओंका वर्णन है, ऐसा बताया है। योग-वशिष्ठादि वेदान्तके मूर्धन्य ग्रन्थोंमें सप्त भूमिकाका वर्णन किया है। उनमें अन्तिम चार भूमिकामें स्थित ही स्थितप्रज्ञ है। उन्हींका

यहां व्युत्क्रमेण वर्णन है। इन्हें समझनेके लिये प्रथम सात भूमिकाओंका स्वरूप देखना परम आवश्यक है।

> भूमिकाः सप्त तत्राद्या शुभेच्छा सुविचारणा
> द्वितीयाथ तृतीया तु व्याख्याता तनुमानसा ।।
> सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिस्तु पञ्चमी
> पदार्थभावनी षष्ठी सप्तमी च तुरीयगा ।।

ये सात भूमिकाओंके नाम हैं। इनकी संक्षेप प्रथम व्याख्या भी आवश्यक है। तभी स्थितप्रज्ञ स्वरूप समझमें आ सकता है।

शुभेच्छा प्रथम भूमिका है, जिसमें अशुभका स्पर्श न हो, शुभमात्रकी जो इच्छा हो। शुभेच्छाका अर्थ नहीं है कि आपके मनमें किसी भिखारीको एक रुपया देनेकी इच्छा हुई। यह इच्छा शुभ जरूर है, किंतु यह कोई ज्ञान भूमिका नहीं है। इच्छायें बहुत सारी शुभ हैं। भगवानके मंदिरमें जानेकी इच्छा शुभ है। अन्न क्षेत्र खोलनेकी इच्छा शुभ है। गांवोंमें सफाई करानेकी इच्छा शुभ है। किसीको नौकरी, काम धंधेमें-लगानेकी इच्छा शुभ है। ये सब इच्छायें उत्तम हैं, शुभ है, किंतु यह कोई भूमिका नहीं है। ज्ञान भूमिकाके अन्तर्गत शुभेच्छा और ढंगकी होती है। श्री रामकृष्ण परमहंसने बताया है किसीको पानी में डुबाकर दबा रखें तो उसको ऊपर आनेकी जैसी छटपटाहट होती हैं, उत्कट इच्छा होती है वैसे आत्माको पानेकी यदि इच्छा हो तो वह शुभेच्छा होती है। पानीमें डूबनेका अनुभव आप किसीको नहीं होगा। हमें ऐसा अनुभव है। बचपनमें एक बार एकने मुझे पानीमें डुबाया था। उस समय बाहर आनेकी जो छटपटाहट हुई, वह मुझे ही मालूम है। ऐसी छटपटाहट आत्माकी प्राप्तिके लिये होनी चाहिये। दूसरा उदाहरण वेदान्तसार ग्रथमें लिखा है। जैसे किसीके कपड़ेको आगने पकड़ लिया हो तो उस समय पानीके लिये जो छटपटाहट है, पानीकी

ओर वह दौड़ता है, वैसे आत्म प्राप्तिके लिये छटपटाहट हो तो वह शुभेच्छा है। जैसे पानीमें घुटन होती है वैसे मुमुक्षुको संसारमें घुटनका अनुभव होता है। पानीके अंदरसे बाहर निकलनेके बराबर ही संसारमेंसे बाहर निकलना है, यह प्रथम उदाहरणका मतलब है। द्वितीय उदाहरणका अभिप्राय है कि यह संसार दावानलोपम है। हृदयमें हमेशा जलन, घबराहट रहती है। चारों ओर दाह होती है। परमात्मा शीतल जलके समान अग्नि शामक है। इसीको तीव्र मुमुक्षुता कहते हैं, यही शुभेच्छाका स्वरूप है। आचार्यने इसीको—

"आत्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्"

से बताया है। आत्म प्राप्तिकी तीव्र इच्छा हो। प्रातःसायं सत्संग हो रहा है। देखिये, उसे सुननेमें आपको उत्कट इच्छा होती है या नहीं ? घरमें कोई काम आ गया, कोई मेहमान आ गया तो एक-एक क्षण ऐसा निकल रहा है कि यह कब जाय, कब जाय, कब सत्संगमें भागूं। ऐसी उत्कट इच्छा कई लोगोंमें होती है। इसे शुभेच्छाकी शुरुआत समझिये। उसका फल है—"निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यतां", उसको घरबार अच्छा नहीं लगेगा। कुछ लोग तो पूरा घर बन्धन ही छोड़कर चले जाते हैं, दूसरे लोग थोड़ी देरके लिये अर्थात् कमसे कम सत्संगादिके एक दो घंटे अस्थायी गृहत्याग करते हैं। आचार्यका पूरा श्लोक है—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥

व्याख्या बहुत लंबी है। हम यहां संक्षेपतः स्वरूप प्रतिपादन मात्र करना चाहते हैं। शुभेच्छा का इस श्लोकमें—"भवसुखे दोषो-

अनुसंधीयतामात्मेच्छा व्यवसीयतां" इतना अंश है । उससे पूर्व तत्साधन और उत्तर तत्फल है ।

सुविचारणा द्वितीय भूमिका है। आपके मनमें विचार आया—हरिद्वार जाना अच्छा है, नहाना अच्छा है, यह सुविचार है। पाठशाला बनवाना, धर्मशाला, औषधालय खोलना, यह भी सुविचार है। मनमें विचार आया इच्छा हो जाने पर काम शुरू ही होगा। यह विचार मात्र है। क्या यही विचार सुविचारणा है? नहीं। सुविचारणा तो शुभेच्छाके बादकी भूमिका है। वह काफी ऊँची है। आत्म प्राप्तीच्छा होनेके बाद फिर क्या होता है, उसीमें सुविचारणाका समावेश है। सत्संग सुननेकी इच्छा हुई तो गुरु संनिधिमें पहुंचेगा। जहां महान संतोंका शास्त्र-विचार चलता है। शास्त्रोंमें गहराईसे विचार करना, सुविचारणा है। गुरुसे श्रवण करते हैं। श्रवणका अर्थ यह नहीं कि केवल कानोंमें शब्द पड़ रहे हैं। वेदान्तसार आदि ग्रंथोंमें श्रवणका स्वरूप दूसरे ढंगसे कहा है—

"वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणम्"

वेदांतका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य निश्चित करना श्रवण है। उसीके लिये मीमांसा है। उपक्रमोपसंहारकी एकरूपता अभ्यास, अपूर्वता आदि षड्लिंगोंके द्वारा उपनिषत् आदिका ब्रह्ममें तात्पर्य करना चाहिये। एक दो चौपाईयां सुनीं। उस पर एक मनोरञ्जनकारी दृष्टांत सुना। वाह! वाह! हो गयी इतना ही श्रवण नहीं है। यह भी अनुपयोगी नहीं है। उस श्रवण से भी कालान्तरमें शुभेच्छा हो सकती है। परंतु सुविचारणा का अर्थ बहुत अधिक है। वेदान्त शास्त्रका अध्ययन कर पूरा अर्थ विचार करना, निर्णीत सिद्धान्त समझना यही सुविचारणा है। अर्थको जितनी गहराईसे आप समझेंगे उतना ही चित्त ब्रह्ममें स्थिर होगा। यह माथापच्ची नहीं है। बहुतसे लोग भ्रममें पड़ जाते हैं—हम सीधी बात जानते हैं राम नाम लो। अगर इतनी सीधी बात होगी तो आज तक सभी

मुक्त हो गये होते। फिर भगवानका यह कथन भी झूठा पड़ जाता— "अनेक जन्मसंसिद्धः"। बात सीधी तो यही है कि अपना मस्तिष्क उपनिषत्‌में फजूल क्यों लगाना, रुपया कमानेमें लगावो तो कुछ प्रत्यक्ष लाभ होगा। यही सीधी वात रामनाम लेनेवालोंका रहस्य है। भक्तिशास्त्रमें भावना उत्पन्न करो। वेदांत शास्त्रमें भावना सहकृत होकर परमार्थतत्त्व जानो। बाकी सब मनोरञ्जन की कला है या धोखेबाजी है।

तनुमानमा तीसरी भूमिका है। तनुका अर्थ है पतला या सूक्ष्म। मन तनु अर्थात् पतला हो जाता है। मन पतला अच्छा या मोटा अच्छा ? मन पतला अच्छा होता है। पतला माने सूक्ष्म। मनकी जगह बुद्धि जोडकर बोलो। बुद्धि सूक्ष्म अच्छी या मोटी। सूक्ष्म बुद्धि ही श्रेष्ठ है। वही परमेश्वर दर्शनमें समर्थ है।

"दृश्यते त्वग्र्याबुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"

ऐसा उपनिषत्‌में बताया है। 'अग्र्याका अर्थ है—अग्रेभवा अर्थात् एकस्मिन्नग्रे भवा एकाग्रया। एकाग्र बुद्धिसे या कुशाग्र बुद्धिसे या श्रेष्ठ बुद्धिसे आत्मदर्शन होता है। सो भी सूक्ष्म हो तब क्योंकि आत्मा अति सूक्ष्म है। अतएव उसका दर्शन भी सूक्ष्म बुद्धिसे ही होगा। आत्माको -"अणोरणीयान्" बताया है। अणुसे भी अणुतर है। उसका दर्शन भी सूक्ष्मतर बुद्धिसे ही होगा। बुद्धिकी सूक्ष्मतरावस्था तनुमानसा है। यह निदिध्यासन का प्रारम्भ है और मननकी पूर्णावस्था है। शास्त्र श्रवणके बाद बारंबार मनन किया जाना चाहिये। चारों ओरसे काटते-काटते अन्तमें एक बिन्दुपर आते हैं। बाणकी नोंक बनाना हो तो झटकेसे तोड़कर नहीं बना सकते। चारों ओरसे घिसते घिसते अनावश्यक अंशको निकालते-निकालते अंतमें नोक बनती है। एक पेन्सिलकी नोक बनानी हो तो भी पहले ऊपरसे लकड़ीका भाग चीरते-चीरते फिर अन्दरसे पेन्सिलके अंशको घिसते-घिसते बनाते हैं।

एक बार तोड़ डाला तो नहीं बनाती। इसी प्रकार सूक्ष्मतम आत्माको ढूंढ निकालनेके लिए अनात्मांशको काटते रहना होगा। निकालते रहना होगा। एक बार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहनेसे नहीं होगा। बार-बार तलस्पर्शी विचार करना होगा। मनन करना होगा। इतर व्यावृत्ति करनी पड़ेगी। प्रथम श्रवण होता है। उसमें तो शास्त्रमें जितना लिखा है, उतनेकी मीमांसा की जाती है। मननके अनेक विध अनुभवोंको युक्तियोंको जोड़कर विचार किया जाता है। हैं ये दोनों विचार ही परन्तु अन्तर इतना पड़ता है। इसलिये शास्त्रकी गहराईमे उतरना पड़ता है। यही प्रवचन करते समय पहले हमे अनुभव हुआ था कि पहले यहां वेदांतका उत्तम संस्कार डाला जाय। प्रेम कुटीरमें श्री स्वामी प्रेमपुरीजीने बड़ा उत्तम वेदांत संस्कार डाला था। किन्तु बादमें कुछ द्वैतवादियोंका भी प्रवचन होता रहा तो श्रोता दुविधामें पड़े कि वेदांत सत्य है या भक्ति मार्ग ठीक है या द्वैतवाद ठीक है। श्रोताओंकी दृष्टिमें वक्ता सभी वक्ता ही ठहरे। ऐसा विकल्प क्यों होने लगा ? इसलिये कि श्रोता गहराईमें नहीं उतरे। गहराईमें उतरनेसे पहले ही द्वैतवादियोंने सरल मार्ग दिखाया। चाहे वह रास्ता सही हो या गलत हो। स्वामी हरिगिरिजी एक बार प्रवचनमें लोगोसे पूछने लगे कि देखो कोई सिद्ध महात्मा आपके पास आकर कहे कि यह अंगुली आपको यों हिलाते रहना पड़ेगा तो सिद्धि मिलेगी। एक दूसरेने आकर कहा कि ऐसे अंगुली तुमको हिलाना नहीं पड़ेगा। उसके बिना ही सिद्धि प्राप्त होगी। दोनों सिद्ध हैं. तो तुम किसके अनुयायी बनोगे ? लोगोंने कहा—बिना अंगुलि घुमाये ही काम चल जाय तो कौन अंगुली घुमाता रहेगा ? स्वामी हरिगिरिजीने कहा— इसका मतलब सब मुफतखोर होते हैं। सारांश यह कि सभी यह देखते हैं कि मेहनत करना न पड़े, करना भी पड़े तो बहुत थोड़ा, और कार्य पूरा सिद्ध हो जाय। द्वैतवादियोंने ऐसा सरल रास्ता बताया कि सब वेदांत निष्ठासे डिग गये। इसलिये कहते हैं—

तनुमानसा भूमिका पर आओ। सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करो। बुद्धिमें जहां सूक्ष्मता आयी, विचार-शक्ति आयी, निदिध्यासनका रहस्य समझमें आया, वहां द्वैतवादी क्या ब्रह्मा भी आवें तो भी डिगा नहीं सकेंगे। इसलिये जितना समय मिले उतना गहराईसे विचार करो। बुद्धिको सूक्ष्म बनावो। सूक्ष्मदर्शी बनो। तनुमानसा भूमिका प्राप्त करो। द्वैत चिंतन नियुक्त हो।

सत्त्वापत्ति चतुर्थ भूमिका है। यहांसे साध्य भूमिका प्रारम्भ होती है। तीन साधन भूमिकायें हैं। अन्य चार साध्य भूमिकायें हैं। सत्त्वापत्ति निदिध्यासनकी परिपक्वावस्था है। उस समयमें विशुद्ध सत्त्वगुणकी आपत्ति माने प्राप्ति है। सत्त्वगुण का कार्य है ज्ञान। विशुद्धज्ञान। परन्तु यहां केवल श्रवण जन्य और मनन जन्य ही अर्थ नहीं है। किंतु निदिध्यासन जन्य तत्त्वसाक्षात्कार अर्थ है। इस आप अत्यंत अपूर्व मत समझो। आत्मसाक्षात्कार निरन्तर होता रहता है। अपनेको चेतन हमेशा ही सभी समझते हैं। जाग्रतमें हम अपनेको चैतन्य अनुभव करते हैं। सपनेमें शरीर जड़वत् पड़ा रहता है। फिर भी देखनेवाला चेतन ही रहता है। सुषुप्तिकालमें मन भी जड़वत् हो जाता है, फिर भी द्रष्टा चेतन ही अनुभूत होता है "मैं सोया" यह मैं अपनेको चेतित कर ही रहा है। अपने चैतन्यका साक्षात्कार हमेशा ही होता रहता है। परन्तु कुछ आवरण भी साथम आया हुआ है। आत्मा अखण्ड है। परन्तु शरीरतादात्म्याध्यास से जाग्रतमें वह खंडित हुआ है। परिच्छिन्न हुआ। स्वप्नकालमें मन कल्पित संसारसे वह परिच्छिन्न हुआ। सुषुप्तिमें भी अज्ञानसे परिच्छिन्न हुआ। "अहमज्ञः नाहं किंचिदवेदिषं" ऐसा अज्ञान परिच्छेद उस कालमें भी रहता है। शरीरत्रय परिच्छेदको पारकर अखंड रूपेण देखना ही ब्रह्म साक्षात्कार है। यह भी हम गहराईसे विचार करेंगे तो हमें प्रतीत होगा। विस्तृत प्रवचनका यह समय नहीं। मैं केवल संक्षेपसे बता रहा हूं। एक अपरिच्छिन्नताका आवरण हुआ। उसीसे आनन्दका भी

आवरण हुआ। "नाल्पे सुखमस्ति" ऐमी छांदोग्य श्रुति है। आप अपने परिच्छेदक विकल्पोंको त्यागेंगे तो स्वयमेव आनन्दका आविर्भाव होगा। श्रुतिने इसीसे पहले यही कहा—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति

जो भूमा है, व्यापक है उसीमें सुख है। अपरिच्छिन्न आत्म दर्शनमें ही आनंदका आविर्भाव होगा। इसीको सत्त्वापत्ति कहते हैं। इसी सत्त्वापत्तिमें तारतम्य होनेसे अगली भूमिकायें हैं। सत्त्वापत्तिमें ही मनुष्य ब्रह्मवित् होता है। किंतु ज्ञानमें तारतम्य रहता है। स्पष्टाता एवं अस्पष्टाताका भेद रहता है।

असंशक्ति इसके बादकी पांचवी भूमिका है। संसक्ति जहां न हो उसको असंसक्ति कहते हैं। संसक्ति माने आसक्ति। असंसक्ति-अनासक्ति। विषयोंमें कहीं भी आसक्ति नहीं। विषयासक्ति ज्ञानका प्रतिबन्धक है। "रागो लिङ्गमबोधस्य" यह हम पहले कह चुके हैं। मन विषयोंसे रञ्जित हो रहा है तो यह कौनसा ज्ञान? सक्ति चिपकने को कहते हैं। एक प्रकारका यह गोंद है। जो विषयोंसे चिपकाता है। एक प्रकारका रंग है जो मनको रञ्जित करता है। किन्तु कच्चा रंग है कच्ची गोंद है। पानी लगते ही रंग छूट जाता है। जैसे कच्ची स्य हीसे कागज पर लिखा और पानी पड़ते ही धुल गया। लिफाफेकी गोंद कच्ची होती है। थोड़ी देर पानीमें भिगा दो तो गोंद छूट जाय। ज्ञान तो पानीके समान है। जहां ज्ञान हो गया वहीं रंग छूटना प्रारंभ हो जाता है। गोंद ढीली होना शुरू हो जायेगी। सत्त्वापत्ति भूमिकामें जहां ज्ञान आविर्भूत हुआ वहां असंसक्तिका प्रारम्भ होना अनिवार्य है। यदि असंसक्ति नहीं हुई तो ज्ञानमें ही कसर समझ लो। महर्षि पतंजलिने बताया है—

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्"

जहाँ पुरुषख्याति हुई, ख्याति माने यश नहीं, ज्ञान, जहां पुरुषका, आत्माका ज्ञान हुआ वही "वैतृण्यम्" प्रारम्भ हो जाता है। पर वैराग्य ज्ञानसे होता है। सामान्य वैराग्य ता साधन कोटिमें आता है। पर वैराग्य साध्य कोटिमे आना है। विषयाशक्ति जैसे-जैसे छूट जाती है वैसे-वैसे ज्ञान निर्मल होता जाता है। अपना अपरिच्छिन्न स्वरूप स्फुटसे स्फुटतर होता है, साथ ही शान्ति समृद्ध आनंदका आविर्भाव भी उत्कटसे उत्कटतर होता हैं। अमंसक्ति भूमिकामें आने पर ब्रह्मविद् एक सीढ़ी आगे ब्रह्मविद्वर कहलाता है। ब्रह्मविदोंमें वर माने अग्रगण्य होता है।

पदार्थाभावनी यह छठी भूमिका है। यह समाधि अवस्था है। वैसे तो सत्त्वापत्तिसे ही समाधि शुरू हो जाती है। परंतु सत्त्वापत्ति जितनी देर प्रयत्नपूर्वक भावना करेंगे उतनी देर समाधि होती है। समाधि दोनों प्रकारकी समझना चाहिये, सहज समाधि तथा निर्विकल्पक समाधि। यह निदिध्यासनके स्वरूप पर निर्भर है। जैसा निदिध्यासन होगा, वैसी समाधि होगी। विचारात्मक निदिध्यासन करते आते हैं तो सहज समाधि होगी और यमनियमादि अष्टाङ्ग योगात्मक निदिध्यासन किया तो निर्विकल्पक समाधि होगी। सत्त्वापत्तिमें यावत्प्रयत्न समाधि लगी रहेगी। असंसक्तिमें कार्यवस्तना जब तक है। तब तक समाधि नहीं तदुत्तर समाधि अनायास ही लगती रहेगी, क्योंकि अन्य विषयासंग तो है नहीं तो कार्यकाल मात्रके लिये व्युत्थान होगा। शेषकालमें अपने आप समाधि लगती रहेगी। पदार्थाभावनीमें स्वयमेव पदार्थ दीखेंगे ही नहीं। व्युत्थान प्रयत्न-साध्य होगा। सत्त्वापत्तिमें समाधि प्रयत्नसाध्य थी। यहां व्युत्थान प्रयत्न-साध्य होगा। भोजन-भिक्षादि कालमें स्वयं या परतः समाधिको बलात् तोड़कर भोजनादि करते हैं। इस समय पूरा जगत बाधित हो जाता है। निर्विकल्पक समाधि पक्षमें जगत दीखता ही नहीं। समाधिमग्न रहते हैं। सहज समाधिमें जगत

दिखता है परंतु बाधित रूपसे। मिथ्या सर्पवत् स्थाणुमें मिथ्या चोखत् दीखता है। छठी भूमिका बहुत ऊँची है। प्रायः संत यहीं तक पहुचते हैं। कभी व्यङ्ग भी करते हैं तो छठीको लेकर। महात्मा गलत काम करते हैं तो पूछते हैं, कहीं छठी भूमिकामें तो नहीं हो। हमारे काशीमें एक संत थे। उनको उठाकर, हाथ पकड़कर पंक्तिमें ले जाते थे। भोजनादिके लिये उनको स्वयं अपने आपको जगाना पडता था। भोजनमें बैठने पर कोई भंडारीको कहे—नमक लावो, तो वे स्वयंको संभालकर पासवाले महात्माको पूछते—किसमें नमक कम है ? धीरेसे पासवाले बोलते साग में। तो वे भी बोलते भंडारी सागमे नमक कम है। लावो। वे यह दिखाना नहीं चाहते थे कि मैं समाधिमें ही रहता हूं। यही पदार्थाभावनी है। पदार्थकी भावना जिस समयमें नहीं होती। इस अवस्थामें ब्रह्मविद् वरीयान् कहते हैं। ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर और ब्रह्मविद्वरीयान्। 'वरीयता'' अधिक महत्त्वशाली व्यक्तिमें मानी जाती है। षष्ठ भूमिकामें ''वरीयता' आ जाती है।

तुरीयगा यह सप्तमी भूमिका है। और यही अंतिम भूमिका भी है। इसमें समाधिसे व्युथान नहीं होता स्वतः भी नहीं, परतः भी नहीं। जैसे हमने बताया सहज समाधि हो चाहे निर्विकल्पक समाधि हो। सहज समाधिमें पहले समय काशीमें एक बड़े भारी महात्मा थे, जो बैठे रहते थे। उनका नाम तैलङ्ग स्वामी था। तैलङ्ग स्वामी उनका नाम तो नहीं था, किंतु तैलङ्ग देशके होनेके कारण उनका नाम तैलङ्ग स्वामी पड़ा। काशीवाले उनको साक्षात् शंकर ही मानते थे। वे हमेशा समाधि-मग्न रहते थे। सहज समाधिमें स्थित थे। कुछ अज्ञानी लोग तो शंकर भगवान समझकर उन पर जल भी चढ़ाने लगे थे। लेकिन उनको इन सबका भान ही नहीं होता था। पानी चढ़ा-चढ़ाकर उनकी चमड़ी गलने लगी तो कई सेवकोंने उनका पहरा लगाना शुरू कर दिया। प्रणवोच्चारणादि

करते थे। इसलिये समझा जाता था कि ये सहज समाधिमें हैं। उनके दर्शनसे लोग कृतार्थ होते थे। षष्ठी भूमिकामें कुछ देरके लिये भिक्षाटनादि निमित्त व्युत्थित होते हैं। परंतु सप्तमीमें वह बात भी नहीं रहती। किसीन मुंहमे डाल दिया तो खाया, नहीं तो नहीं। बाधित संस्कार से थोड़ा-बहुत कार्य जरूर होता। किंतु बाधित रूपसे ही। निर्विकल्पक समाधिमें तुर्यगा हो तो बहुतसे लोगोंका मत है कि वह तुर्यगामें पहुंचनेके बाद इक्कीस दिनसे अधिक नहीं रहना क्योंकि अन्न जलादिका सर्वथा अभाव हो जाता है। परंतु यह सिद्धांत पूर्णतया मान्य नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक समाधि ही ऐसी है कि उनमें ऋषि-मुनि हजारों वर्ष भी रहते थे। अतः जीवन तो प्रारब्धाधीन है। निर्विकल्पक समाधिसे व्युत्थान नहीं हो होता, ऐसी भी बात नहीं है। हां, व्युत्थान हो तो भी सहज समाधि तक। न कि संसारव्युत्थान तक। इस भूमिकामे महापुरुष ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ, ये चार ही सिद्ध भूमिका हैं। वरिष्ठसे फिर आगे कोई पद नहीं है। तुरीयमें स्थिति होनेसे तुरीयगा नाम है।

इनमें जो उत्तर चार सिद्ध भूमिकाओंको बताया उन्हींको चार श्लोकोंमें व्युत्क्रम से स्थितप्रज्ञ लक्षणमें कहा गया है। "प्रजहाति यदा-कामान्" यह प्रथम श्लोक ब्रह्मविद्वरिष्ठका लक्षण है। सप्तमी भूमिकामें स्थितका स्वरूप है। सप्तमी भूमिकामें नित्य समाधि होनेसे सकल काम त्याग होता है। और निरन्तर आत्मानन्दानुभूति होती रहती है। यही तो प्रथम श्लोक में वर्णित है। सर्वकाम त्याग बड़ा कठिन है। भूख लगने पर कुछ खानेकी इच्छा अवश्यमेव होगी। सप्तमी भूमिकामें पहुंचे बिना सर्वकामना त्याग असंभव ही है। "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः इत्यादि छठी भूमिका है। सुख-दुःख प्रतीति कभी-कभी होगी परंतु उद्वेग, हर्षादि नहीं। राग, भय एवं क्रोधका तो षष्ठी भूमिकामें भी सर्वथा त्याग ही होता है। पञ्चमी असंसक्ति

भूमिका "यः सर्वत्रानभिस्नेहः" में बतायी है। स्पष्टतः शब्दका उल्लेख ही है—"अनभिस्नेहः" यही तो असंसक्ति है। "यदा संहरते-चायं" श्लोकमें चतुर्थी भूमिका है। निदिध्यासनसे सत्त्वापत्ति होती है और निदिध्यासनमें विषयोंसे इन्द्रियोंको खींचना आवश्यक है। असंसक्ति आदिमें खींचनेका सवाल नहीं उठता है क्योंकि चिपकानेवाली आसक्ति ही नहीं है तो वहां इन्द्रियां रहें या न रहें इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। विषय तादात्म्य संभावना हो तो ही संसार है। उसीसे निवृत्तिके लिये इन्द्रियोपसंहरण है। विषय तादात्म्य आसक्तिसे होता है। उसके अभावमें संसारकी कोई संभावना नहीं रहती। अतः "यदा संहरते" इस श्लोकका उत्थान चतुर्थ भूमिकाको लेकर ही है।

यह तो श्लोकोंकी क्रमिक व्याख्या हुई। इसी व्युत्क्रमसे हम अपनी स्थितिका भी पता लगा लें। यदि आपके मनमें कभी भी कोई भी कामना नहीं उठती, निरंतर सहज समाधि आदि स्थितिमें स्थित है तो आप परिपूर्ण हो गये। आपके लिये कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह गया है। आप कृतकृत्य हो गये। पूर्ण हो गये। "तस्य कार्यं न विद्यते" ऐसा आगे बतायेंगे। वह कृतकृत्य है। इस स्थितिका दावा तो बड़े बड़े संत भी नहीं कर सकते। इसीलिये सप्तमी भूमिकाका वर्णन केवल नाम निर्देशरूपमें ही मिलता है। छठी भूमिका का वर्णन काफी आता है। अतः सप्तम भूमिकामें स्थितका अंदाजा छोड़ दो। छठीका परीक्षण करो। परंतु वह भी बहुत ऊँची भूमिका है। परेच्छासे ही उसका अधिकतर व्युत्थान होता है। यह बात भी किसी-किसी संतमें ही मिल सकती है। किसीने कुछ बोलनेको कहा तो थोड़ा बोले। खानेका आग्रह किया तो खाया। शरीर निर्वाहार्थ भी अधिकतर परेच्छासे ही प्रवृत्त होना है। इस भूमिकाकी संभावना भी क्षीण है। तब चलो पंचमी भूमिकाको ही देखो। यह गृहस्थके लिये संभव है। जनक, अश्वपति

आदिका उदाहरण है। उनमें किसीके प्रति आसक्ति नहीं थी। राजकार्यादि भी करते थे। शब्द, स्पर्शादि विषयमें आपकी कोई आसक्ति न हो, आत्म चिंतनसे निरंतर शांतिका अनुभव हो रहा हो, वीतराग, भय, क्रोध हो, अथ च आवश्यक सर्व कार्य निर्वाह चल रहा हो तो पंचमी भूमिकामें अपने आपको समझो। यदि कहते हो कि यहां तक भी नहीं हूं। पुत्रमित्रादि अभिस्नेह छूटा नहीं है, कभी-कभी राग-भयादिकी संभावना रहती है तो चौथी क्लास (चौथी भूमिका) मे ज्वाइंट होनेकी कोशिश करो। कदाचित् विषयोंकी ओर इन्द्रियां जाय तो रोक-थामका बल आपमें है? कि कभी-कभी इन्द्रियां आपको धोखा भी दे देती हैं? यदि इन्द्रियां धोखा देती हों तो समझना कि अभी चौथीमें पहुँचे नहीं। याद रखना, चौथीमें भी पहुंचनेके लिये कूर्मके समान प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान चारों आवश्यक है। भले समाधि न लगी हो। फिर भी यदि चौथीमें पहुंच गये तो उसे भी निम्न श्रेणी न समझना। साध्य कोटिमें पहुंच ही गये उससे आगे प्रगति ही होगी। यदि वहां तक भी न पहुंचे हो तो, तनुमानसा रूपी साधन भूमिकके लिये ही प्रयास कीजिये। बुद्धिको सूक्ष्म बनाइये। वेदांतका महान अर्थ ग्रहण करनेके लिये प्रयास कीजिये। सस्ते सौदोंके पीछे नहीं पड़ना, धोखा खा जाओगे। मनको सूक्ष्म बनाओ। विचारशील बनाओ। उसके लिये सुविचार करना आवश्यक है।

"कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम्"

मैं कौन? तुम कौन? इसपर विचार करो। कुत आयातः—कहाँसे हमारा आगमन हुआ? यह विचार करो। का मे जननी को मे तातः मेरे माता-पिता कौन? यह विचार करो। जन्म देनेवाले माता-पिता हैं। परतु शरीरका जन्म देनेवाले हैं ये। एक ही जन्मके

ये माता-पिता हैं। जीवात्माके माता-पिता कौन ? यह सोचो। इसको जन्म देनेवाला परमात्मा है, वही अनादिकालिक माता-पिता है। यही परिभावन अर्थात् विचार करना चाहिये। यह सभी सुविचारणाके अन्तर्गत है। यह वासना भी पुण्यसे ही होती है।

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते

परमेश्वरके अनुग्रहके बिना ऐसा विचारोदय नहीं होता। प्रथम शुभेच्छा ही उत्पन्न कर लो तो भी गाड़ी चल पड़ेगी। वेदान्त विचारके प्रति प्यास होनी चाहिये। इच्छा होनी चाहिये। तड़प होनी चाहिये। सत्संग सद्विचारको उतना ही महत्त्व दो जितना खाने-पीनेको देते हो। एक दिन भोजन किये बिना जैसे नहीं रह सकते वैसे सत्संग सद्विचार किये बिना भी नहीं रह सकते यह शुभेच्छा है।

शुभेच्छाके प्रति ही कर्म कारण है, जिसका वर्णन प्रथम किया। "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" कर्म इसलिये करना है कि बुद्धिकी प्राप्ति हो। बुद्धिकी शरणमें जाना ही शुभेच्छा कहलाता है। उसके बाद श्रवण-मननादि क्रमसे बुद्धि प्राप्त होनेपर उसे निदिध्यासनसे स्थिर करना चाहिये। यही स्थितप्रज्ञता है। जिसकी चार भूमिकाओंका वर्णन चार श्लोकोंमें किया॥ ५॥

•

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। २–५९ ।।

[निराहार होनेपर मनुष्यके विषय निवृत्त होते हैं, किंतु वासनासे अतिरिक्त । वासना तो परमात्माके दर्शनसे ही निवृत्त होती है]

चार श्लोकोंमें चार प्रकारसे स्थितप्रज्ञका लक्षण बताया । अन्तिम व्याख्याके अनुसार ये चार ज्ञानकी साध्य भूमिकायें हैं । प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् यह तुरीयगा भूमिका बतायी है । कुछ काम-नाओंका त्याग अन्यत्र संभव है । किंतु सर्वकामना त्याग तो तुरी-यगामें ही हो सकता है । एवं नित्यात्मतुष्टि भी । दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः यह पदार्थाभावनी षष्ठी भूमिका है । य सर्वत्रानभिस्नेहः यह असंसक्ति भूमिका है और यदा संहरते चायं यह सत्त्वापत्ति भूमिका है, ऐसा उनका मत हुआ । अब उत्तर श्लोकोंमें इन सबका ही विशेष स्पष्टीकरण होगा ।

"यदा संहरते चायं" इस पूर्व श्लोकमें "संहरते" की व्याख्या जो हम कर आये वह स्मरणीय है । संहरतेमें दो अंश हैं । "यदा अहरते" न कहकर "संहरते" इस प्रकार "सं" उपसर्ग जोड़नेका विशेष अभिप्राय इन दो अंशोंको सूचित करना है । सम्यक् हरते, समीचीने ब्रह्मणि हरते, समे ब्रह्मणि हरते इत्यादि व्युत्पत्तिकी जा सकती है । "इन्द्रियार्थेभ्यः परावृत्त्य ब्रह्मणि स्थापनं संहरणं" विषयोंसे परावृत्तकर इन्द्रियोंको ब्रह्ममें अवस्थित करना यही संहरण है । इसमें दो अंश आ गये । विषयोंसे हटाना एक अंश है । ब्रह्ममें स्थापित करना दूसरा अंश है । इन दोनोंकी क्या आवश्यकता ? इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा लो, प्रज्ञा अपने आप स्थिर होगी । विषयोंके

कारण ही तो प्रज्ञाका चांचल्य है। विषय निवृत्त हो गये तो प्रज्ञा-स्थैर्य स्वयं हो जायेगा। अथवा इन्द्रियोंको ब्रह्ममें लगा लो, उतनेसे प्रज्ञास्थैर्य होगा, ब्रह्म स्वयं स्थिर है। अतः डबल परिश्रमकी क्या जरूरत ? यह दूसरा प्रयास व्यर्थ लगता है। इस प्रश्नके उत्तरमें "विषया विनिवर्तन्ते०" "यततो ह्यपि कौन्तेय०" ये दो श्लोक हैं। विषयोंसे इन्द्रियोंको हटावो तो विषय छूट जायेंगे। पर रस-वासना वची रहेगी। रस निवृत्त्यर्थ ब्रह्ममें मन लगाना आवश्यक है अतः "सं" उपसर्ग रुचित अंशकी सार्थकता है, यह प्रथम श्लोकका तात्पर्य है। दूसरे श्लोकमें बताया कि आप प्रयत्नपूर्वक भी मन ब्रह्ममें लगा लो, किंतु इन्द्रियोंको विषयोंसे व्यावृत न किया तो ये प्रमाथी इन्द्रियाँ ब्रह्ममें बैठे हुए मनको हर ले जायेंगी—हरन्ति प्रसभं मनः। संहरतेके विपरीत हरन्ति हो जायेगा। अतः दोनों अंश चाहिये। विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाना और ब्रह्ममें लगाना। ब्रह्ममें इन्द्रियोंको लगानेका अर्थ मनको ब्रह्ममें लगानेमें पर्यवसित होगा। क्योंकि मनको ब्रह्ममें लगाये बिना इन्द्रियाँ ब्रह्ममें साक्षात् नहीं लग सकतीं। इन्द्रियाँ चित्तस्वरूपानुकारी होती हैं, जब वे विषयोंसे हट जाती हैं। चित्त ब्रह्माकार हो तभी इन्द्रियां ब्रह्माकार होंगी। यही सूत्रमें कहा है :—

"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"

प्रत्याहारमें प्रतिका जो अर्थ है वही संहरतेमें 'सं' से भी प्राप्त होता है। विषयोंसे संपर्क हो तो केवल स्मरणमात्र मनमें होगा। विषयासंप्रयोग होनेपर अर्थात् विषय संयोग विच्छेद होनेपर स्मरण प्रत्यक्षवत् होने लगता है। साक्षात् दर्शन जैसा अन्दर होने लगता है।

"पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया"

भक्त विषय विप्रयुक्त होनेपर अंदर भगवानको मानो साक्षात् आंखोंसे दर्शन कर रहे हैं, मानो जिह्वासे भगवानको चाट रहे हैं

(चुंबनादि कर रहे हैं) इत्यादि रीति अनुभव होने लगता है। यही प्रत्याहार है। यही यहाँ संहरतेका भी अर्थ है।

विषया विनिवर्तन्ते। निराहार पुरुषके विषय निवृत्त होते हैं, इनको निवृत्त करना चाहिये। क्यों? इसमें "विषयाः" यह हेतुगर्भ कर्त्तृ निर्देश है। विषयपदकी व्याख्या वाचस्पति मिश्रने सांख्यकौमुदीमें की है :—**"विषिण्वन्ति विषायिणमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति विषयाः"** षि धातु बंधन अर्थमें पढ़ा गया है—षिञ् बन्धने। वि उपसर्ग है। किसको बाँधते हैं? जो विषयके नजदीक है। विषयी विषयके समीप है। उसीको। विषयका अनुयोगी विषयी प्रथमोपस्थित है। उसीको विषय बांधते हैं। कैसे बांधते हैं? इसे समझनेके लिये वेदांतकी प्रक्रिया जाननी चाहिये। संमुखमें एक पुष्प पड़ा है। उसको देखने लगे, तो प्रथम नेत्र और पुष्पका संयोग हुआ। तब प्रथम पुष्पाकार नेत्रवृत्ति हुई। इन्द्रिय वृत्तियाँ भी होती हैं। इसके बाद मनमें पुष्पाकार वृत्ति होती है। मन भी पुष्पके आकारमें हो जाता है। नेत्र प्रकाश पुष्पाकार न हो उसके बादकी मनोवृत्ति पुष्पाकार कैसे होगी? मन जहाँ पुष्पाकार हो गया तो आत्मा भी पुष्पाकार हो जाता है। पूरी आत्मा नहीं। एकदेश। क्योंकि उपाधिका आकार आत्मामें उपधेयमें आता है। घटाकाशका आकार क्या है? जो घटका आकार है। घट उपाधि है। आकाश उपधेय है। गृहाकाशका आकार क्या है? जो गृहका आकार है। वैसे पुष्पाकार मनोवृत्ति अवच्छिन्न चैतन्यका आकार क्या है? वही पुष्पाकार। पुष्पके आकारमें आत्मा हो गया, यही पुष्पका बंधन है। यही पातंजल योगसूत्रमें बताया है—

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र"

मनमें वृत्तियाँ बन जाती हैं तो आत्मामें वृत्ति सारूप्य आता है। वृत्तिके आकारमें आत्मा हो जाता है। यही बन्धन है। मनकी सारी

वृत्तियाँ खलास हो जायँ तो आत्मा स्वरूपप्रतिष्ठित होता है। यह भी योगसूत्रमें आया है—

"योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः"
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

आकार केवल रूपका ही न समझ लेना। शब्दादिका भी है। शब्द जब कानमें पहुँचता है तो कानमें शब्दाकार वृत्ति पैदा होती है। उसके बाद श्रोत्रकी शब्दाकार वृत्तिसे मनमें शब्दाकार वृत्ति पैदा हो जाती है। तब उसी उपाधिसे आत्मामें भी शब्दाकारता आ जाती है। वैसे ही स्पर्शसे त्वगिन्द्रियमें स्पर्शाकारवृत्ति, स्पर्शाकार मानसवृत्ति और तदुपाधिसे आत्मा तदाकार। इसी प्रकार रसनामें रसाकारवृत्ति, फिर मनमें, फिर तदाकार आत्मा। गन्धसे घ्राणमें गन्धाकारवृत्ति, फिर मनमें, फिर आत्मा गन्धाकार।

यह आपने केवल वृत्तिकी बात सुनी। श्री सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि केवल वृत्ति ही नहीं होती। उस वृत्तिके साथ विषयकी छाया भी रहती है। आँखमें पुष्पाकारवृत्ति भी होती है और पुष्पकी छाया भी पड़ती है। उदाहरणार्थ आप धूपमें खड़े हो जाइये और अपनी छाया-को दो मिनट देखिये, पलक गिराना नहीं। उसके बाद आकाशकी ओर देखिये तो आकाशमें विशाल सफेद-सफेद आपका आकार दिखाई देगा। आकाशमें काफी लम्बा-चौड़ा होगा। इसका ज्योतिष फलादेश भी करते हैं। यदि उस आकाशगत छाया-पुरुषका सिर न दीखे तो समझ लेना मेरा समय निकट आ गया है। छः महीनेके अन्दर ही मेहमानकी बिदाई होनेवाली है। खैर, यह अलग बात है। हमें विचारणीय यह है कि वह छाया-पुरुष आसमान में आया कैसे ? बात यह है कि जो आपने धूपमें छाया देखी, उसका प्रतिबिम्ब आँखमें पड़ा। उसी प्रतिबिम्बको भ्रमसे आकाशमें देख रहे हैं। जैसे आँखमें कोई रोग हो, कोई छोटी-मोटी खराबी हो तो बाहर देखने पर डोरा

जैसा कीड़ा जैसा आकाशमें हिलता हुआ, चलता हुआ दीखेगा। असलमें वह आँखमें ही पानीका विकार होनेसे अत्यन्त सूक्ष्म रूपेण स्थित है। आँख मसलकर बाहर देखो तो फटती चिनगारी जैसी आसमानमें नजर आयेगी। वह आंखमें हा अतिसूक्ष्म तैजसाणु भदन है। मतलब आँखके साथ जो सूक्ष्म अणु आदि है वह आकाशम वड़ा दीखता है। वैसे आँखमें अपनी छायाका जो प्रतिबिम्ब पड़ा उसीको आकाशमें सफेद छाया पुरुषके रूपमें देख रहे हैं। सारांश यहा कि आँखमें विषयकी छाया भी पड़ती है। आँखमें विषयाकारवृत्ति भी होती है। और विषय प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। वही स्थिति फिर मनमें भी है। मनमें विषयाकारवृत्ति भी होता है और विषयका प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। योगशास्त्रमें विज्ञान विक्षुने आत्मामें औपाधिक विषयाकार भी माना है और विषय प्रतिबिम्ब भी माना है। इस प्रकार स्वाकार वृत्ति एवं स्वछायाके द्वारा विषय, तीनों विषयियों को बाँधता है। कौन-कौन तीन विषयी? इन्द्रिय, मन और आत्मा। इसीके कारण शब्दादि अर्थोंका नाम विषय पड़ा।

निराहारस्य देहिनः। ये विषय किसके निवृत्त होते हैं। उत्तर है—निराहारस्य इसका सीधा सरल अर्थ यही लगता है कि निराहार माने भोजन रहित, उपवासी। उपवासीके सभी विषय निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि भोजन न हो तो कोई भी विषय अच्छा नहीं लग सकता। भूखा आदमी क्या रेडियो सुनेगा? गाना सुनगा? भूखा आदमी कहाँ सिनेमामें जायेगा, नाच देखेगा। भूखे आदमीको अन्य कोई विषय पसन्द नहीं आयेगा। केवल रसनेन्द्रियका विषय रस ही उसे अच्छा लगेगा। रसवर्जं—रसोंको छोड़कर अन्य सभी विषय निवृत्त हो सकते हैं। परन्तु यहाँ इतना ही अर्थ नहीं है। आहारका व्यापक अर्थ है आह्रियन्त इत्याहाराः। निर्गता आहारा यस्मात् स निराहारः। आहारका उपभोग्य सभी अर्थसे तात्पर्य है। सभी इन्द्रियोंका भोजन होता है। कानका, आँखका आदि सबका भोजन होता है।

कानका भोजन शब्द है। शब्दकी भूख होती है। किसी-किसीको रेडियोका गीत सुने बिना चैन नहीं पड़ती। किसीको शास्त्रीय संगीत सुननेकी बड़ी भूख होती है। शब्द कानका भोजन है। त्वगिन्द्रियका भोजन स्पर्श है। पुत्रको गलेसे लगाकर, हृदयसे लगाकर आनन्दानुभूति करते हैं। यह त्वगिन्द्रियकी भूख है। स्पर्श भोजन है। ठंढीमें सूर्यताप, गरमीमें शीतलमारुत स्पर्श त्वगिन्द्रियका प्रिय भोजन है। चक्षुका भोजन रूप है। रोज ही लडके-बच्चोंको देखनेकी तरस होती है। महीना पन्द्रह दिन अगर देखनेको न मिला तो भारी व्याकुलता होती है। आखिर देखना उसीको है जिसको हजार बार देख चुके हैं। एक सिनेमा चार छः बार देख लें तो फिर देखनेकी इच्छा नहीं होती। किन्तु पुत्र, पत्नी, मित्रादि ऐसे नहीं हैं, बार-बार देखनेकी इच्छा होती है। यह आँखोंकी भूख है। रूप आँखोंका भोजन है। रसनेन्द्रियका भोजन तो प्रसिद्ध है। रोटी दाल भात मिठाई, गुलाबजामुन आदि सभी रसनेन्द्रियका भोजन है। इनको खानेकी भूख रसनेन्द्रियकी होती है। एक घ्राणेन्द्रिय बेचारी है. वह बहुत अधिक व्याकुल नहीं होती। उसका विषय गन्ध है, वही उसका भोजन भी है। इस प्रकार आहार पदका अर्थ, यहाँ शब्द स्पर्शादि पाँचों इन्द्रियार्थ हैं।

अब निराहारता क्या है, यह समझना है। निराहारता तीन प्रकारसे होती है। एक विषयोंका दूरतः त्यागसे, दूसरा विषय छायापत्तिके होने न देनेसे और तीसरा अपेक्षा बुद्धिके अभावसे। इनमें प्रथम निराहारता अधिकतर सन्त महापुरुषोंकी है। त्यागी सन्त महापुरुषोंने इन विषयोको दूरतः त्यागा। सन्तोंको ऐसा न समझना कि ये काम धन्धा नहीं कर सकते थे, धन नहीं कमा सकते थे, घरमें भोजनकी व्यवस्था नहीं थी या भोजन, गृहादि मिल नहीं रहे थे। महायोगी भर्तृहरि कहते हैं —

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये।

किन्तूद्भ्रान्त पतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकल्प्यसकलं सन्तो वनान्तं गताः ॥

भर्तृहरिजीने बड़ा अच्छा स्पष्टीकरण किया। वे कह रहे हैं क्या ये सन्त जितने हैं सब एक ही ढङ्गसे सन्त बने हैं ? हो सकता है कि कुछ सन्त घरबार न होनेसे त्यागी बन गये हों। पर भर्तृहरिजी कहते हैं मेरा ही उदाहरण लो और मेरे जैसे कितने और राजा-महाराजा विरक्त हुए। क्या इनको रहनेके लिये रमणीय प्रासाद-महल नहीं मिल रहा था ? पुराणोंमें हजारों राजर्षियोंका वर्णन आता है, जो अपना सारा राज्य पुत्रोंको सौंपकर जंगलके लिये निकल पड़े। महा-कवि कालिदास कहते हैं कि रघुवंशी राजाओंका यह व्रत ही था।

इति स विषय व्यावृतात्मा यथाविधि सूनवे।
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ॥
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।
नृपतिककुदामिक्ष्वाकुणामिदं हि कुल व्रतम् ॥

जहां "जरा कर्णमूले" दिखाई पड़ी, अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्य सौंप देते थे और सर्वस्व परित्यागकर जंगलमें पर्णकुटीरमें या पेड़ की छायामें जाकर तपस्यामें लग जाते थे। कितना पवित्र आध्यात्मक उनका विचार था। विषयोंसे वे सर्वथा व्यावृत्त हो जाते थे। क्या इनको रहनेके लिए सुन्दर महल आदि नहीं थे कि वे त्यागी बने ? क्या इन संतोको गान विद्या-विशारदोंके गीत या यदि पसंद हो तो नटी-नटोंका गायनादि नित्य सुननेको नहीं मिल सकता था ? क्या ये संत भी सुन्दर स्त्रीसे विवाह कर कौटुंबिक सुखका अनुभव नहीं कर सकते थे। एक पिंगला बुरी निकली तो क्या हुआ ?

"अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या"

हमारे ऊपर प्रीति रखनेवाली भी ता बहुत सारी हैं। फिर भी सब कुछ त्याग कर वे क्यों सन्त बने ? किन्तूद्भ्रान्त........। यह

सारा ही विषयसुख छाया चञ्चल है क्षण भंगुर है। उन्होंने देखा कि सुखबुद्धिका विषयोंसे चिपके रहना आत्मघात है।

विषय सुख क्या है सचमुचमें ? यह केवल छाया सुख है। पानी चञ्चल है, उसमें सूर्यकी छाया पड़ती है तो वह भी तरल चञ्चल होगी ही। और उपाधि विनाशशील होगी तो छाया भी विनाशशील होगी। विषयों पर या विषयाकार वृत्ति पर जो आत्मानन्दकी छाया पड़ती है वही सुख कहलाता है। क्या वह स्थायी होगा ? विषय चञ्चल स्वभाववाला है। इसीलिये सुख भी चञ्चल ही होता है। सुख दुःख मिश्रित होता है। जैसे पेड़के नीचे छायामें कोई विश्राम करने गया। गरमीका दिन है। परंतु धीरे-धीरे हवा चलनेसे डाली इधर-उधर झूमने लगती है तो बीच-बीचमें गरम धूप भी पड़ने लगती है। हमने कई बार अनुभव किया। छायामें सोना बड़ा खतरनाक होता है। नींदमें सूर्य आगे बढ़ गया और छाया की जगह धूप और धूपकी जगह छाया हो गयी तो बड़ी गरमी लगनेसे नींद टूट जाती है। ऐसा ही यह विषय सुख भी है। विषय रूपी उपाधि चञ्चल है। इसलिये आत्मानंद छाया भी अस्थिर होती है। बीच-बीचमें दुःख होता है। फिर विषय नष्ट हुआ तो सारा सुख गायब हो जाता है। यही भर्तृहरि महाराज कह रहे हैं "किन्तूद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोल-दीपाङ्कुरच्छायाचञ्चलमाकलय्य"। यही देखकर सन्त लोग सर्व विषय परित्याग कर एकांत सेवन करने लगे। इसीको प्रथम प्रकारकी निराहारता कहते हैं।

दूसरे प्रकारकी निराहारता आधे संतोंमें और आधे गृहस्थोंमें पायी जा सकती है। हैं तो विषयोंके बीचमें किन्तु विषय छायाको पड़ने नहीं देते। मैं पर्यटन कालमें एक बार आन्ध्र प्रदेश गया था। तिरुपति बालाजी वेङ्कटेश्वरका दर्शन किया। फिर वहाँसे एक संतके आश्रममें गया। पहले वे संत तिरुपतिमें ही तपस्या करते थे। तपस्या करते-करते वे सिद्ध हो गये थे तो उनके पास भी हजारों

भक्त आने लगे। भक्तोंका बड़ा आग्रह शुरू हो गया कि महाराज, इस तरफ शिक्षाकी बड़ी न्यूनता है। संत सेवाका भी सुन्दर स्थान नहीं है। तो उनका कहना मानकर उन्होंने एक आश्रम बनाया। ट्रेनसे जाते समय गाँवमें एक बड़ा नगर जैसा वह दीखता है। वहाँपर विद्यालय है कॉलेज है, कन्या विद्यालय है, कई बिल्डिगें बनी हुई हैं। धर्मशाला है। बड़ा भारी लंगर है। जहाँ हजारों भोजन करते हैं। मैं स्वामीजीसे मिलने गया था। मैं देख रहा था, इन बिल्डिगोंमें किसमें वे होंगे? तब कुछ भक्तोंने एक झोंपड़ी दिखाई। मैंने कहा, यहाँ कोई गरीब बीमार होगा, जिसको देखनेके लिये स्वामीजी आये होंगे। या नौकरोंकी झोंपड़ी होगी। फिर मनमें यह सोचा कि नौकरोंको भी एक पक्का मकान बनवाकर देते तो क्या बिगड़ता था। परंतु मालूम पड़ा कि वह झोंपड़ी उनको खुदको रहनेके लिये थी। चटाईपर स्वामीजी बठे थे। इन सब बिल्डिगोंपर उनकी नज़र ही नहीं जाती थी। केवल कंदमूल खाते थे। न कभी वे संगीत सुनते थे। न कालेजके बच्चोंका डान्स ही देखते थे और न कोई मिठाई ही खाते थे। विषयोंको दूरतः उन्होंने त्यागा नहीं। विषयोंके बीचमें ही छायासे बचते रहे। कुछ गृहस्थ भी इस ढंगसे मिल सकते हैं, ढूंढनेपर। जो घरमें रहते हुए भी समस्त विषयोंसे मुक्त रहते हैं। किंतु ऐसे गृहस्थ अति दुर्लभ होते हैं। संत मिल सकते हैं, क्योंकि संतोंको त्यागकी आदत पड़ी है।

तीसरे प्रकारकी निराहारता अपेक्षा बुद्धिके अभावसे या उपेक्षा बुद्धिसे होती है। विषयोंको त्यागा नहीं है. अरण्यवासी संतोंके समान। विषयोंके मध्यमें रह रहे हैं। विषय मध्यमें भी उस स्वामीजीके समान छाया पड़ने नहीं देते, ऐसी भी बात नहीं है। विषय-सेवन हो रहा है। फिर भी अपेक्षा बुद्धिके अभावसे निराहार हैं।

हमने प्रथम ही विवेचन किया, रूपाकार नेत्रवृत्ति होती है और रूपच्छाया नेत्रमें पड़ रही है। वहाँसे मनमें आकर रूपाकार मनो-

वृत्ति हो रही है और मनपर भी रूपच्छाया पड़ रही है। वहाँसे आत्मामें भी औपाधिक रूपाकारता एवं रूपच्छाया हो रही है। किन्तु यह छाया दो प्रकारकी होती है। एक तो कमरेके नेगेटिवपर छाया पड़ती है। दूसरी दर्पणपर छाया पड़नी है। दोनोंपर आपकी परछाई पड़ रही है। परंतु दोनों स्थानोंमें थोड़ा अन्तर है। नेगेटिवमें ऐसा कुछ मसाला है, जिससे परछाईं यहाँपर टिक जाती है। दर्पणपर वह मसाला नहीं है, जिससे वहाँ छाया टिकती नहीं है। नेगेटिवपर स्थायी मसालेका अस्तित्व है और दर्पणपर स्थायी रूपसे मसालेका अभाव है। किन्तु चित्तपर एक और ढंगका एक मसाला है, जो कभी रहता है कभी नहीं रहता। उस मसालेका प्रत्यक्ष रूप है रागद्वेषादि। उसका उद्बोधक है अपेक्षा बुद्धि। किसी मित्रको आप रास्तेमें मिलते हैं ता घरमें जाकर याद करते हैं। वैसे तो हजारोंको रोज गाड़ीमें, सड़कमें एव अन्य स्थानोंपर देखते हैं तो कौन याद रखता है। इसी प्रकार शत्रुको देखनेपर भी याद आ जाती है। वह दुष्ट रास्तेमें मिला था मतलब राग तथा द्वेष दोनों ही मसालेके स्थानापन्न हैं। इस मसालेके होने पर प्रतिबिम्ब एकदम चिपक जाता है। भैरवी रागका आलाप सुना बड़ा आनन्द आया। उसमें विशेष राग रहा तो कई दिनों तक उसकी गूँज कानोंमें होती रही। पुत्र वियोग, पत्नी वियोग आदि होने पर बार-बार रोना आता है। स्पर्शका प्रतिबिम्ब त्वगिन्द्रियमें पड़ी हुई है। रागकी गोंदने उसे वहां चिपका दिया है। लैला-मजनू दृष्टान्त रूपका उदाहरण है। काममें उसके रूपोंको आखोंमें और हृदयमें चिपकाया। दूधसे जला छांछ भी फूँक-फूँककर पीता है। ये कहावत प्रसिद्ध है। यह द्वेष प्रयुक्त है। मिष्ठान्न बार-बार स्मरण आता है, रागके कारण। इस प्रकार इन्द्रियोंमें आयी हुई विषयच्छायाको राग-द्वेष रूप मसाला पकड़ रखता है। अपेक्षा बुद्धिसे राग द्वेष उभरता है। मित्रके सामीप्यकी अपेक्षा है। शत्रुके अभावकी अपेक्षा है। "अनपेक्षः

शुचिर्दक्षः" इस प्रकार आगे अपेक्षा परित्यागका वर्णन करेंगे। अन-पेक्षतासे या उपेक्षासे राग द्वेष नहीं उभरते और विषयच्छाया दर्पण प्रतिबिम्ब समान समाप्त हो जाती है तो विषय सेवन असेवनके बराबर हो जाता है। यह भी निराहारता ही है। इसका उदाहरण राजा जनक, अश्वपति आदि हैं। राजा जनक केवल विषयोंके मध्यमें रहे इतनी ही बात नहीं है। उस स्वामीजीके समान महलके बीचमें झोंपड़ीमें नहीं रहे। शब्द स्पर्शादि समस्त विषयोंका सेवन करते रहे। फिर भी निराहार बने रहे। आप कहेंगे—यह तरीका बड़ा अच्छा है। यह अच्छा नहीं है, किन्तु यह सबसे अधिक कठिन है। बल्कि प्रथमोक्त तो कुछ सरल भी हैं। विषय सेवन कालमें राग-द्वेष नहीं, विषयच्छायाग्रहण नहीं, इत्यादि बातें केवल मौखिक हो सकती हैं। कार्य कालमें ये सारी बातें गायब हो जाती हैं। थोड़ा विश्लेषण करो—

"मिथिलां प्रदग्धायां न मे किंचन दह्यते"

यह जनकोक्ति है। कथा इसकी बहुत लंबी है। संक्षेपमें इस प्रकार है कि याज्ञवल्क्यजी अपने शिष्योंके साथ मिथिलामें चौमासे में आये थे। उनका स्वाध्याय चलता था ना स्वाध्याय सुननेके लिये राजा जनक भी आते थे। कभी-कभी राजाको विलम्ब होता था तो याज्ञवल्क्य उनके आने तक पाठ रोक देते थे। विरक्त शिष्योंको यह थोड़ा बुरा लगा। वे आपसमें फुस-फुस करने लगे कि गुरुजीका गृहस्थ संस्कार अभी गया नहीं है। तभी तो राजाको अधिक महत्त्व दे रहे हैं। दूसरे दिन सब स्वाध्यायमें बैठे थे, राजा जनक भी थे। इतनेमें खबर आयी मिथिला नगरीमें आग लगी। राजाने सुनी, अनसुनी कर दी। आग बढ़ती हुई झोंपड़ोंमें लगने लगी। चेले सब दण्डकमण्डलु, लंगोटी सम्हालने भागे। आखिर तक अकेले जनक बचे रहे। बादमें आग पर काबू पा लिया गया। दूसरे दिन शिष्य लोग सब एकत्रित हुए, तब याज्ञवल्क्यने पूछा—तुम लोग कल क्यों भागे ? शिष्योंने कहा भयकर आग लगी थी। हमारा कमंडलु

जलने लगा, कौपीन जला महर्षि याज्ञवल्क्यने राजा जनकसे पूछा—आप क्यों भागकर नहीं गये ? उसीका उत्तर जनकने दिया– "मिथिलायां प्रदग्धायां – मिथिला जली तो उसमें मेरा क्या था ? जब तक राज्यमें हैं तब तक तो उपस्थित होनेसे कार्य करना है। किंतु अध्ययनमें जब हो तब उपस्थित अध्ययन ही अपना है। इतनी विशिष्ट निर्ममता-ममता राहित्य हो तब राजा जनकका उदाहरण कामयाब हो सकता है। वृन्दावनमें दुर्वासाजीकी नित्योपवास कथा भी एतदनुकूल है।

निराहारताके ये तीन तरीके हो गये। (१) विषय परित्याग (२) विषयानासेवन और (३) विषयानपेक्षता। तीनों मार्ग उत्तम है। देखना केवल यही है कि इन तीनोंमें अपनेको कौनसा मार्ग सुगम है या संभव है। तीनोंका तात्पर्य है विषय छाया इन्द्रियोंमें एवं मनमें न चिपकें। इस प्रकारकी निराहारताका फल है—"विषया विनिवर्त्तंन्ते"। **विषयाणां विषयत्वं विनिवर्त्तते**। तीनों पक्षोंको लेकर व्याख्या करनी हो तो विषय निवृत्त हो जाते हैं का मतलब है विषयोंकी विषयता निवृत्त हो जाती है। विषयता है बन्धकता। बीजको भून लिया और बीज शक्ति नष्ट हो गयी तो देखनेमें भले बीज लगे, किन्तु कौन उसे बीज कहेगा। रोटी जब तक पकावे तब तक उसको पाचक-रसोईयां कहेंगे। भोजन बनानेका काम छोड़ दिया तो उसको कौन पाचक कहेगा। वैसे जब तक बन्धत्व है तब तक विषय कहलायेंगे। बन्धकता न हो तो कौन विषय कहेगा ? तब क्या फिर कहा जायेगा ? पाचक नहीं आदमी कहा जायेगा। वैसे विषय नहीं किन्तु शब्दस्पर्श आदि कहे जायेंगे। भूतपूर्व गतिसे विषय बोल भी दीजिये, फिर भी असली विषय तो निवृत्त हो ही गये। अब वे विषयाभास ही रह गये। जैसे भूँजने पर बीजाभास।

इस प्रकार निराहारतासे विषय निवृत्तता बतायी गयी। क्या इतनेसे ही कृतकृत्यता नहीं है ? ये तीन प्रकारकी भी निराहारता

महापुरुषोंमें ही संभव है, राजा जनक जैसे गृहस्थोंमें ही संभव है। तब "सं" उपसर्ग किसलिये ? उपसर्गका मतलब था सं अर्थात् ब्रह्ममें इन्द्रियोंको उपसंहृत करो। इसकी सप्रयोजनता बतलाने के लिये उत्तरार्ध है।

रसवर्जम्। विषयोंकी निवृत्त होगी किन्तु रसको छोडकर? रसकी निवृत्ति नहीं होगी। रस क्या है ? रस माने सार। एसेन्स। यहाँ रसका अर्थ है वासना-संस्कार। हमारे अन्दर अनन्त वासनायें भरी हैं। अनन्त संस्कार भरे हैं। चौरासी लाख योनियोंमें हम एक बार, दो बार क्या हजारों लाखों बार घूमे हैं। संसार अनादि होनेसे अनगिनत बार घूमे हैं। सबका संस्कार हमारे अन्दर विद्यमान है। परन्तु वर्त्तमानमें अभिभूत हैं। जिस संस्कारका अभिव्यञ्जक उपस्थित रहता है वह संस्कार है। जागृत रहता है। और अन्य संस्कार अभिभूत रहते हैं। संस्कार भी तीन प्रकारका होता है, ज्ञान संस्कार, इच्छा संस्कार तथा प्रयत्न संस्कार। गायका शरीर मिलते ही जो संस्कार जागृत होता है। बछड़ेको दूध पीनेके लिये सिखाना नहीं पडता। दौड़नेको सिखाना नहीं पडता। दुनियाभरके सभी बछड़े दूध पीकर बड़ी तेजीसे दौड़ते हैं। गाय रंभाती है। कुत्ते दुनियाभरके एक ढंगके मिलेंगे। उसकी स्वामीभक्ति, उसका भोंकना आदि किसीका सिखाया हुआ नहीं होता। सभी योनियोंमें अलग-अलग प्रकारकी ज्ञानकी प्रणाली, इच्छाकी प्रणाली तथा कार्यकी प्रणाली होती है। पूर्व संस्कारका ही परिणाम है। भिन्न-भिन्न शरीर संस्कारोंके अभिव्यञ्जक हैं। मैंने पेटलादमें महात्मा आश्रममें रहते समय कौए और कोयलका कार्यकलाप देखा। कौओंको पक्षियोंमें सबसे अधिक चालाक और धूर्त्त बताया है। सबको वह तंग करता है। यहां तक कि चील और गीधको भी।

"नराणां नापितो धूर्त्तः पक्षिणां चैव वायसः"

परंतु कौएको भी मात खिलानेवाली कोयल है। कोयल कभी अपना घोंसला नहीं बनाती। कौए अपने अंडे अपने बनाये हुए घोंसलेमें देते हैं। कभी कौए बाहर जाय तो मौकेपर कोयल अपने अंडे लेकर पहुंच जाती है और कौएके चार अंडे हों और अपने दो अंडे हों तो चारमसे दो फोड़ देती है और अपने दो अंडे उसमें रख देतो है। कौआ समझता है कि हमारे अंडे बराबर हैं। दुनियाभरमें सभी कोयल ऐसी ही होती हैं। इसके लिये यह विश्वविद्यालय कहा खुला है कि एक ही प्रकार ऐसा सर्वत्र हो रहा है। आगे हमने देखा कोयलका बच्चा अंडेसे बाहर आता है तो कौआ ही उसका पालन करता है। इसलिये कोयलका नाम ही परभृत् है। प्रथम-प्रथम हमने देखा—कोयलका बच्चा कौएके समान का-का ऐसी आवाज करता है किन्तु बसंतमे कोयलके कुहू कुहू करना शुरू करते ही बच्चेका संस्कार जागृत होता है और वह भी कोयल की आवाज करने लगता है। तब कौआ बच्चेको मार भगाता है। यह संस्कारका जबर्दस्त उदाहरण है। इस सस्कार जालको निराहारपना कुछ नहीं कर सकता। निराहारतासे अनादिकालसे संचित संवर्धित सस्कारका नाश या निवृत्ति शक्य नहीं है।

पूछंगे कि ये सस्कार यदि नष्ट न भी हुए तो क्या हानि है ? हम विषय सवन कर नहीं रहे हैं। अतएव कोई दुष्कर्म भी नहीं कर रहे हैं। दुष्कर्म-पाप ता भोगके लिये ही किये जाते हैं। विषयाभिलाषा पूर्ण करनेक लिये सही मार्ग नहीं मिलता तो मनुष्य पाप मार्गका अपनाता है। तब पापकर्म भी नहीं होते, विषय सेवन भी नहीं है तो अनादि सचित वासना क्या करेगी ? उत्तर है—वासना सब कुछ कर देती है। जन्म-मरण परंपरामें वासनाका ही मुख्य हाथ है। वासनानुसार जन्म होता है। गीतामे ही बताया जायेगा—

"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः"

शरीर त्यागके समय जो संस्कार जागृत होता है, जिसका स्मरण होता है, उसी भावको वह प्राप्त होता है। भरतका उदाहरण सामने है। भरतने कौनसा पाप किया था कि उनको मृगजन्म लेना पड़ा? एक मृग शिशुका पालन-पोषण किया तो यह पाप हुआ क्या? जीवन भरमें भरतने प्रथम धर्मानुसार राज्य किया। फिर गंडकीके किनारे घोर तपस्या की। क्या इन सबका कोई मूल्य नहीं है? कि इतना पुण्यात्मा मृग बन गया। वस्तुतः जन्म कर्मका फल नहीं है, किन्तु वासनाका फल है, यह इसी दृष्टांतसे स्पष्ट है। फिर कर्म किस काममें आते हैं? कर्मका फल धन, विद्या, यश, मान संमान, आयु, सुख-दुःख इत्यादि है। वैसे जन्मका प्रयोजक भी कर्म है। किन्तु साक्षात् साधन वासना है। अमुक कर्मका अमुक जन्म फल है ऐसा भी है। किन्तु वासना अन्तमें जगेगी। नहीं तो वह कर्म दबा पड़ा रह जायेगा। जो वासना जागृत होगी तदनुरूप कर्म, फलाभिमुख होगा और जन्मका कारण बनेगा। जैसे नौकरी करनेवालेही नौकरी करेंगे। किन्तु नियुक्ति जिसकी होगी वही नौकरी करेगा। वासना नियोजक है।

वासना जैसे अनंत संचित हैं वैसे कर्म भी पूर्वकृत अनंत संचित हैं। अतः यह कोई भय नहीं है कि वासना जगी किन्तु कर्म न रहा, अतः जन्म नहीं होगा। अनादि कालसे पुण्य पाप हम करते आ रहे हैं। वे सभी हमारे अंदर जमा है।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि"

उपभोगके बिना कर्मका क्षय नहीं होता। भले ही करोड़ों कल्प बीत जाय। अतः जो वासना उद्भूत होगी तदनुसार कर्म तैयार ही मिलेगा। अतः जन्ममरण संसार चक्रनिवृत्तिके लिये वासनाको निवृत्त करना परम आवश्यक है। विषय विनिवर्त्तन मात्र से वासना निवृत्ति नहीं हो सकती। उसके लिये उपायान्तर ही करना पड़ेगा।

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते । इस रसकी वासनाकी निवृत्ति किससे होगी ? उसका उत्तर है रसोऽप्यस्य । रसकी निवृत्ति परतत्त्वदर्शनसे होगी । परतत्त्व दर्शनसे वासना कैसे निवृत्त होगी ? उत्तर पतंजलि सूत्रमें है—

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"

परदर्शनमे नहीं, परदर्शनसे उत्पन्न संस्कारसे अन्य संस्कारका प्रतिवन्ध होता है । एतदर्थं ही योगोपदेश है । यहां पर स्थितप्रज्ञ दर्शनसे पूर्व इसी योगका वर्णन आ गया है—तदा योगमवाप्स्यसि । योगसे परतत्त्वसाक्षात्कारपर्यंत अर्थ विवक्षित है। एतदर्थं ही "समाधावचला बुद्धिः" बताया । संस्कारको संस्कार ही काटता है । जैसे कपड़े पर मैल चढ़ा तो उसको हटानेके लिये दूसरा मैल चढ़ाना होगा । साबुन भी एक प्रकारका मैल ही है। कोई शरीरमें या कपड़े पर साबुन लगाकर उसके झागके साथ सुखाकर पहनता नहीं । उसे भी धोकर हटाना ही पड़ता है । क्या ? साबुन दूसरा मैल है। परंतु तैल आदिके मैलको दूर करनेके लिये उसकी आवश्यकता है । मैलके लिये मैल ही उपाय है। अग्नि आदि नहीं क्योंकि अग्निमें डालेंगे तो कपड़ा ही जल जायेगा । वैसे संस्कारसे संस्कारको काटना होगा । संसारके संस्कारको परमात्म संस्कारसे काटना होगा ।

परमात्म संस्कार दो प्रकारसे होता है । एक सविकल्प समाधिसे उत्पन्न साक्षात्कारका परिणाम है। दूसरा निर्विकल्पक समाधिसे उत्पन्न साक्षात्कारका परिणाम है। योगमार्गमे संप्रज्ञात समाधि प्रसिद्ध है । यहा योगमार्ग पर जोर नहीं दिया गया है । सविकल्पक समाधि साकार भगवत् स्वरूपके चिन्तन से होती है । श्रीमद्भागवतमें नारदजीका वचन है—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं प्रेमनिर्भिन्नचेतसः ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥

नारदजी कहते हैं कि दासीपुत्रके रूपमें मेरा जन्म जब हुआ था और चौमासमें हमारे ग्राममें ऋषिमुनियोंके आने पर उनकी सेवा करनेका मुझे मौका मिला था तब मुझे यह समाधि लगानेका अवसर प्राप्त हुआ था। नारदजी कहते हैं कि ऋषि-महर्षियोंने ध्यानमें ही सब कुछ करनेका उपदेश मुझे दिया। क्योंकि बाह्य-पूजा करनेमें कई झंझट होती है। उसमें अधिकारादिचिन्ता होती है। मुझे अधिकार है या नहीं, यह पहले देखना पड़ेगा। उसमें देश कालवस्तुपरिज्ञानकी जरूरत होती है। शौचाशौच विचार होता है। मंदिरमें भगवत्पूजनके लिये प्रथम वर्णाश्रम विचार होगा। स्त्री-पुरुषका विचार होगा। जिसको अधिकार है, किसको नहीं, आदि यहां विचार होता है। जैसे-तैसे अधिकार प्राप्त भी हो, फिर भी देशकाल विचार होता ही है। पूजनादिका समय होता है। और समय नियन्त्रित पूजनादिसे समाधि नहीं हो सकती। समाधिके लिये तो नैरन्तर्य चाहिये। बाह्य पूजन अनेक सामग्री सापेक्ष है। उन सामग्रियोंमें मन व्यस्त होने पर समाधिकी आशा भी क्षीण होती है। इसलिये पूजनादि भी ध्यानात्मक उत्तम है और अभ्यास भी ध्यानात्मक होता ही है। प्रतिदिन प्रातःकाल या अन्य किसी भी समय भगवानका मनस चिंतन पूजनादि कीजिये।

रत्नैः कल्पितमासनं हिमजलैः स्नानं च दिव्याम्बरं
नानारत्नविभूषितं मृगमदामोदाङ्कितं चन्दनम्।
जातीचम्पकबिल्वपत्ररचितं पुष्पं च धूपं तथा
दीपं देव दयानिधे पशुपतेहृत्कल्पितं गृह्यताम्॥

इत्यादि रीतिसे मानस पूजन होता है। न हल्दी लगे न फिटकरी, रंग आवे चोखा वाली बात है। कोई तकलीफ नहीं, खर्च नहीं और पूजन भी उत्तमोत्तम हो जाता है। आप यात्रामें गाड़ीमें हों या किसी धर्मशालामे ठहरे हों, "सर्वावस्थातु सर्वदा" वाली बात है। भगवान शंकराचार्यने शंकर, कृष्ण देवी आदि समस्त उपासकोंके

हितार्थ सबकी पृथक्-पृथक् मानसपूजा लिखी है। यही नारदजीके "ध्यायतश्चरणाम्भोजं" शब्दका अर्थ है।

ध्यानमें आवश्यक अङ्ग है—प्रेमनिर्भिन्न चेतसा। भगवानके प्रति अपार प्रेम होना चाहिये। हृदयको रागद्वेषादि निर्भिन्न न करे, किन्तु प्रेम ही निर्भिन्न करो। निर्भिन्नका यहां परिपूर्ण अर्थ समझना चाहिये। हृदयसे प्रेम फूट पड़ा है। प्रेमकी धारा बह चली है। भगवानके प्रति पूर्ण प्रेम हो गया है।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई"

इस प्रकार परमेश्वरके प्रति पूर्ण ममत्व हो गया है।

उसी प्रेमका बाह्य स्वरूप है—"औत्कण्ठयाश्रुकलाक्षस्य" ध्यान करते-करते परेशान नहीं होना है। उत्तरोत्तर उत्कण्ठा बढ़नी चाहिये। क्योंकि ज्यों-ज्यों प्रेमी ध्यान करते लगता है त्यों-त्यों वह बाह्य जगतको भूलने लगता है तब आन्तर जगतका प्रत्यक्ष होने लगता है। प्रत्याहार की व्याख्यामें ही हम कह आये हैं कि अंदर आंखोंसे दीखता हुआ-सा, कानोंसे सुनता हुआ-सा अनुभव होने लगता है तब उत्कण्ठा बढ़ती है। कभी हंसता है, कभी रोता है। आंखोंसे अश्रुप्रवाह होने लगता है।

आगे नारदजी कह रहे हैं—"हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः" धीरे-धीरे हरिका स्पष्ट दर्शन होने लगा। कैसा वह दिव्य स्वरूप था, जिसका वर्णन करना वाणीके लिये शक्य नहीं सविकल्पक समाधिका यही आत्म-दर्शन हरि-दर्शन परम फल है। योग शास्त्रमें वितर्क विचारादिका दर्शन होता है। परंतु उसमें काफी विलम्ब होता है। कारण, वितर्कादिमें कोई प्रेम नहीं होना। वितर्क स्थूल आलम्बनको कहते हैं। स्थूल आलम्बन यदि पत्थर पर्वतादि हो तो उसमें क्या प्रेम हो सकता है ? प्रेम तो सजातीय सुन्दर वस्तुमें विशेषरूपेण होता है। इसालिये भगवानका रामावतार कृष्णावतार आदि है।

इसी कारण नारदजीके श्लोकमें "प्रेमनिर्भिन्नचेतसः" कहा। यह हरि दर्शनमें हेतु गर्भित विशेषण है। यह सूक्ष्म सूक्ष्मतर होने लगता है तब ही आत्मप्रसाद शुरू होता है।

"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः"

ऐसा सूत्रकार कहते हैं। उसका फल बताया—

'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा'

सत्यार्थ धारक प्रज्ञा प्रारंभ होती है। समाधावचलाबुद्धि होने पर यही प्रज्ञा स्थितप्रज्ञकी होती है।

निर्विकल्पक समाधिका भी फल परदर्शन है। वेदान्तानुसार निर्विकल्पक समाधि कैसे होती है? निर्विकल्पक समाधिमें बाह्यार्थ विकल्प नहीं होता और आत्मदर्शन होता है। आत्माका दशन तो वैसे ही सबको निरंतर होता है। "मैं चतन हूं" ऐसा अनुभव सबको होता है या नहीं? होता है। यह ज्ञान कवल अदाजा है या अनुभवात्मक है? अंदाजा नहीं। अनुभव है—मैं चेतन हूं। आपने किससे अनुभव किया? क्या चेतनको आखोंसे देखा? या कानोसे सुना? अंदर जो चैतन्य है वह कोई रूप नही है, शब्द नहीं है। मैं अंदर दीखनेवाली किसी चमक या ज्योतिक बारेमें नहीं पूछ रहा हूं। लोग आंख मूंदकर सफेद ज्योतिका चितन करत हैं। मैं उसके बारेमें नहीं पूछ रहा हूं। वह तो आपकी कल्पना है। ध्यान है। ध्यान सविकल्पक है। उस ज्योतिका चितन करो, राम, कृष्णका चितन करो, बात एक ही है। मैं चेतन हूं इस अनुभवमे जो चैतन्यका नाम आ रहा है उसके बारेमे पूछ रहा हू। आप चेतन हैं इसलिये देख रहे हैं, सुन रहे हैं। आप चेतन हैं इसलिये चल रहे हैं, फिर रहे हैं, बोल रहे हैं।

"येन चेतयते सर्वं कार्येन्द्रियमनोमुखम्"

चैतन्य कोई सफेद रंगका प्रकाश नहीं है। चैतन्यसे शरीरमें स्फूर्ति होती है। इन्द्रियां कार्यरत रहती हैं, मन, बुद्धि आदि काम करते हैं। वह चैतन्य क्या है? अनुभव उसका हो रहा है, पर नाम रूप वर्जित है। उसीके वास्तविक स्वरूपका दर्शन करना हैं। उसका वास्तविक स्वरूप क्या? अखण्ड आनंद चिद्घन ही उसका स्वरूप है। यद्यपि चैतन्य का हम अनुभव करते हैं, किन्तु अखण्ड चैतन्यका नहीं। हम सइ साढ़े तीन हाथ शरीर में ही चैतन्यका अनुभव करते हैं। आगे पीछे नहीं। अपने शरीरको छोड़कर अन्यत्र हमारे लिये आवृत्त है। चैतन्य ही आवृत्त है तो आनंदके बारेमें कहना ही क्या? आनंद तो अपने अंदर भी आवृत्त है। अनंत आनंद सागर अंदर है, किन्तु उसका अनुभव नहीं होता। चैतन्यका भी अनुभव होता है तो परिच्छिन्न चैतन्यका ही, अखण्ड चैतन्यका नहीं।

निर्विकल्पक समाधिमें ही अखण्ड चिदानन्दकी अनुभूति होती है। बडी आश्चर्य कारक यह बात है। निर्विकल्पक समाधिमें शरीरसे बाहर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें व्यापक आत्म चैतन्यका दर्शन कैसे कर सकते हैं? क्या निर्विकल्पक समाधिकी यह कोई करामत है? कोई करामत नहीं है। चैतन्यानुभव सखंड हुआ है शरीरादि विषयाकार वृत्तिके कारण। विषयाकार वृत्ति ही विकल्प कहलाती है। विषयाकार विकल्प वृत्ति जहां समाप्त हुई वहां निर्विकल्पक समाधि होती है। फिर भी आत्मा तो शरीरान्तवर्ती ही अनुभूत होगा, बहिर्भूत नहीं। क्या कुछ देर तक सर्ववृत्ति निरोध कर दिया गया तो परकीय शरीरादिमे भी चैतन्य बोध होगा? अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड व्यापक चैतन्यानुभव कैसे होगा? उत्तर है अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड व्यापकका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा उतना लंबा चौड़ा है। आत्मामें लंबाई चौड़ाई तो है ही नही। यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अणुमहत् ह्रस्वदीर्घ परिमाणवर्जित चैतन्यमें भी कल्पित है। उस कल्पित ब्रह्माण्डसे चैतन्य खण्डित सा हो रहा है। जब

कल्पना बंद हो जाती है, वहां चैतन्यका ही बोध होता है। (विशेष-अगले श्लोकमें)

निर्विकल्पक समाधिसे भी संस्कार बनता है, क्योंकि उस समय भी सर्वथा वृत्तियोंका अभाव नहीं होता। स्वामी विद्यारण्यजी महाराजने बताया है—

"वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अध्यात्मगोचराः
"स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात्"

निदिध्यासन रूपी निर्विकल्पक समाधिमें भी सर्ववृत्ति निरोध नहीं होता। प्रश्न होगा कि अल्पवृत्ति निरोध तो अभी भी है। इतने से समाधि नहीं मानी जाती। सर्ववृत्ति निरोध ही समाधि है। तब समाधिमें वृत्ति कैसे ? इसका उत्तर वेदव्यासजीने योगसूत्र भाष्यमें **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** इस सूत्रकी व्याख्याके समय बताया—**"सर्व-शब्दाऽग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग एव"**। अर्थात् सूत्रमें सर्ववृत्ति निरोधः नहीं कहा। अतः योगमें सभी वृत्तियोंका रुकना आवश्यक नहीं है। वेदान्तानुसार अनात्माकारवृत्ति निरोध ही समाधि है। आत्माकार वृत्ति होनेपर भी समाधिमें कसर नहीं है। अहं चेतनः' यह ज्ञान किसको हो रहा है ? इन्द्रियोंका यह ज्ञान नहीं है. यह बात हम कह आये। फिर यह मनका ज्ञान है क्या ? श्रुति कहती है—**"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"** उस आत्मा तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन ही। तब यह ज्ञान कैसा ? किसको हो रहा है? वेदान्तमें उत्तर यही दिया जायेगा—आत्मा स्वयं प्रकाश होनेसे यह चैतन्य स्फुरण हो रहा है। बात सही है। किन्तु कल मुझे "अहं चेतनः" ऐसा ज्ञान हुआ था कि नहीं ? हुआ था। यह स्मरण हुआ। यह स्मरण किसको हो रहा है ? स्वयं प्रकाश आत्माको ? नहीं। आत्मामें संस्कार उत्पन्न नहीं होता। मनमें संस्कार होता है, पर मन तो अनुभव करता नहीं तो संस्कार कैसे ? अतः मानना पड़ता है कि अहं चेतनः ऐसा ज्ञान स्वयं प्रकाशतया तो हो रहा है। परन्तु वैसे मानसवृत्ति भी हो

रही है। उस मानस वृत्तिका और कोई प्रयोजन नहीं है। मनोवृत्तिसे आत्मा प्रकाशित नहीं होता क्योंकि वह विम्ब चैतन्य है। आवरणापाकारण भी नहीं। क्योकि अहं चेतनः इतना निरन्तर प्रकाश होता है। वह नित्य अनावृत्त है। अतः वह वृत्ति स्वभावतः होती है। फल, दूसरे दिन स्मरण मात्र है। निर्विकल्पक समाधिमें भी वृत्तिके होनेमें यही प्रमाण है, क्योंकि उठने पर मैं चेतन था। ब्रह्मका अनुभव मैंने किया, ऐसा स्मरण होता है।

"यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्"

ऐसा खण्डनकार अपना अनुभव वर्णन करते हैं। समाधिकालमें मैं ब्रह्मका साक्षात्कार करता हूं। यह याद कर बोल रहे हैं ? या बिना याद किये। तब समाधि अनुभवका चूंकि स्मरण होता है, अतः समाधिकालमें भी वृत्तियां होती हैं। यह सिद्ध होता है।

उस वृत्तियोंसे संस्कारोंका होना भी अवश्यंभावी है। स्मरणसे अनुभव वृत्तिके समान ही संस्कारोंकी भी कल्पना होती है क्योंकि स्मरणका लक्षण ही यह किया गया है कि —

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः"

जो ज्ञान केवल संस्कारसे उत्पन्न होता है उसे स्मृत्ति कहते हैं। अतः स्मृतिसे अनुभव वृत्तिके समान ही संस्कारोत्पत्ति भी सिद्ध होती है। अर्थात् वह उपेक्षात्मक अनुभव भी नहीं है। उपेक्षात्मक होता तो भी स्मृति न होती।

इतना सब पिष्ट पेषण किसलिये है ? या बालकी खाल क्यों निकाली जा रही है ? इसलिये कि हम पहले ही कह आये हैं कि संस्कारका निवर्त्तक भी संस्कार ही है।

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"

समाधिसे होनेवाला संस्कार ही अन्य संस्कारका प्रतिबन्धक है। समाधि सस्कार अनन्त संसार संस्कारोंको दबा देता है। संसार

संस्कार जन्ममरण परम्पराका मूल निदान हैं। उसे मिटाना ही होगा। पहले हम कह आये कि कर्मसाचित्यसे कर्मोंकी सहायतासे संस्कार ही जन्म प्रदान करते हैं। क्योंकि वेदान्तका सिद्धान्त है कि यह शरीरादि जगत् संकल्प सृष्ट है। इसे हम दृष्टि सृष्टि मानते हैं। मरण समयमें जो भावना हुई उसी भावनाके अनुरूप एक यातना शरीर मिलता है। अर्थात् यदि मनुष्य भावनाकी तो मनुष्य भावनासे आपके साथमें चलनेवाले भूताणुमें मानव शरीर शक्ति आती है। उसका आकर्षण मानव शरीरमें होता है। मरण समयमें हरिण भावना रही तो हरिण भावनासे आपक साथ चलनेवाले भूताणुमें मृग शरीर जातीय शक्तिका आविर्भाव होता है। उसका आकर्षण मृग शरीरमें ही होता है। जीवात्मा जब यहाँसे जाता है तो भूत परिवेष्टित होकर जाता है, ऐसा ब्रह्मसूत्रमें निर्णय किया है। और भूतोमें समस्त द्रव्य जाति स्थित है। आविर्भावक सयोगसे तत्तत् जाति आविर्भूत होती है। जैसे जिस वृक्षके नीचे खाद डालो उस खादमें वही वृक्षशक्ति आविर्भूत होती है। यहाँ भावना ही आविर्भावका कारण है। अतः शरीर निर्माण भावनाका ही परिणाम है। कौनसी भावना (वासना) अन्तमें जागृत होती है, इतना ही देखना है। सारांश यह कि संस्कारों के रहनेसे अवश्यमेव आगे जन्म होगा। बन्धन होगा। विषयत्याग मात्रसे संस्कार निवृत्ति नहीं हो सकती। "रसवर्जम्" बताया। अतएव रसनिवृत्त्यर्थं परदर्शन परमावश्यक है—"रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते"। इसीलिये आहरते न कहकर 'संहरते' कहा समब्रह्ममें इन्द्रिय एवं मनको स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ६ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।। (२-६०)

[हे कौन्तेय प्रयत्न शील विद्वानकी भी इन्द्रियां जो प्रमथन शील हैं, बलात् मनको हर लेती हैं]

यदा संहरते चायं का प्रसङ्ग चल रहा है। संहरते में दो अंश बताये। एक है ब्रह्ममें इन्द्रियोंको और मनको लगाना। दूसरा है विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाना। इनमें केवल विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाते रहे, विषय सेवन नहीं किया तो इतनेसे ही स्थितप्रज्ञता होगी या नहीं? ब्रह्ममें मन इन्द्रियोंको लगाना जरूरी है क्या? बहुतसे ऐसे सन्त हैं जो गुफाओंमें रहते हैं। इन्द्रिय व्यापार शून्य रहते हैं। कुछ लोग काष्ठ मौन रखते हैं। कुछ संत सुल्फा पीकर रहते हैं। कुछ लोग गंगोत्तरी गौमुखी आदि स्थानोंमें शीत सहन कर रहते हैं। इतनेसे मुक्ति मिलेगी या नहीं? इसका उत्तर पूर्व श्लोकमें दिया। नाकारात्मक उत्तर दिया। रसवर्जं। उनकी वासना नहीं छूटती। विषयोंसे इन्द्रियोको हटाया, पर विषय वासना नष्ट नहीं हुई। वर्तमानमें विषय वासनाको भी दबा दिया समझ लो। फिर भी अनादि वासना कहांसे नष्ट होगी? उसे नष्ट करनेके लिये। मन एवं इन्द्रियोंको परब्रह्ममें लगाना ही चाहिये। केवल लगानेसे ही नहीं। परं दृष्ट्वा— परब्रह्मका दर्शन होना चाहिये।

दर्शनसे क्या होगा? सो भी हमने बताया। पर दर्शनसे पर संस्कार बनेगा। परब्रह्म संस्कार हृदयमें आया तो वही संसार वासनाको मिटायेगा। संसार वासना बहुत गहरी बैठी हुई है। उसे खोद निकालनेका काम ब्रह्म वासनाका है।

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणं यदि जायते ॥

इस प्रकार खण्डनकारने दत्तात्रेय वचनका उदाहरण दिया। अद्वैत वामनाके लिये विशेषण है –महाभयकृतत्राणा । भय है संसार। महाभय है संसार वासना। कैसे ? द्वैत प्रपञ्च भयदायी है, दुःखदायी है यह प्रसिद्ध है। "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इस प्रकार श्रुतिमे बताया है। श्रीमद्भागवतमे भी कहा—"भयं द्वितीयाभिनिवेशनः स्यात्" द्वैताभिनिवेशसे भय होता है। दुःखदायीसे भय होता है। अतः संसार भय रूप है। परन्तु वर्त्तमान संसार नाशवान् है। दुःख दिया। ठीक है, किन्तु यह स्थायी नहीं है। संसार वासना तो इस ढंगके हजार संसारोको बार-बार जन्म देनेवाली है। अतः संसार वासना महाभय स्वरूप है। उस महाभयसे त्राण दिलानेवाली कौन ? अद्वैत वासना। ब्रह्म वासना। संसार वासना जितनी गहराईमें घुस पैठती है, उतनी गहराईमें ब्रह्मज्ञान नहीं, किन्तु ब्रह्म वासना पहुंचती है। बीमारी जितनी गहराईमें है, उतनी गहराईमें दवाईको भी पहुंचना चाहिये, तो ही बीमारी अच्छी हो सकती है। खूनमें बिमारी है। उससे फोड़ा फुनसी हो गयी। उस फोडा फुनसी पर मलहम लगाओ तो क्या होगा ? दवाई तो खून तक पहुंचने वाली होनी चाहिये। ब्रह्म वासना संसार वासनाकी तह तक पहुंच कर उसे मिटाती है। इसी आशयसे ऋतंभरा प्रज्ञाके प्रकरणमें महर्षि पतञ्ज-लिने 'साऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी "ऐसा सूत्र नहीं लिखा। किन्तु 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी" कहा। प्रज्ञा सस्कारबाधक नहीं। प्रज्ञाजन्य संस्कार अन्यसंस्कारबाधक है।

अब दूसरा प्रश्न उठा। अच्छा, परब्रह्मदर्शन अनिवार्य हुआ, संसार वासना निवारणार्थ। ठीक है। तो उसीसे मोक्ष प्राप्ति होगी। विषयोसे इन्द्रियोंको हटानेकी क्या जरूरत है ? श्रुतिमें लिखा है— "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "हृदयग्रन्थिर्वासना" ऐसी उसकी व्याख्या है।

वासना मिटेगी। साथमें फल संशयनाश कर्म क्षयादि बता दिया है। इसके उत्तरमें यह श्लोक है—यततो ह्यपि कौन्तेय। अपि भिन्न क्रम है। "यततो हि विपश्चितोऽपि" ऐसा अन्वय समझना चाहिये। यत्न करते हुए ही तत्त्वदर्शी हो जानेपर भी उसकी इन्द्रियां मनको हर ले जायेंगी. क्योंकि ये इन्द्रियां प्रमथनशील हैं। इस श्लोकमें पूर्वार्धं पूर्व श्लोकमें जो। 'परं दृष्ट्वा' कहा उसीका पूरक है। परदर्शन ही विपश्चित् शब्दका अर्थ है। विशेषण पश्यति विशेषं वा पश्यतीति विपश्चित्। यह उसकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् विशेषदर्शी विपश्चित् कहलाता है। इसका अन्य अर्थ हम बादमें बतायेंगे। उसीमें साधन रूपसे 'यततः' बनाया गया। परदर्शन कैसे होगा ? यत्न करनेसे इस प्रकार परब्रह्मदर्शनमें यहां हेतुनिर्देश है।

यततो ह्यपि कौन्तेय। तीन प्रकारका यत्न करो तो परदर्शन होगा। प्रथम यत्न वेदान्तविचारानुसार होता है। आत्मदर्शनका साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन प्रसिद्ध है। श्रवण करना और कराना दोनों आवश्यक है।

"स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्"

ऐसे दोनों साथमें बताये हैं। स्मरण करो और कराओ। श्रवण करो और कराओ। श्रवण करते हैं तो अनेक हृदयंगम हो जाती हैं और श्रवण कराते समय भी अनेक बातें जम जाती हैं। व्यासगद्दी पर अधिकार बैठना है तो व्यासजीका उसपर आशीर्वाद हो जाता है, जिससे नूतन विचार स्वयं उपस्थित होता है। इसी कारण सत्संग हमेशा करते-कराते रहना चाहिये। सनकादि चारों परमार्थदर्शी थे। परिव्राजक थे। वे फिर भी जहां जाते थे, वहां सत्संग करते थे। एक वक्ता बना, तीन श्रोता हुए और दुनिया आवे या न आवे उससे उनका कोई मतलब नहीं था, किन्तु दुनिया तो टूट पड़ती थी। उनका आगमन बहती हुई गंगाके समान माना जाता था। संत बहती हुई गंगा हैं। जिनको स्नान करना है कर लो। जितना करना

है कर लो। सनकादि ऋषि एक गांवसे दूसरे गांवमें पहुंचते तो वहां दूसरा वक्ता होता था। बाकी तीन श्रोता होते थे। सुनानेमें भी उतना ही रस और सुननेमें भी उतना ही रस। वे इस प्रकार नित्य सत्संग करते थे। यही परदर्शनका साधन है और कृत दर्शनका रक्षक है। अर्थात् दर्शन हो गया तो भी श्रवणादि करते रहना चाहिये। उससे कृत दर्शनका रक्षण होता है। इसी प्रकार श्रवणोत्तर मनन भी करना चाहिये। श्रवण तो शास्त्रके विषय पर होता है। उसके ऊपर ऊहापोह मनन हैं। ऊह नवीन विचारको जोड़ना है। अपोह हटाना है। यद्यपि शास्त्रमेंसे कुछ हटानेकी जरूरत नहीं है। फिर भी पूर्वपक्षरूपमें अपोह रखा ही जाता है। जैसे ब्रह्मसूत्रके आरम्भमें व्याख्याकारोंने विचार किया कि ब्रह्म आत्माको कहते हैं और आत्माका ज्ञान सबको होता है। "अतः इदं शास्त्रमनारम्भणीयम्" इसलिये इस शास्त्रके आरम्भकी कोई आवश्यकता नहीं। यही अपोह है। फिर ऊपरसे विचार करके उसका समर्थन किया जाता है। इस प्रकार ऊहापोह द्वारा नवीन उद्भावनायें करना मनन है। मननके बाद फिर निदिध्यासन भी करना चाहिये। निदिध्यासन अभ्यासको कहते हैं। उसमें ऊहापोह नहीं रहता। एक ब्रह्माकार वृत्ति प्रवाहीकरण रहता है। अनात्म विषयोंको छोड़कर केवल आत्माकार वृत्तिका ही प्रवाह चलता रहे तो निदिध्यासन है। इन तीनोंके करते रहनेसे परमात्मदर्शनोपयोगी दिव्य चक्षु, प्राप्त होती है। उस दिव्य चक्षुसे परब्रह्मदर्शन होता है।

वेदान्तमतानुसार दिव्यचक्षु क्या है? श्रवण मनननिदिध्यासन परिपाक ही है। भैरवी रागसे किसीने गीत गाया। वहां एक जानकार बैठा है, एक गांवड़िया भी बैठा है। एक पशुबुद्धि भी खडा है। जानकार रागसे झूमने लगा। दूसरा गांवाड़या मुंह ताकने लगा। तीसरा तो अपने खाने-पीनेमें लगा है। शब्द जब एक बराबर तीनोंके कानोंमें पड़ रहा है तो यह विशेषता क्यों? उत्तर है—गानविद्या

विशारद भैरवी रागको सुन रहा है। द्वितीय मधुर शब्दको सुन रहा है। तीसरा केवल आवाज ही सुन रहा है। भैरवी रागको सुननेके लिये गान्धर्व विद्याभ्यास जनित-संस्कार सहकृत श्रोत्र कारण है। उसी संस्कारको राग श्रवण कारण दिव्य श्रोत्र समझो। प्रदर्शनियोंमें जात है तो शिक्षितोंको घंटेके-घंटे लगते हैं। पामर फालतू समझकर चले आते हैं। तत्तदभ्यासविशेषसंस्कार ही दिव्यचक्षु है। घोड़ोंको, रत्नों-को एवं अन्यान्य वस्तुओंको परखनेके लिये दिव्यचक्षु चाहिये। ब्रह्म-को परखनेकी दिव्यचक्षु है—श्रवणमनननिदिध्यासन जनित विशिष्ट संस्कार ब्रह्म तो दीख ही रहा है। केवल परखनेके लिये, इतर व्यावृत्तिके लिये अभ्यास चाहिये। जैसे गायन सभी सुन ही रहे थे। परखनके लिये केवल गान्धर्वविद्या संस्कार चाहिये।

गीताका रोज-रोज अभ्यास कीजिये, श्रवण मनन कीजिये तो उसीमें अनेक छिपे हुए अर्थ प्रकट हो जायेंगे। रोज पढ़ जाते हैं, लेकिन अर्थका अवभास नहीं होता। अभ्यास संस्कारसे नूतनार्थका स्फुरण होता है। महात्मागांधी कहते थे मुझे कभी भी कोई संशय हो जाय तो गीता उठाकर देख लेता था। मुझे वहीं उत्तर मिल जाता था। गीता मार्गदर्शक है। वह कब? जब गीता देखनेका आपको दिव्यचक्षु प्राप्त होगा। इसी प्रकार ब्रह्मको देखते जा रहे हैं। किन्तु संस्कारके अभावमें वास्तविक दर्शन नहीं हो पाता।

दूसरे प्रकारका प्रयत्न धारणा ध्यान समाधि है। इन तीनसे भी परब्रह्मदर्शन होता है। धारणा, ध्यान, समाधि एक योग पद्धतिसे है, दूसरी भक्ति मार्गकी पद्धतिसे। उनमे योग पद्धति कठिन है। उसके लिये लिये फिर यमनियमासनादिका भी वर्णन करना पड़ेगा। अतः भक्तिमार्गीय धारणादिको ही विशेष रूपसे अपनानेमें अधिक लाभ होगा। धारणाका मतलब हम पहले कह चूके हैं। भगवानके किसी रूप विशेषको हृदयास्थानमें धारण करना ही धारणा है। आचार्यने एक जगह हृदय कमलमें धारणा सूचित की है—

हृदम्भोजे कृष्णः सजलजलदश्यामलतनुः
सरोजाक्षः स्रग्वीमृकुटकटकाद्याभरणवान् ।
शरद्राकानाथप्रतिमवदनः श्रीमुरलिकां
वहन् ध्येयो गोपीगणपरिवृतः कुङ्कुमचितः ॥

हृदयकमलमें श्रीकृष्णकी धारणाकर ध्यान करो । श्याम मनोहर, कमल नयन, वनमाला धारी, मोर मुकुटधारी, कंकण-किंकणी भूषित भगवानका ध्यान करो । शरच्चन्द्रोपम सुमनोहर मुखारविन्दका स्मरण करो । मुरली बजाते हुए कुङ्कुमचन्दन चर्चित गोपीगण परिवृत्ति रूपका चिन्तन करो । यह मानस पूजाके प्रथम श्लोकमें यह बताया है । मानस पूजाके श्लोकोंको और मंत्रोंको गुरुमुखसे श्रवणकर तदनुसार विधिवत् पूजन किया जाता है । यह अत्यन्त विस्तृत विषय है । यहां हम केवल संक्षेपमें ही कह गये हैं । अस्तु । कहीं-कहीं भ्रकुटीमध्यमें भी धारणा करनेका वर्णन आता है । स्थानका विशेष आग्रह नहीं है । परतु हृदम्भोजका भी हृदय अर्थात् मनही अर्थ करना पर्याप्त है । हृत् पिण्ड तक अर्थ करनकी आवश्यकता नहीं है । मानस पूजन ध्यानादिमें मनमें भगवानको धारण करना है । धारणा निराकार तथा साकार दोनोंकी हो सकती है । तथापि विशेष रूपसे साकार धारणा ही भक्ति शास्त्रमें अनेक रूपोंकी धारणा हो सकती है । नाम, रूप, लीला चरित्रादिकी धारणा होती है । जैसे-तंसे भगवानकी धारण करना । उसमें एकतानता नहीं होती । अनेक लीला विग्रहादि उपस्थित होते हैं । इसके बाद ध्यान है । "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं" यह हम पहले कह आये हैं ।

विच्छिद्य विच्छिद्य प्रत्यये धारणा
प्रत्ययैकतानतायां ध्यानम्

आप भगवत् स्मरणमें बैठे हैं तो देखें कैसा प्रत्यय हो रहा है । मन बीच-बाचमें भगवत् रूपको छोड़कर भागता है या नहीं ? यदि

भागता है और आप उसे बार-बार भगवानमें लगा रहे हैं तो उसको आप अपनी भाषामें भले ध्यानमें बैठे हैं कहिये। किन्तु वह धारणा है। धारणा कोई खराब नहीं है। वह पहली सीढ़ी है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्

इस प्रकार षष्ठाध्यायमें इसका विधान ही आयेगा। अतः यदि आप ध्यानपर नहीं भी पहुंचे तो अपनेको हीन मत समझो। ध्यान प्रत्ययैकनानतामें होता है। प्रत्ययैकतानताका अर्थ है—एकाकार प्रत्यय प्रवाह। निरन्तर प्रवाह हो तो उसको ध्यान कहते हैं। उसमें बीच-बीचमें विच्छेद नहीं होता। जितनी देर तक बैठते हैं। उतनी देर तक भगवदाकार चित्तवृत्ति ही चालू रहेगी। इसके बाद समाधि है।

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"

ध्यान और समाधि अलग-अलग नहीं है। तदेव। वही ध्यान समाधिरूप होता है जब केवल अर्थमात्रनिर्भास हो। अर्थ ही अर्थ दीखे। विषय ही विषय दीखे। विषय अर्थात् ध्येय अर्थ। ध्येयमात्र कहनेसे दो की व्यावृत्रि होती है। ध्याता और ध्यानकी व्यावृत्ति होती है। ध्यानकालमें तीनका भान होता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनोंकी प्रतीति होती है। मैं ध्यान करने वाला बैठा हूं। यह ध्याताका प्रत्यय है। मनको एकाग्रकर ध्यानकर रहा हूं, यह ध्यानका प्रत्यय है। यह भगवानका रूप है, यह ध्येय प्रत्यय है। यह त्रिपुटी ध्यानमें होती है। मैं भगवानको अंदर देख रहा हूं। मैं मुरली वादन अंदर सुन रहा हूं इत्यादि सभी त्रिपुटी हैं। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन त्रिपुटी हैं। श्रोवा, श्राव्य, श्रवण ये दूसरी त्रिपुटी है। परंतु समाधि लगने पर यह त्रिपुटी खतम होगी। वहाँ केवल भगवान ही भगवान दीखने लगेगा। मैं द्रष्टा, श्रोता, मन्ता छूट जायेगा।

मैं तो रहूंगा किन्तु प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार दर्शन श्रवणादि अन्तर्वृत्ति छूट जायेगी। छूट जायेगी अर्थात् उसकी प्रतीति छूट जायेगी। उस समय आत्मा द्रष्टा, श्रोता रहता है। दर्शन स्पर्शन भी रहता है। किंतु अर्थ इस प्रकार छा जाता है कि इन सबकी प्रतीति नहीं होती। इसकी उपमा स्फटिकमणिसे देते हैं। स्फटिकमणिके पासमें जपाकुसुम रख दें तो वह बिल्कुल लाल-लाल दीखेगी। स्फटिकमणि गायब सी होगी। उसका सफेद रंग भी गायब सा होगा। एक लाल-लाल स्वरूप मात्र दीखेगा। इसी प्रकार द्रष्टा एवं दर्शनका स्वरूप गायब सा हो जायेगा। केवल भगवद्रूप मात्र रह जायेगा।

ध्यान और समाधिकी उपमा प्रयागराजमें गङ्गा और यमुनासे दी जा सकती है। गङ्गा उछलती हुई चलती है। उसके अंदर तरंगे होती हैं। पानीके चलनेकी खूब आवाज होती है। किन्तु यमुनाजीमें देखो। आपको ऐसा लगेगा कि पानी बिल्कुल स्थिर है। चल नहीं रहा है। तालाब जैसा स्थिर है। वस्तुतः वह स्थिर नहीं है, स्थिर सा है। यमुनाजीका प्रवाह 'स्वरूपशून्यमिव' हो जाता है। स्वरूप शून्य सा, प्रवाह शून्य सा लगेगा। लेकिन पानी बहता वहां भी है। नहीं तो पानी ऊपरसे इकठ्ठा होकर प्रलय हो जाय। गङ्गाजीमें ता तरंगें उछलती हैं। बड़ा कोलाहल रहता है। वैसे ध्यानमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनका कोलाहल रहता है। समाधिमें सभी शान्त हो जाते हैं। केवल दृश्य रह जाता है। इस प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि मार्गसे चलें तो भी परदर्शन होगा, क्योंकि हम पहले ही कह आये हैं कि समाधिमें ऋतंभरा प्रज्ञा होती है।

"यततो ह्यपि" में यत्नसे विशेष यत्न विवक्षित है। "स्थितौ यत्नः" स्थित्यर्थं यत्न यहां अभिप्रेत है। यही यहां तीसरा अर्थ है। इस यत्नको अभ्यास भी कहते हैं—

"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः"

ऐसा पातञ्जल सूत्र है। स्थित्यर्थं यत्न अभ्यास कहलाता है। स्थिति किसको कहते हैं ? इस जिज्ञासामें व्यासजीने इसकी व्याख्या की है।

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः
तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः
तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः

ऐसा यहां भाष्य है। स्थितका अर्थ क्या है ? 'स्था' धातुका अर्थ गतिकी निवृत्त है। "ष्ठागतिनिवृत्तौ" ऐसा धातुपाठ है। चित्तकी गति, वृत्ति कहलाती है। चित्तकी गत्यात्मकवृत्तियोंको निवृत्त करो। तब चित्त अवृत्तिक होगा। अवृत्तिकका मतलब सर्वथा वृत्तिका अभाव नहीं। स्थूल वृत्तियां नहीं होगी। इसलिये आगे "प्रशान्तवाहिता" बताया। प्रशान्त रूपसे प्रवाहित होना। जैसे हमने पहले दृष्टान्त बताया गङ्गा और यमुनाका। गङ्गा प्रशान्त वाहिनी नहीं है। यमुना प्रशान्त वाहिनी है। गङ्गामें स्थूल चलन है—स्थूल गमन है। यमुनामें सूक्ष्म चलन है—सूक्ष्म गमन है। इसी प्रकार चित्त नदीमें स्थूल चलन न हो, केवल सूक्ष्म चलन हो तो इसको स्थिति कहते हैं। तदर्थं यत्न ही अभ्यास है। यहां भगवान शंकराचार्यका वार्त्तिक है। उसमें प्रशान्त वाहिताका अर्थ कुछ बदलकर लिखा है— "**प्रसन्नरूपतया परिणामः**" प्रसन्नता सत्त्वगुणका परिणाम है। रजोगुण तथा तमोगुणसे चित्त मलिन होता है। शुद्ध सत्त्व गुण होने पर शुद्ध होता है और प्रसन्न होता है। वैसे तो चित्तकी गति असलमें रजोगुणमें ही होती है। रजोगुणकी वृद्धि होने पर चित्त भागने लगता है। चंचल होता है। तमोगुण होनेपर भारी पड़ जाता है तब सुषुप्ति होने लगती है। स्फूर्त्ति भी नहीं रहती। सत्त्वगुण होनेपर प्रशान्त वाहिता होती। प्रसन्नता रूप परिणाम होता है।

प्रशान्तवाहिता कैसे होगी ? उत्तर है तदर्थ प्रयत्न करो, वीर्य संपादन करो, उत्साह रखो। हमेशा प्रसन्न रहनेका प्रयास करो तो

चित्त प्रसन्न होगा। यह प्रयत्न साध्य है। विधारण प्रयत्न माना गया है। भारी आपत्ति आने पर भी चित्तका विधारण करना। थामके रखना। विपरीत विचारके आनेपर उस वृत्तिको उठने न देना। बार बार वृत्ति बंदरकी तरह उठेगी। विधारण प्रयत्नसे-हटाना पड़ेगा। यही प्रयत्न है। उसके साथमें वीर्य चाहिये। वीर्य माने वीरता। धैर्य। धैर्य एवं सहिष्णुता परम आवश्यक हैं। वीरका अर्थ है पराक्रमी। **"शूरवीर विक्रान्तौ"** ऐसा धातु पाठ है। पराक्रमके बिना राजा शत्रु पर विजय नहीं पा सकता। पराक्रमके बिना लक्ष्य स्थान पर्यन्त यात्री पहुंच नहीं सकता। हिमालयकी चढ़ाई चढ़नेके लिये पराक्रमशील होना चाहिये। यह बाह्य पराक्रम है। वैसे आन्तर पराक्रम भी होता है। कामादि शत्रु विजयके लिये आन्तरिक वीरता चाहिये। आत्मा पहाड़ है, उस पर चढ़नेके लिये पराक्रमी होना चाहिये।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

बलहीनको आत्मा प्राप्त नहीं होता। कौनसा बल? शरीर बल? नहीं। मनोबल चाहिये। मन पराक्रमशील हो तो ही आत्म प्राप्ति हो सकती है। वीर्य तभी संभव है यदि पूर्व श्रद्धा हो। इसी-लिये **"श्रद्धावीर्यस्मृति"** सूत्रमें वीर्यसे पूर्व श्रद्धाका परिगणन किया। इन दोनोंके साथ आवश्यक है—उत्साह। उत्साह हो—उमंग हो। मनका यह भी एक गुण है। सफलता दीख पड़े या न पड़े तो भी उत्साह भंग न होना चाहिये। इस प्रकार वीर्य तथा उत्साहसे प्रयत्न करना चाहिये। किसी कार्यमें उत्साह न हो तो प्रयत्न शिथिल हो जाता है। वीरता न हो तो भी प्रयत्न निकम्मा हो जाता है। सुदृढ़ प्रयत्न हो, एतदर्थ ये दोनों विशेषण व्यासजीने दिये ये पर्याय नहीं है। यह प्रयत्न भी साधनानुष्ठानसे ही सम्पन्न होता है। अतः **"तत्संपिपादविषया तत्साधनानुष्ठानं"** ऐसा आगे भाष्यमें कहा। यहां प्रकृतमें "यततः" केवल प्रयत्न अर्थ है। सो भी स्थितप्रज्ञताके

लिये होनेसे "स्थितौ यत्नः" यह अर्थ प्राप्त है। मामूली यत्नसे संभव न होनेसे प्रकृष्ट यत्नरूपी प्रयत्न अर्थ समझना भी आवश्यक है। फल पर्यवसायी होनेके लिये सहकारी रूपसे वीर्य तथा उत्साह भी सहकारीके रूपमें ग्राह्य हैं। इन दोनों सहकारियोंके साथ स्थित्यर्थ प्रयत्न करना ही यहां "यतत:" शब्दका अर्थ है।

विपश्चितः। तीन प्रकारके ये प्रयत्न बताये गये। इन प्रयत्नोंका परिणाम है विपश्चित् बनना। इसीको पूर्व श्लोकमें "परं दृष्टवा" से भी बताया। "विशेषण पश्यति" "विशेषं पश्यति" "विप्रकृष्टं-पश्यति" "विप्रकृष्टं चिनोति" ऐसे विग्रह इस शब्दके दिखाये गये हैं। पाणिनीय व्याकरणमें पृषोदारादि गणमें इस शब्दकी गणना है। श्रवण मनन निदिध्यासनसे विशेष दर्शन होता है। वैसे तो हमेशा ही आत्माका दर्शन होता है किंतु सामान्य दर्शन मात्र होता है। यह विशेष दर्शन क्या है? अशेषविशेषा भाव ही विशेष है। इस समय आत्माका दर्शन मनुष्य रूपेण, देवदत्त रूपेण, पण्डित-रूपेण अर्थात् कुछ न कुछ मिथ्या विशेषणोंको जोड़कर आत्माका दर्शन हो रहा है। श्रवण मनन निदिध्यासन से इन मिथ्या विशे-षणोकी व्यावृत्ति हो जाती है।

नाहं मनुष्यो न च देव यक्षौ
न ब्राह्मण क्षत्रियवैश्यशूद्राः
न ब्रह्मचारी न गृहो वनस्थो
भिक्षुनंचाहं निजबोधरूपः ।

यह है अशेषविशेष त्याग। निर्विशेष रूपसे आत्माको देखना यही विशेषात्मदर्शन है। यही आत्माकी विशेषता है कि उसमें कोई विशेषता नहीं है। "हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः" ऐसा कहकर नारदजी दर्शनकी विशेषता क्या कह रहे थे? विशेष का अदर्शन ही :—

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥

अपार प्रेम उद्भूत हो गया। शरीरमें रोमाञ्च होने लगा। अत्यन्त परम शान्ति प्रतीत होने लगी। सारी थकावट दूर हुई। आनंद सागरमें डूबकी लगाने लगा। और—नापश्यमुभयं दोनोंको नहीं देखा। किन दोनोंको नही देखा ? बाह्य और आभ्यन्तर दोनोंको नहीं देखा, इतना ही नहीं। हरि और मैं इस प्रकार उभयको नहीं देखा। द्वैतभाव मिट गया। उभय माने द्वैत दृश्यभाव मिट गया। जैसे सागरमें मिलकर नदी तद्रूप हो जाती है वैसे मैं स्वयं आनन्द सागर हरिमें डूब गया और एक हो गया। द्वैत विशेषादर्शन ही यहां हरि दर्शन बताया गया है। 'नापश्यमुभयं'। दोनोंको मैंने नहीं देखा। धारणा ध्यान समाधि साधनासे भी यही विशेष दर्शन होता है।

'विप्रकृष्टं पश्यति' इस अर्थ पक्षमें ऐसा यहां भावार्थ है कि परमेश्वर हमारे लिये विप्रकृष्ट हो गया है, दूर हो गया है। अनादि माया समाच्छादित जीव अपनेको परमेश्वरसे बहुत दूर समझता है। वैकुण्ठ गोलोकादिमें भगवान है। अरबों खरबों माईल दूर उस परमेश्वरको देखना असभव समझते हैं, किन्तु यत्न रूपी साधना करने पर विप्रकृष्टका भी दर्शन होने लगता है। वही विप्रकृष्ट हृदयमें दीखने लगता हैं। "विप्रकृष्टं चिनोति" विप्रकृष्टको चुनकर पासमें कर लिया।

वस्तुतः 'विपश्चित्' का अर्थ है—"विशेषेण पश्यति चिनोति च" विशेष दर्शन होता है और चयन—संग्रह भी होता है। वि+पश्+चित् ऐसी संधि है। श्रवणादिसे, धारणादिसे और चित्तकी प्रशान्त वाहिता संपादनसे परमात्माका विशेष दर्शन होता है। तीनोंका अन्तिम परिणाम द्वैत रहित एकाकार वृत्ति प्रवाह है। द्वैत हो तो निदिध्यासन क्या ? समाधि क्या ? और प्रशान्तवाहिता क्या ? द्वैत होने पर जैसे बंदर एक डालीसे दूसरी डाली पर कूदता है वैसे एक वस्तुसे दूसरी वस्तु पर मन कूदेगा ही। मनका यह कूदना जारी रहा

तो प्रशान्त वाहिता किस बातकी ? अतः तीनों ही पक्षमें अद्वैत निश्चित है।

इन तीनोंमें अन्तर कितना, इतना थोड़ी गहराईसे समझ लो। वेदान्त रीतिसे श्रवणादि कर रहे हैं तो आत्माका दर्शन हो रहा हैं उसमें परिच्छेदापादक द्वैत की निवृत्ति होती है अर्थात् त्वं पदार्थं शोधन प्रधान मार्गसे चलता है। धारणा ध्यानादि जो भक्तिपक्षसे हमने अभी बताया उसमें ध्येय चिन्तन करते-करते ध्याता-ध्यान छूट जाते हैं। ध्येय तत्पदार्थं परमेश्वर है। अर्थात् तत्पदार्थं शोधन प्रधानात्मक मार्गसे चलता है। योगमार्ग है चित्तकी प्रशान्त वाहिता। इसमें न त्वं पदार्थ पर जोर है और न तत्पदार्थ पर। अतः असि पदार्थ प्रधान रूप मार्ग यदि कहना चाहे तो कह सकते हैं। अर्थात् चित्त को ही प्रशान्त कर द्वैत भाव मिटाया। गायब कर दिया। तब स्वत एव चित्त अद्वैत दर्शन करने लगा। यही विशेषण पश्यति इतन अंशका अर्थ है।

विशेषण पश्यति चिनोति च। विशेषण चिनोति। विशेष रूपसे संचयन भी किया। किसका ? जो दर्शन किया उसके परिणाम का। वह क्या ? पहले हम बता आये—तज्जः संस्कारः। ब्रह्म दर्शन करके ब्रह्म दर्शन जन्य संस्कारका संचयन भी किया। यह संस्कार क्या करेगा ? यह पहले हम बता आये। यह पूर्व संचित विपरीत संसार संस्कारोंको नष्ट करना है। प्रतिदिन आप श्रवण करते हैं, मनन निदिध्यासन भी करते हैं तो ब्रह्म संस्कार संचित हो रहे हैं। अमुक श्लोक पर ब्रह्मके बारेमें यह बात बतायी। ऐसा स्मरण आपको होता है या नहीं ? या "यच्छ्रुत तद्गुरवे निवेदितं" के अनुसार पल्लड़ झाड़ करके जाते हैं ? सुनकर ब्रह्म संस्कार लेकर जाते हैं। ब्रह्म संस्कार हमारे अन्दर संचित हो रहे हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। आपका श्रवणादि वृथा हो हा नहीं सकते। ये संस्कार जन्म-जन्मान्तर पर्यंत चलेगा—"अनेकजन्मसंसिद्धः" यह कथन तभी तो

सार्थक है जब पशु-पक्षी आदिके भी संस्कार नष्ट नहीं होते, संचित रहते हैं तो ब्रह्म संस्कारको क्यों न संचित हो। बल्कि अन्तमें बुद्धि अन्य संस्कारोंको छोड़ बैठेगी, ब्रह्म संस्कारको ही रखेगी।

पुरुषस्य। यतत और विपश्चितःके बीचमें विशेषण है पुरुषस्य। पुरुष शब्द पौरुष सूचित करनेके लिये है। जो पुरुषार्थ करता है, जो पुरुषार्थी है वही पुरुष है। हम विपश्चित् बनेंगे तो कैसे बनेंगे? जब पुरुषार्थी होंगे। भगवत् दर्शन किसका फल है? पुरुषार्थका, या भगवत्कृपाका अथवा प्रारब्धका फल है? कुछ लोग प्रारब्धका फल मानते हैं। दूसरे पुरुषार्थका फल मानते हैं। भक्त लोग भगवत्कृपाका फल मानते हैं। कर्मी लोग प्रारब्धका फल मानते हैं। योगी पुरुषार्थ-का फल मानते हैं। भक्त भगवत्कृपाका फल मानने हैं। भगवानकी मर्जीके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। वेदान्तका सिद्धांत क्या है? उत्तर है—इन तीनोंकी आवश्यकता है। प्रारब्ध, पुरुषार्थ और ईश्वरकृपा, इन तीनोका फल विपश्चित्त्व है, ब्रह्म दर्शन है। भगवानने गीतामें कहा है—"अनेकजन्मसंसिद्धः" "बहूनां जन्मनामन्ते" इसका मतलब क्या? कुछ जन्म यूं ही बिना मतलब बिताना पड़ेगा? नहीं। बहुत जन्मोंका अभ्याम एवं पुण्य संचय आवश्यक है। बहुत जन्मका अर्थ? हजार-पांच सौ कितना? सभी हो सकता है। हजार-पांच सौ लाख करोड़ जन्मकी जरूरत हो सकती है। दस-पांच-चार भी बहुत जन्म है। न्यूनतम तीन जन्म है। संस्कृतमें बहु कहनेस दो से काम नहीं चलेगा। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन ऐसे तीन वचन हैं। बहुवचनमें न्यूनतम तीन हैं और अधिककी सीमा नहीं है, तो तीन जन्म न्यूनतम लीजिये। तीन जन्मका पुरुषार्थ तो चाहिये ही। पहले जन्ममें पुरुषार्थ किया। उसका उपयोग दूसरेमें और पहले दूसरे दोनों जन्मोका पुरुषार्थ मिलकर तीसरे जन्ममें पुरुषार्थको पुष्ट करते हैं। परन्तु पहले जन्मका पुरुषार्थ दूसरे जन्म तक प्रारब्ध कहलाने लगता है। तीसरे जन्ममें

पहले दूसरे जन्मोंके पुरुषार्थ प्रारब्धरूप हो जाते हैं। अर्थात् इस भगवत् वचनसे ही सिद्ध होता है—प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही चाहिये। असलमें जो हमने पूर्व जन्मोंमें पुरुषार्थ किया है वही इस जन्ममें प्रारब्ध रूपसे आया है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये दोनों तो चाहिये ही। उसमें फिर भगवत् कृपा भी आवश्यक है। प्रश्न होगा कि भगवत् कृपासे या प्रारब्धसे ही सब कुछ होता है—दाने-दानेपर नाम लिखा रहता है तब पुरुषार्थका क्या मतलब ? उत्तर है—भगवान भी कर्मानुसार ही कृपा करते हैं।

"वैषम्यनेर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्"

इस प्रकार व्यासजीने भी बताया है। भगवानकी दया तो हमेशा है हो, परन्तु वह कर्मानुसार ही अभिव्यक्त होती है। अतः पुरुषार्थ करना चाहिये। प्रत्यक्ष है कि—

"न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखं मृगाः"

भले ही सिंह भी क्यों न हो, फिर भी पुरुषार्थ करना पड़ेगा। सोये हुए सिंहके मुंहमें स्वयं हरिण आकर प्रवेश नहीं करेंगे। प्रत्यक्षतः पुरुषार्थकी आवश्यकता सिद्ध है। कहीं-कहीं अपने आप उपस्थित होना है। तर्कसे तो प्रारब्ध या भगवत्कृपाकी आवश्यकता सिद्ध होती है। वेदान्त ऐसी स्थितिमें अनिर्वचनीय ही मानता है। तीनोंकी आवश्यकता मानते हुए ही अनिर्वचनीय ही स्वीकार करता है। अतः पुरुषार्थ तो हर हालतमें मान्य ही है। इसी बातको भगवानने यहां "पुरुषस्य" इस विशेषणके द्वारा बनाया।

पुरुषार्थ करना ही चाहिये यह 'यततः' से ही आ गया, तब दुबारा 'पुरुषस्य' कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? आवश्यकता इसलिये थी कि यत्न पुरुषार्थ साधक हो यह भी सूचित करना था। यत्न करो. किन्तु पुरुष होकर यत्न करो। पुरुषार्थको लेकर यत्न करो। सही दिशासे यत्न करो और अवश्यमेव करो, यह अर्थ

बतानेके लिये "यततः" को ही सही दिशा प्रदान करनेके लिये पुरुषस्य कहा। इसका दूसरा प्रयोजन भी है। यह विपश्चितः का भी पूरक है। विपश्चितका अर्थ हमने बताया विशेषेण पश्यति चिनोति च। किसका दर्शन करनेवाला यह बतानेके लिये पुरुषस्य विशेषण है। पुरुषका पूर्ण अर्थ भी हो सकता है। पूर्ण दर्शन करने पर ही मनुष्य पुरुष होता है। अर्थात् यहां किसी पुस्तकका विपश्चित् नहीं, व्यापार-का विपश्चित् नहीं किंतु-किंतु पुरुषोत्तमक विपश्चित् बनना है। सफल विपश्चित् बनना है।

इन्द्रियाणि प्रमथीनि। यततोऽपि, पुरुषस्यापि, विपश्चितोऽपि, ऐसे तीनोंके साथ अपिको जोड़कर व्याख्या कीजिये। यत्न कर रहा है फिर भी, पुरुषार्थमें लगा है फिर भी ब्रह्मदर्शी हो गया है फिर भी, स्वयं पूर्णताका अनुभव कर रहा है फिर भी सावधान रहना चाहिये, क्योंकि प्रथमनशील इन्द्रियां ऐसे पुरुषके मनको भी विषयों-की ओर हर ले जाती हैं।

बड़ी अजीब बात है। क्या जिसने परमात्माका दर्शन किया है, उसका मन भी विषयोंमें फंस सकता है? क्या परमात्म दर्शनके बाद इन्द्रिय दमनकी आवश्यकता रह सकती है? दूसरी ओर प्रथम ही इन्द्रिय सयम किये बिना परमात्माका दर्शन ही कैसे होगा? इसका प्रथम उत्तर यही है कि इसी भगवानके वचनसे सिद्ध होता है कि असयतेन्द्रियको भी परमात्माका दर्शन हो सकता है और परमात्माके दर्शनसे ही कृतार्थता न समझो। इसके बाद भी इन्द्रिय संयम करते रहना चाहिये। संतोंको भी इन्द्रिय संयम करते रहना चाहिये। एक संत थे। उनको मैं जानता था कि ये अखाद्य निषिद्ध वस्तु भी खाते हैं। प्याज, लहसूनसे भी कुछ आगे बढ़े हुए थे। वे अपने समर्थनमें कहते थे, खाने पीनेसे और ब्रह्मसे क्या सम्बन्ध? हमारा ब्रह्म एसा नहीं है कि वह प्याजकी सुगंधिसे उड़नेवाली कोई होम्योपेथिक दवा हो। वे केवल प्याजको लक्ष्य करके नहीं, आगे तक लक्ष्य करके

बोलते थे। खैर, उस विषयमें हमें इतना ही कहना है कि यह इन्द्रिय असंयमका परिणाम है या किसी मजबूरीका ? मजबूरीमें तो विश्वामित्रने श्वमांसका भी ग्रहण किया था। किंतु इन्द्रिय असंयमका परिणाम है तो उसका ब्रह्म ज्ञान सफल नहीं होगा। "हरन्ति प्रसभं मन:" का ही वह विषय होगा।

परंतु जिज्ञासुको इतने कथन मात्रसे संतोष नहीं होगा। ब्रह्म दर्शनके बाद पतन किस प्रकार ? असंयतेन्द्रियको ब्रह्म दर्शन किस प्रकार ? ये दो प्रश्न मनमें बार-बार खटक रहे हैं। भगवत् वचन तो सत्य ही होगा। पर यह बात जमती नहीं है। इसका उत्तर हम यहां स्पष्ट करते हैं। हमने 'परं दृष्टवा' का अर्थ पहले दो प्रकारसे किया था। सविकल्पक समाधिसे साकार परमात्माका दर्शन करना और निर्विकल्पक समाधिसे निराकार परमात्माका दर्शन करना। पुराणोमें वर्णन किया है कि एक बार हिरण्यकशिपु तप करनेके लिये पर्वत पर गया था। वहां हजारों वर्षों तक हिरण्यकशिपुने तप किया। अति घोर तप किया। उसके तपसे ऊपरसे धुंआ उठने लगा। अग्निकी ज्वाला निकलने लगी। देवताओंको भय होने लगा कि इसकी तपस्यासे ही लगता है कि देवलोक जल जायेगा। सभी देवता मिलकर ब्रह्माजीके पास पहुंचे। ब्रह्माजी वहांसे हिरण्यकशिपुके पास गये। और उसको दर्शन देकर तथा वरदान देकर कृतार्थ किया। यहां विचार करो कि ये ब्रह्माजी कौन थे ? यह भी साकार परमात्मा थे कि नहीं ? एक ही परमात्माके ये तीन प्रत्यक्ष रूप हैं—ब्रह्मा विष्ण महेश्वर। हिरण्यकशिपुको साकार परमात्माका दर्शन हुआ तो उस दर्शनसे पहले उसने इन्द्रियोको जीत लिया था ? ब्रह्माके दर्शनके बाद भी इन्द्रियोंने हिरण्यकशिपुके मनको विषयोंमें गिराया कि नहीं ? तब यह शंका कैसे ? कि परमात्मा दर्शनके बाद इन्द्रियां विषयोंमें कैसे फंसती है। अब दूसरा अच्छा उदाहरण लीजिये। हिरण्यकशिपु तो राक्षस था। आप कहेंगे हमारे लिये राक्षसकी

उपमा अच्छी थोड़ी है ? चलो ध्रुवका उदाहरण लो। आपको ध्रुवकी उपमा दा जायेगी तो प्रसन्नता होगी ही। यहां ब्रह्माजीकी भी बात नहीं, साक्षात् नारायणकी बात है। छः महीना घोर तपश्चर्याकर ध्रुवने नारायणका भी दर्शन किया था। केवल साकार नारायणका ही नहीं, अपितु निराकार भगवानका भी दर्शन किया था, यह ध्रुव स्तुतिसे पता लगता है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

यह ध्रुवकी वाणी तो निश्चित रटी-रटाई नहीं थी, क्योंकि ध्रुव पढ़े-लिखे नहीं थे। भगवानके शंख स्पर्शसे केवल वाणी खुली और अंदर जो अनुभव हो रहा था उसका वर्णन किया। ध्रुव क्या बोल रहे थे ? योऽन्तः प्रविश्य—**"तत्सृष्टवा तद्वानुप्राविशत्"** के अनुसार अंदर प्रविष्ट होकर मेरी प्रसुप्त वाणीको संजीवयति—जागत कर रहा है जो सकल जगत्सृष्टि स्थिति संहारात्मक समस्त शक्तियोंको धारण करता है, केवल वाणीको ही नहीं—**"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः"** के अनुसार अन्य भी हस्त चरणादि कर्मेन्द्रियोंको एवं श्रवणत्वगादि ज्ञानेन्द्रियोंको एवं समस्त क्रियाशक्ति रूप प्राणोंको जागृत करता है, उस पुरुषरूपी परमात्माको मैं प्रणाम करता हूं। इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे निराकारका भी वर्णन दीखता है। फलतः ध्रुवने साकार-निराकार दोनोंका दर्शन किया, यह बात सिद्ध होती है। किन्तु क्या इन्द्रिय संयम हो चुका था ? भगवानसे वरदान क्या मांगा ? पिताजीकी गोंदमें बैठनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हो। मुझे राज्य सुख भोग प्राप्त हो, यही वरदान मांगा। यद्यपि भागवतमें वरदानके रूपमें इन

शब्दोंका उल्लेख नहीं है। तथापि भगवानके अन्तर्धान होनेपर ध्रुव-को जो पश्चाताप हुआ, उससे यह बात स्पष्ट होती है। ध्रुव पश्चा-ताप करते हुए बोलने लगे– मैंने कैसी मूर्खता की? मोक्षप्रद भगवान-को प्राप्त होकर मैंने संसार सुखको मांगा। इसके बादकी कथा भी इसी अर्थका पोषक है। उत्तम ध्रुवका भाई था। उसको किसी गन्धर्वने मारा। तो ध्रुवको बड़ा क्रोध हुआ। गन्धर्वोंके साथ ध्रुवका युद्ध हुआ और हजारों लाखों निरपराध गंधर्वोंको मार डाला। तब उनके पितामह मनु महाराजको, जो उसी जंगल में तपस्या कर रहे थे, आकर समझाना पड़ा। उन्होंने ध्रुवको युद्धसे उपरत करवाया यह कहकर कि बेटा! भक्तोंको इसप्रकार हिंसा पर उतरना शोभा-स्पद नहीं है। छत्तीस हजार वर्ष राज्य सुख भोग-भोगनेके बाद अन्तमें उसी इन्द्रिय संयमपर ही ध्रुवको आना पड़ा। अतः यह सिद्ध है कि पर दर्शनके बाद भी इन्द्रिय संयम आवश्यक है। हिरण्यकशिपु उदाहरण क्रोधका है। ध्रुव उदाहरण लोभका है। तीसरा कामका उदाहरण सौभरी है। सौभरि नामके बड़े महर्षि हुए। यमुना जलमें प्राणायामसे पड़े रहते थे। समाधि लगाये रहते थे। समाधिमें पर-ब्रह्मदर्शन करते थे। परंतु इन्द्रिय संयमके अभावसे मान्धाताकी कन्याओंसे उन्होंने विवाह किया और अन्तमें उन्हींको कहना पड़ा—

> "अन्तर्जलेवारिचरप्रसङ्गात्
> प्रच्यावितं ब्रह्म चिरधृत यत्"

पानीके मध्यमें मछलियोंके प्रसङ्गका यह परिणाम हुआ कि बहुत समयसे धृत ब्रह्म मेरा नष्ट हुआ। ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मव्रत, वेदव्रत और ब्रह्मदर्शन यह सब मेरा लुट गया।

इस प्रकारके उदाहरण पुराणोंमें भरे पड़े हैं। वृकासुरने तपस्या कर शंकरका दर्शन पाया था और वह पार्वतीको ही हथियानेके फिकरमें था। इन सब उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि पर ब्रह्म दर्शनके

बाद भी इन्दिय और मनका पतन हो सकता है। एक प्रश्न पहले-वाला रह जाता है कि इन्द्रिय संयमके बिना परमेश्वर दर्शन होता ही कैसे है ? उदारहणोंसे तो स्पष्ट है। हिरण्यकशिपु आदि काई भी इन्द्रियसंयमी नहीं थे। लेकिन इन्द्रिय संयमके बिना भगवत् दर्शन हुआ कैसे ? उत्तर है—भगवद्दर्शनमें तपश्चर्या आदि साधन हैं। उसके लिये नियम पालन मात्र करना चाहिये। नियममें अल्पकालके लिये या जितने दिन तप करते हैं, उतने दिनके लिये इन्द्रियोका संयम रखना चाहिये, इत्तनी ही बात है। अर्थात् अस्थायी संयम तदर्थ पर्याप्त है।

एक प्रश्न और उठता है कि ब्रह्म दर्शन होनेपर ब्रह्मसंस्कार होगा। ब्रह्म संस्कारसे संसार सस्कार नष्ट होगा, तब इन्द्रियां विषयोंकी ओर ले जायेगी कैसे ? वासना ही खलास हो गई फिर इन्द्रियोंकी ताकत क्या ? इसका उत्तर हमारे विवेचनमें ही आ गया है। ब्रह्म संस्कारसे कौनसा संस्कार समाप्त होता है? वर्त्तमान संस्कार या पूर्व संचित चौरासी लाख प्रकारका संस्कार ? ब्रह्मज्ञान प्रारब्ध कर्म को भी नष्ट नहीं करता, प्रारब्ध वासनाको भी नष्ट नहीं करता। किन्तु संचित कर्म तथा संचित वासनाओको ही। सो भी सस्कारोंको नष्ट करता है ऐसा किसने कहा ? सूत्रमें।

"तज्जः संस्कारोऽन्यसस्कारप्रातबन्धी"

इतना ही कहा। प्रनिबन्धी कहा, विनाशी नहीं। संस्कारको अभिभूत करेगा। जैसे किसीको डिसेंट्री हो गयी। धीरे-धीरे वह क्रॉनिक हो गयी। फिर तो उसके लिये दवा देते हैं तो बीमारीके कीटाणु सिर्फ दब जाते हैं। नष्ट नहीं होते। फिर कभी तली हुई वस्तु खायी शादी विवाहमें मिठाई खाई तो फिर शुरु हो जाती है। डाक्टर लोग इसीलिये कोई भी बड़ी बीमारी आती है तो बचपनसे लेकर पूरा इतिहास (हिस्टरी) पूछत हैं। बचपनमें कभी डिसेंट्री हुई कि नहीं ? इत्यादि। होम्योपेथिकवाले अगर हो सके तो पूर्व जन्मकी

बात भी पूछ बैठें। पूर्व जन्म माने माता-पिताको यह बीमारी थी कि नहीं। तात्पर्य यह है कि दवाईसे रोगाणु दब जाते हैं नष्ट नहीं होते हैं। वैसे ब्रह्मसंस्कारसे वर्त्तमान संसार संस्कार दब सकते हैं नष्ट नहीं हो सकते। तब ब्रह्मज्ञान बेकार है क्या? नहीं। डिसेंट्रीकी दवा बेकार नहीं है। दवा नहीं करेंगे, रोगाणुको दबायेंगे नहीं तो आदमी ही मर जायेगा। अतः रोगाणुको दबाना भी अच्छा ही होता है। बार-बार ब्रह्मज्ञान होता रहेगा तो ये ससार संस्कार निरन्तर दबते रहेंगे। क्या इसके लिये सर्वथा नाशक दवा नहीं है? है क्यों नहीं। एलोपैथीसे डिसेंट्री न जाय, पर आयुर्वेदिक ऐसी दवाईयां भी हैं जो उसे जड़ मूलतः नष्ट करें। आयुर्वेदिक विज्ञान बड़ा गहन है। उसमें सब कुछ है। मरेको जिलाने तक की संजीवनी बूटीका वर्णन वहां है। तो डिसेंट्रीकी बात ही क्या? वैसे प्रथम द्वितीयादि ब्रह्म दर्शनसे भले संसार संस्कार नष्ट न हो किन्तु बार-बार दर्शन करनेसे अन्तमें जब असभावना, विपरीत भावना रहित दृढ साक्षात्कार होता है तो संसार संस्कार नष्ट भी होता है। इसीलिये महर्षि पतंजलि ने अन्तमें कहा—

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः"

यहां 'तस्य' का अर्थ है ऋतंभरा प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कार। उससे अन्य संस्कार तो प्रतिबद्ध हो गये। तब बाकी क्या रहा? एक ही प्रज्ञा संस्कार। तब तस्य निरोधे इतना ही लिखना चाहिये था। "तस्यापि" क्यों लिखा? उसका भी निरोध होनेपर" उसका भी अर्थात् दूसरोंका भी। दूसरोंका निरोध तो हो गया, फिर उनको जिलाकर निरोध करनेका क्या मतलब? सूत्र होनेसे यों ही अपि, लिख दिया ऐसा कहा नहीं जा सकता। अत निरोध केवल प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु खतम करना ही है। प्रज्ञा संस्कारसे अन्य संस्कार दब गये। किंतु जिंदा रहे। अन्तमें अन्य संस्कारोंका और प्रज्ञा संस्कार भी निरोध किया तब वह निर्बीज समाधि कहलायी। निर्बीज

समाधि अलग है। निर्विकल्पक समाधि अलग है। निर्बीजमें बीज ही खतम हो जाता है, कुछ बाकी नहीं रहता।

इसका अभिप्राय यही है कि एलोपैथी दवाके समान अन्त तक केवल दबाने मात्रकी ही यह दवा नहीं है। किन्तु अन्तमें निरोध भी होगा। परंतु वह कब? जब इन्द्रियों का भी पूर्ण संयम पूर्ण रूपसे जब तक नहीं होगा तब का ब्रह्मज्ञान पूरा काम नहीं कर सकता। आयुर्वेदमें भी पथ्यापथ्य विचार चलता है। अपथ्यसेवन करने पर दवा निर्वीर्य हो जाती है। इन्द्रिया लोलुपता अपथ्य है। इन्द्रिय संयम पथ्य है। यदि ब्रह्मदर्शनके साथ पथ्य पालन बराबर न किया गया तो—"सर्वं कुञ्जरशौचवत" यही बात लागू होगी। हाथीको नहलाया। परंतु सावधानी नहीं बरती, तो बाहरसे सूंढसे धूल उठाकर वह अपने पीठपर डाल देगा। उसका नहलाना व्यर्थ सा हो जायेगा। इसी प्रकार ब्रह्म दर्शन किया, ब्रह्म संस्कार भी पैदा हुआ; इतर संस्कार दब भी गये। फिर भी विषयेन्द्रिय संयोगसे पुनः बाह्य संस्कार आ जाते हैं तो जो कुछ किया कराया उस पर धूल डाल देते हैं।

प्रमाथीनि। ये इन्द्रियां बड़ी प्रमाथी है। यहां शब्द प्रमाथी है, प्रमादी नहीं। प्रमाथीका अर्थ है—प्रमथनशील। मथन करना अर्थात् मन्थन करनेवाली। जैसे दहीका मन्थन कर लोग जमे हुए अंगको तोड़ देते हैं वैसे ये इन्द्रियां एक मथानी नहीं पांच मथानियां हैं, जमे हुए मन को तोड़ डालती हैं। समाधिमें मन स्थिर हो जाता है। यही जमना है। उसे तोड़ मरोड़कर बाहर निकालती हैं। ये इन्द्रियां बड़ी प्रबल होती हैं। इनका संयमन बड़ा कठिन है। ब्रह्म दर्शनसे भी कठिन इन्द्रिय दमन है। इनमें बड़ा भारी वेग रहता है। जिस ओर उनको रोको उसी ओर वह हठात् जाती हैं। काशीमें रहते समय संतोको एकादशी एक विकट समस्या होती थी। एक ही समय भोजन या फलाहार बनता था। फलाहार करते समय डबल

खाया नहीं जाता था। लेकिन उसके बाद थोड़ी देरमें ही जब याद आ जाती है कि अन्न शामको कुछ मिलनेवाला नहीं है तो दोपहर से ही भूख शुरू हो जाती थी। यह काशीके प्राचीन समयकी बात बता रहा हूं। अर्थात् रसनेन्द्रियको रोकनेका प्रयास एकादशी है तो भूख अधिक लग जाती है। चतुर्थी चन्द्रमा प्रसिद्ध है। भाद्रपद मासमें चौथचन्द्रमाको नहीं देखना चाहिये। यदि किसीने याद न दिलायी तो न भी देखें, किन्तु याद दिलायी तो बार-बार आंखें वहीं जाती हैं। इस लिये इन्द्रियोंको प्रमथनशील बताया। एक बेचैनी आंखमें आ जाती है तो मन उससे मथित होता है।

हरन्ति प्रसभं मनः। प्रसंभं का अर्थ है 'बलात्'—बलपूर्वक। जबर्दस्ती। प्रकृष्टा सभा प्रसभं सभामध्यं। सभाके मध्यमेंसे इन्द्रियां मनको हर ले जाती है। चोर और डाकूमें यही फरक है। चोर चुपकसे हर लेता है, डाकू सभाके मध्यमेंसे भी हर ले जाता है। आदमियोंक मध्यमेसे भेड़ बकरीको हर ले जाता है। वैसी ये इन्द्रिया हैं। सैकड़ों आदमियोंकी सभा लगी हुई है। ब्रह्म विचारोंकी सभा अदर लगी हुई है। अर्थात् अनेकविध ब्रह्म विचार, प्रवचनादिके समय मनमें आ रहे हैं। बाहर भी सभा, भीतर भी सभा। उसी बीचमें घरमें पत्नी, बच्चेका स्मरण हो आया तो वहां भागा। एक जगह मैं प्रवचन कर रहा था, सड़कके किनारे मंदिरमें। वहांसे एक जुलूम, हाथी-घोड़े बाजे-गाजेके साथ निकला। आधे तो उठकर चले गये। आधे तो नहीं गये लेकिन उनके मुख सड़ककी ओर हो गये, मेरी ओर पीठ हो गयी। मैंन सोचा सड़कके किनारे प्रवचन करना खतरेसे खाली नहीं है। यहां मनको इन्द्रियां 'हरन्ति प्रसंभं' सभाके मध्यमेंसे ही हर ले जाती है।

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गाः पुनः पञ्चभिरञ्चितःकिम्

शब्दादि पांच विषयोंमें प्रत्येक विषयके बन्धनसे पांच प्रकारके प्राणी बद्ध हो गये। कौन किस विषयसे ? शब्द विषयसे कुरङ्ग। कुरङ्ग माने हरिण। व्याध हरिणोंका पीछा करनेमें विफल हो जाते हैं तो बांसुरी बजाना शुरू करते हैं।

"व्याधो मृगवधं कर्त्तुं गीतं गायन्ति सुस्वरम्"

दौड़ते हुए हरिणकी गति रुक जाती है। मुड़कर वह देखता है। तब व्याध अति मधुर स्वरसे बजाना शुरू करता है तो हरिण धीरे-धीरे समीप आ जाता है और स्वयं व्याधके बन्धनमें पड़ता है या बाणकी निशानी बन जाता है। यही मनुष्यकी भी दशा है। गीत संगीतकी बात छोड़ो। कोई अपनी प्रशंसा करने लगे तो भी आप उसमें रम जाते हैं। ठग लोग ठगते हैं, प्रथम मधुर वाणी बोलकर प्रशंसा करते हैं। मेरे सामने प्रशंसा करने पर कभी-कभी मैं यही कहता हूं कि दूसरोंके सामने प्रशंसा करो तो श्रोता अधिक आयेंगे, कुछ लाभ लोगोंको भी होगा। नदीके पानीसे नदीको ही सींचो तो क्या लाभ ? परन्तु लोगोंको प्रशंसा बड़ी मधुर लगती है। यही इन्द्रियोंसे मनोहरण है। स्पर्श के लिये हाथीका उदाहरण प्रसिद्ध है। मातङ्ग माने हाथी। हाथीको पकड़नेके लिये बनावटी हथिनीको कुंएके ऊपर कच्ची लकड़ीपर मिट्टी डालकर उसपर रखते हैं। उसके स्पर्श-के लिये हाथी दौड़-दौड़कर आता है और कुएमें गिर जाता है। पुत्र-दार स्पर्श, शीतोष्ण स्पर्श आदि सभी मनुष्यके बन्धनकारी हैं। महाकवि कालिदासने शकुन्तलाका वर्णन किया है। दुष्यन्त वहां आकर गये। उसके स्पर्श विषय चिन्तनसे भूली बैठी थी। महर्षि दुर्वासा आ गये तो उनको पता भी नहीं लगा।

"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"

बड़े-बड़े समझदारोंको भी यह इन्द्रिय समुदाय खींचकर विषयोंमें पटक देता है। पतङ्गा रूप विषयमें फसा। जलती हुई बत्तीके मोहमें उसीमें जा चिपका तो हमेशाके लिये चिपक गया। जलकर खलास हो गया। आज तो रूप सौंदर्यपर ही लोग मर मिटते हैं। गोरा रंग पसन्द करते हैं, परन्तु यह मालूम नहीं उन लोगोंको कि अन्दरसे गोरा होना चाहिये। रावण कितना भारी तपस्वी रहा। उसने शंकरका दर्शन भी पाया, किन्तु रूपपर मोहित हो गया। "अतिरूपेण वै सीता" यह कहावत ही शुरू हो गयी। शब्द मोहित ऋष्य शृङ्ग हुए। स्पर्श मोहित सौभरि हुए। रूप मोहित तो रावण ही क्या? कई-कई ऋषि भी हो गये। भारी तपस्या जहां शुरू हुई वहां इन्द्र तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये अपसराओंको ही भेजता था। उसमें कई ऋषि फंस गये। यद्यपि वे बादमें सभल भी गये, फिर भी फंसे भी कई एक बार। रस विषयमे मछली फंसी। खानेके लोभमें कांटा मुहमें आया। रसमें तो सभी लोग फसे हुए हैं। इसलिये भागवतमें कहा— "जितं सर्वं जिते रसे" रसनाको जीत लिया तो सब कुछ जीत लिया। रास्तेमें चलते समय चाट देखा तो खानेकी इच्छा हुई। पैसा देकर खरीदा और खाते-खाते चलने लगे। महाकवि कालिदासने मूर्खका यह भी एक लक्षण निषेध मुखेन बताया "खादन्न गच्छामि"। मूर्खोंका दर्शन करना हो तो बम्बई चौपाटीमें सड़कोंमें सब देख लो। इसी प्रकार गंध विषयमें भृङ्ग फंसा। कमलकी सुगन्धिमें मस्त होकर वह पड़ा रहा। सायंकाल कमल बन्द हो गया। उसीमें मस्त होकर वह पड़ा है। कोई-कोई रातभरकी मस्तीमें ही मर जाते हैं। एक कविने लिखा है —

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार

कमलकोशमें पड़ा भ्रमर सोचता है कि रात बीतेगी। प्रभात होगा, सूर्योदय होगा, कमल खिलेगा। ऐसा सोच ही रहा था, बीचमें ही एक मदोन्मत्त हाथी आ गया। उस सरोरवरमें उतरा, खेलने लगा। कमल पुष्पको सूंढ़से खींचा और खेल-खेलमें उसे सरोवरमें पटका। फूल भी खतम भ्रमर भी खतम। यह अन्योक्ति है। मनुष्य स्वभावका यह वर्णन है। मनुष्य भी कल्पना करता है आशा करता है। रात्रिर्गमिष्यति—मेरी यह दुःखकी रात कटेगी, दुर्दिन समाप्त होंगे। जीवनका सुप्रभात होगा। मंगलमय प्रभात होगा। भाग्य सूर्यका उदय होगा। तब पङ्कजश्री—लक्ष्मी हंसेगी। धन धान्य सम्पदाकी वृद्धि होगी। इस प्रकार यह मनुष्य सोचता ही रहता है। कल्पना साम्राज्य-में विचरण कर रहा है, आशासुधा महोदधिमें गोता लगा रहा है। उसी बीचमें वह काल गज आया। दे मारा। सब लीला समाप्त हो गयी।

ब्रह्म दर्शन होने पर भी यदि संयम न रखा तो ये श्रोत्र, त्वक् चक्षु रसना, घ्राणरूपा पंचेन्द्रियां मनको बलात् खींच ले जाती हैं और अपने-अपने शब्द स्पर्शादि विषयोंमें ले जाकर पटक देती हैं। इसी कारणसे संहरतेमें दो अंश बताये। दोनों अंशोंकी आवश्यकता है। इन्द्रियार्थोंसे इन्द्रियोंको हटाकर भीतर ले चलना भी चाहिये और अन्दर ब्रह्मका दर्शन करना भी चाहिये। ब्रह्म दर्शनसे संसार संस्कार पहले दबेंगे बादमें नष्ट होंगे। उसके बीचमें इन्द्रिय संयमसे नवीन संस्कारोंके उत्पन्न होने और उनके द्वारा पुरातन संस्कारोंके उद्भूत होनेसे बचेंगे तो ही सफलता होगी। इस प्रकार संहरतेमें दोनों अंशोंकी व्याख्या हुई ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२--६१।।

[उन समस्त इन्द्रियोंका संयमन कर मनुष्य योगयुक्त होकर रहे । जिसके वशमें इन्द्रियां होती हैं वही स्थितप्रज्ञ है]

"यदा संहरते चायं" में संहरण बताया । संहरणमें दो अंश हैं । एक है विषयोंसे इन्द्रियोंका व्यावर्त्तन और दूसरा है "सं" शब्दार्थ ब्रह्ममें स्थापना । इन्द्रियां ब्रह्ममें स्थापित तभी होती हैं । जब चित्त ब्रह्ममें स्थिर होता है तभी चित्त स्वरूपानुकार होता है । विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाना और ब्रह्ममें लगाना, ऐसा भी कह सकते हैं । मनको ब्रह्ममें लगानेका परिणाम है, इन्द्रियों को ब्रह्ममें लगाना । और इन्द्रियोंको विषयोंमें लगानेका परिणाम हैं मनका विषयोंमें लग जाना । ब्रह्ममें मन इन्द्रियोंको लगाने पर ब्रह्म दर्शन होता है । विषयोंमें इन्द्रिय मनको लगाने से विषय भोग होता है । ब्रह्म दर्शनसे प्रज्ञा संस्कार होगा । विषय भोगसे भोग संस्कार होगा । ब्रह्मसंस्का-राधान तथा भोग संस्कार निवर्त्तन दोनोंही आवश्यक हैं । प्रज्ञा संस्कारसे पूर्व संचित संसार कारण वासना अभिभूत होगी । परंतु भोग संस्कार वनता रहा तो प्रमथनशील इन्द्रियां प्रज्ञा संस्कारको भी प्रताड़ित करेंगी । अतः प्रज्ञा संस्कार को निरंतर वर्धित करते हुए ही भोग संस्कारोंको क्षीण भी करना चाहिये । इसी संहरण प्रक्रियाका वर्णन "विषया विनिवर्तन्ते०" "यततो ह्यपि कौन्तेय०" इन दो श्लोकोंमें किया । इन्हीं दोनोंके संपादनार्थ क्रमिक साधन बताते हुए कूर्मोदाहरण प्रदर्शित संहरणका पुनः स्मरण कराते हैं— तानि सर्वाणि । श्लोकमें चार साधनोंका क्रमिक संपादन बताया

गया है। संयम्य, युक्तः, मत्परः, आसीत् इन चार शब्दोंमें संयमन, युक्तता, मत्परता और आसन ये चार बातें बतायी गयी हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य। यह प्रथम सोपान है। इन्द्रियोंका संयमन करो। इन्द्रियों को प्रथम ही नष्ट करने या निर्वृत्तिक बनाने नहीं कह रहे हैं। संयमन करनेके लिये बता रहे हैं। खाने-पीनेमें संयम रखो, बोलनेमें संयम रखो, इत्यादि व्यहार होता है। खाने-पीनेमें संयम रखोका अर्थ यह नहीं कि खाना-पीना बन्द कर दो। बोलनेमें संयम मौन ही नहीं है। संयम माने नियन्त्रण। अर्थात् सत् असत्का विवेक कर असत्को त्यागना, यही संयम है। प्रथम-प्रथम सर्व विषय त्याग संभव नही है, अतः नियमन अर्थात् नियंत्रण मात्र करना चाहिये। यही प्रथम सोपान है। इसी बातको श्रीमद्भागवतमें पहेलियोंके द्वारा समझाया है।

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वाऽसती दादु रकीव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥

इत्यादि अनेक पहेलियां लिखी हैं। दो बिल है। किंतु उनमें सांप नहीं रहते, चूहे नहीं रहते, बताओ वह कौनसे बिल है? यह एक पहेली है। उत्तर है—"बिले बतोरुक्रमविक्रमस्य न शृण्वतः कर्णपुटे"। जिस पुरुषके कान भगवत् कथा श्रवण नहीं करते वे कान ही बिल हैं। पहेलीका तात्पर्य यह है कि ये कान तभी कान कहलाने योग्य हैं यदि इनसे प्रतिदिन भगवत्कथा श्रवण करो। वेदान्त श्रवण

करो। सत्संग श्रवण करो। श्रुति वेदको कहते हैं। उससे सम्बद्ध ही श्रोत्र है। श्रुति सम्बन्ध नहीं हुआ तो बिलमें और श्रोत्रमें क्या फरक ? गुफाके सामने जाकर बोलो तो गुफामें आवाज आयेगी। वहांसे प्रतिध्वनि भी आयेगी। वैसे ही ये कान होंगे।

दूसरी पहेली है—पानीवाला है; तालाब नहीं। मेढक नहीं, टर्राता है। बताओ वह कौन है ? उत्तर है—"जिह्वासती दार्दुरिकीव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथा:"। यही जिह्वा। जिह्वापर पानी है। लेकिन तालाब कहां ? यह मेढक नहीं है, लेकिन टर्राती है। यदि भगवत्कथा गुणगानादि न हो तो उसे टर्राना ही कहा जायेगा। भगवत्कथा बोली, वेदान्त शास्त्र बोलो, यह सब वाणी है, सरस्वती देवी है। बाकी सब टर्राना ही टर्राना है। आप कहेंगे हम शास्त्र नहीं पढ़े हैं, तो कथा कैसे करेंगे ? फिर गाथा कथा आदि तो पंडितों-का काम है, संतोंका काम है। उत्तर यह है कि आप चिंता न कीजिये। यदि आप श्रवणकर घरमें परस्पर विचार करें तो यह भी कथा है। इतना न हो सका तो भगवन्नाम बोलना भी कथा है। भगवानके एक-एक नामोमें कथासार भरा है। कृष्णका अर्थ क्या है ? कर्षति कृषकवत् लोकानिति कृष्ण:। कृषक (किसान) धानको बोता है, पानी खींचकर बढ़ाता है, अन्तमें काटता भी है, वैसे ही कृष्ण भी जगत्‌की सृष्टि करता है, रक्षा करता है और अन्तमें संहार करता है। अत: कृष्ण नाम पड़ा। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि सविशन्ति ये तीनों सृष्टि स्थिति संहार कथा कृष्ण शब्दमें ही आ गयी। "आकर्षति भक्तान्" अर्थ करते हैं तो प्रेमस्वरूप बोध होनेसे भक्ति कथा हो गयी। "यानि नामानि गौणानि" ऐसा विष्णु सहस्त्र नामसे प्रथम पढ़ते हैं। गौण नाम क्या ? जो मुख्य नहीं वे गौण ? नहीं। गौणका अर्थ है गुण प्रयुक्त। गाय चराते थे, इस गुणको लेकर जो नाम हुआ। वह गोपाल गौण नाम है। गौण नाम श्रेष्ठ होता है। करोड़मल नाम और दमड़ी

पासमें नहीं तो वह कैसा नाम। भगवानके सभी नाम गौण हैं। अतएव नाम ग्रहण करना भी कथा गायन है और कहीं अपन ॐ कारका नाम लिया तो बाकी क्या बचा ?

तीसरी पहेली सुनो। रंग-बिरंगा है, इन्द्र धनुष नहीं, खुलना सिमिटता है पर कमल नहीं। देखता सा है पर देखता नहीं, बताओ ऐसी दो चीज। उत्तर है—"बर्हायिते ते नयने" मोरका पंख और मूढ़की आंख ये दो मोर पंख भी रंग-बिरंगा होता है और आंख भी रंग-बिरंगी होती है। मोर कभी पंख फैलाता है, कभी समेटता है। मनुष्य भी पलक बंद करता है, खोलता है। मोर पंख देखो, ऐसा लगेगा कि मानो यह देख रहा है—देखता सा है। किन्तु वह देखता नहीं। वैसे अज्ञानी भी है "पश्यन्नपि न च पश्यति मूढ.' "न स पश्यति दुर्मतिः" ऐसा शास्त्रोंमें बताया है। प्रतिदिन इन आंखोंसे विष्णु लिङ्गदर्शन करना चाहिये। शिवलिङ्ग प्रसिद्ध है। विष्णु लिङ्ग है ? काषायवस्त्र यह विष्णुलिङ्ग है। इसलिये सन्यासीको नमो नारायण कहते हैं। काषायवस्त्र महात्म्यमें कहा है—

"काषाय वस्त्रमात्रेण नरो नारायणो भवेत्"

यह अर्थवादात्मक वचन है। तथापि काषायवस्त्र विष्णुलिङ्ग होनेमें यह समर्थक है। विष्णु मन्दिरमें भगवन्मूर्ति दर्शनादि भी ग्राह्य है। आंखोंसे जो मंगलमय दृश्य देखते हैं वह चित्तमें प्रविष्ट होकर अमङ्गलका नाश करता है यह हम बता चुके हैं।

चौथी एक प्रसिद्ध पहेली है—श्वास ले रहा है फिर भी मुर्दा है, बताओ ऐसे दो को। उत्तर है—श्री विष्णुपद्या मनुजस्तुलस्या जीवञ्छवः। जीवञ्छव यहां धोकनीका नाम है। चमड़ीसे धोकनी बनी होती है। उसे जीवित व्यक्ति नहीं मान सकते। अतः वह शव है, किन्तु वायु लेता है—छोड़ता है। अतः 'जीवित् भी है। इस धोकनीके समान वह मनुष्य भी है जो श्वास लेता-छोड़ता है, किंतु भगवानका

प्रसादपुष्प या संतका प्रसादपुष्प हाथमें लेकर सूंघता नहीं। प्रसादको सूंघनेका विधान है। सूंघनेपर प्रसादका तत्त्व अंदर आता है फिर उसे आप किसी पवित्र जगह फेंक सकते हैं। किंतु न सूंघा तो ऐसे तैसे प्रसादको फेंकना नहीं चाहिये, ऐसा बताया गया है।

इसी प्रकार और भी अनेक पहेलियां वहां बतायी है—"भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्" इत्यादि। इन सब पहेलियोंका तात्पर्य क्या है? तात्पर्य है इन्द्रिय संयम। इन्द्रिय संयमन भी सहसा न शुरू करो और न किसीसे कराओ। प्रथम शुरूआत है सदर्थ ग्रहण। बच्चोंको, लड़कोंको यह न कहो कि सिनेमा मत देखो, रेडियो सिलोन मत सुनो। सिनेमा भी देखो, मंदिरमें भी दर्शन करो। रेडियो भी सुनो, सत्संग कीर्त्तनादि भी सुनो। कुछ दिनों तक यह सिलसिला जारी रहे तो धीरे-धीरे आकर्षण बदलेगा। विषय सुखमें ज्यों ज्यों असारता मालूम पड़ेगी त्यों-त्यों भगवद्भजनादिमें रुचि बढ़ती जायेगी। तब एक-एक करके विषयोंको छोड़ देना चाहिये। गीतमाधुर्य सुननेकी इच्छा है तो कुछ अच्छे कीर्त्तनोंका प्रवचनोंका टेप करके रखो और सुनो। आखिर सिलोन वाले भी तो टेप ही बजाते हैं और क्या करते हैं? उनके पास टेप ज्यादा होगा जिससे पुनरावर्त्तिमें काफी समय बीत जाता होगा। सौन्दर्य प्रसाधन दर्शनेच्छा हुई तो भगवानको खूब सजाकर देखो। माधवबागके लक्ष्मी नारायणको इसीलिये इतना सजाया जाता है। शीतोष्ण स्पर्श सुखके लिये पहले जमानेमें बड़े-बड़े मंदिर पत्थरोंके बनाये जाते थे कि गरमीमें भी वहां पहुंचे तो वातानुकुलित जैसा रहे। साथमें परम शान्ति भी। मनमें स्वयमेव शान्ति वहां पैदा होती थी। नानाविध व्यञ्जन रस आदिके आस्वादनकी इच्छा हो तो एतदर्थ ही पहले जमानेमें दीपावली, अन्नकूट आदि उत्सव मनाया जाता था। वैष्णवोंमें छप्पन भोग मनोरथ भी चल पड़ा था। भले आज उसका स्वरूप दूसरा हो गया हो। गन्धाभिलाषा होती है। इसलिये

मंदिरोंमें तथा पूजा स्थानोंमें अगरबत्तियां जलायी जाती हैं, धूप जलाते हैं, सुगन्धित हार आदि पहनाते हैं, इत्तर चढ़ाते हैं। ये सब संयमनके ही तरीके हैं प्रकार हैं। इस प्रकार प्रथम बाह्य विषयोंके साथ भगवद्विषयको जोड़ा। फिर बाह्य विषयोंको छोडकर केवल भगवद्विषयपर आये।

यम शब्दसे अनेक शब्द होते हैं। एक यम नियममें प्रसिद्ध यम है। नि उपसर्ग जोड़ने पर नियम है। 'उत्' उपसर्ग जोड़नेपर उद्यम होता है। सं उपसर्गसे संयम होता है। समन्ताद् यमनं संयमः। जिसमे उद्यम, नियम एवं यम तीनों आ जाते हैं। उद्यमका अर्थ है बार-बार तदर्थ प्रयत्न करना। सैकिल पर चढ़नेके लिये एक पांव पेडल पर रखा फिर दूसरे पांवको कुछ दूर तक ऊपर नीचे करना पड़ा तब सैकिल पर चढ़ते हैं। बड़ी उद्यम है। ऊपर-नीचे करना धारणाके बराबर है। धारणा तो मनकी हाती है। यहां इन्द्रियोंकी बात चल रही है अतः धारणाके बराबर कहा। उसके वाद नियम है। नियममे एकतानता होती है। यह ध्यानस्थानापन्न है। प्रथम उद्यम फिर नियम नियमका अर्थ है नैरन्तर्येण करना। विच्छद हुआ तो नियम टूट गया, नियम नहीं रहा। सुनते हैं कि प्रथम-प्रथम ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कुछ मोटी बुद्धिके थे। उनको पा० याद नहीं होता था तो पढ़ाईसे निराश हो जाते थे। एक बार वे अत्यन्त निराश हो गये। एक कुंएके पास पहुंचे। पता नहीं वहां क्यों पहुंचे। हो सकता है निराशा बढ़जानेसे कुंएमे गिरकर आत्महत्या करनेकी इच्छा हुई हो। क्योंकि बच्चोंको आत्महत्याकी बात जल्दी सूझती है। कुएके किनारे पहुचे तो वहां माइयां पानी खीचकर ले जा रही थी। एक लम्बा पत्थर कुंएके किनारे था। उसीसे रस्सी उतारकर, उसी परसे ऊपर पानी खींचती थीं। पानी भरक वे चली गयी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उस पत्थर पर आकर देखने लगे तो आश्चर्य हुआ। रस्सी खींचते रहनेसे पत्थर घिस गया था। लकीरें हो गयी

थीं। विद्यासागर सोचने लगे—कहां मुलायम रस्सी और कहां यह कठोर पत्थर। फिर भी देखो रस्सीसे पत्थर घिस गया है, तो क्या इसी प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे मेरी बुद्धि घिसेगी नहीं? मैं निरन्तर पढूंगा। मुझे विद्या आयेगी। वहांसे शिक्षा लेकर जो वे पढ़नेमें लगे परिणाम यही हुआ कि वे विश्व विख्यात विद्वान् बने। प्रकृतमें भी संयम कार्य नियम पूर्वक हो तो ही सफलता होती है। कहीं संयम सप्ताह मनाया। सात दिन तक साधना की। फिर छोड़ दिया तो क्या फायदा? संयम सप्ताह संत लोग कहीं मानते हैं तो साधना प्रारम्भ करानेके लिये। फिर घर में आकर उसे चालू ही रखें।

यहां तक हमने यह देखा कि इन्द्रियोंके संयमनका प्रकार हुआ कि प्रथम असद्वर्ती इन्द्रियोंको सत्से मिलावे। कुछ दिन सत्-असत् दोनों चलने दें। फिर असत्को धीरे-धीरे कम करें और अन्तमें पूरी तरहसे असत्को मिटावें। केवल सदर्थ ग्राही बनें। इसीको उपनिषद्में आहार शुद्धि बतायी है। उसका फल है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः

आहारका अर्थ हम पहले कह आये हैं। केवल रोटी आदि भोजन ही आहार नहीं है। किन्तु 'आह्रियन्ते इत्याहाराः' इस व्युत्पत्तिसे शब्द स्पर्शादि सभी आहार हैं। श्रोत्रका आहार शब्द है। त्वक्का आहार स्पर्श है। चक्षुका आहार रूप है। रसनाका आहार रस है। घ्राणका आहार गन्ध है। इन आहारोंकी शुद्धि करो। फलाहार करो। जो फलात्मक आहार है या फलवान् आहार है उसे करो। वेदान्त श्रवण तत्त्वमस्यादि वाक्य श्रवण ही साधनाका फल है या फलवान् कहो। भगवन्नाम संकीर्त्तनादि श्रवणको भक्त लोग फल ही मानते हैं। यही मानव जीवनका फल है। पशुपक्षी आदि न तो वेदान्त श्रवण कर सकते हैं और न नाम संकीर्त्तनादिका। अतः

यह श्रवण मानव जीवनका फल है। फलवान भी है। उससे तत्त्वबोध तथा मोक्ष होता है। निन्दा स्तुति आदि श्रवणसे दूर रहना और वेदान्त श्रवण आदि करना यही श्रोत्रका फलाहार है। त्वगिन्द्रियका भी फलाहार होता है। अपवित्र व्यक्तिका स्पर्श न करो। अपवित्र व्यक्ति वही है जो मनसे अपवित्र हो। पहले जमानेमें अपवित्र व्यक्तियोंको नहीं छूते थे। अपवित्र विचारवाले अछूत माने जाते थे। परंतु बादमें रूढि होकर एक अछूत जाति ही हो गयी। अपवित्र विचारवानके स्पर्शसे स्प्रष्टामें भी अपवित्र विचार आने लगना था। मन्थरा–कैकेयीकी बात आती है। राम युवराजपद पर अभिषिक्त होने जा रहा है यह समाचार लेकर मन्थरा कैकेयी के पास पहुंची उसका मन बडा ही गंदा था। वही बड़ी स्वार्थी थी। वह सोचने लगी कि मैं कैकेयीकी दासी हूं। राम राजा बनेंगे तो मेरा कोई मूल्य नहीं रहेगा। यदि भरत राजा बने तो लोग कहेंगे कि यह राजमाताकी दासी है। बस, इतना ही उसका स्वार्थ इस तुच्छ स्वार्थके पीछे उसने सूर्यवशको ही उलटनेकी ठानी। इसीसे उसकी नीचना स्पष्ट है। कैकेयी समाचार सुनते ही सोनेकी जंजीर गलेसे उतारकर देने लगी। मंथरा रो पड़ी। कैकेयी पूछती है क्यों इस शुभ समाचारसे रोनी हो? मंथरा कहती है—मैं तेरे बेटेको राजगद्दी पर देखना चाहती थी, लेकिन तू स्वयं मूढ़ है। मंथरा कहती है—चाहे राम राजा बने तो भी मैं दासी, भरत राजा बने तो भी मैं दासी। मैं तो तेरे लिये चिंता में डूबी थी। लेकिन तेरे को स्वयं अपनी चिंता नहीं। उस समय कैकेयीको दया आयी। कैकेयी पीठ थपाकर मंथराको आश्वासन देने लगी, परंतु उसका पीठ थपाना–उसका स्पर्श करना बहुत महंगा पड गया। मन्थराका दुर्विचार कैकेयीमें प्रविष्ट हो गया। इसलिये कहते हैं– अपवित्र विचारवानका स्पर्श न करो। स्पर्श करो गुरुचरणोंका, मातापितृ चरणोंका जो पवित्र मनसे आपको

आशीर्वाद दें। यही त्वगिन्द्रियका संयमन है फलाहार है। रूपका फलाहार करो। नेत्रेन्द्रियका संयमन करो। नटीनट नाट्यादि दर्शन को धीरे-धीरे छोड़ना चाहिये। दिन भर शुभ दृश्य ही देखें ऐसा तो संभव नहीं है। हां, शुभ दृश्य ही अंदर प्रवेश करे। अशुभको अपेक्षा बुद्धिसे अंदर प्रवेश करनेसे रोकें यह संभव है। शुभ दर्शनके लिये हमेशा प्रयास करते रहना चाहिये। प्रातः काल किसी अशुभ व्यक्ति या अशुभ वस्तु का दर्शन मत करो। कमरेमें भगवान का फोटो रखो। तपस्वियोंका फोटो रखो। आजकल नहीं नट चित्रका दर्शन प्रातः करते हैं। सुबहसे ही अशुभ दर्शन प्रारंभ हुआ तो फिर आगे दिन भरकी कैसी बात होगी? समझ लो। प्रातः मंदिरमें भगवानका दर्शन करो। संत दर्शन करो। यही जीवनका फल है। फलाहार है। संयम है। इस पर हम पहले कह चुके हैं। "जितं सर्वं जिते रसे" केला, मोसंबी आदि फलाहार हैं। क्योंकि इन सबमें सत्त्वगुण अधिक है। किन्तु रोजका भोजन यदि पवित्रताके साथ बनाया जाय तो वह भी फलाहार ही के बराबर है। यह भी संयम है। गंधमें कम लोग फंसते है। इसलिये उस पर अधिक विचार नहीं किया। उसमें सात्त्विकादि विषय विचार आसान है।

इस प्रकार आहार शुद्धि हो तभी सत्त्वशुद्धि हो सकती है। सत्त्वशुद्धिका अर्थ है अन्तःकरणशुद्धि। अपवित्र आहारसे मनभी अपवित्र होता है। "जैसा अन्न वैसा मन" यह प्रसिद्ध है। अन्तः-करणमे रजोगुण और तमोगुणने अड्डा जमाया है। घनीभूत मैलके समान दोनों स्थित हैं। उनका शिथिलीभाव आहारशुद्धिसे होता है। फिर पवित्र विचारोंका उदय होता रहे तो उन दोनोंका अपनयन होगा और सत्त्व शुद्ध होगा। सत्त्वशुद्धिका परिणाम है ध्रुवा स्मृतिः। अन्तःकरण पर तमोगुणका परदा आ जाता है तो विस्मृति होती है। विस्मृति दो प्रकारकी होती है, एक बाह्यार्थ विस्मृति

दूसरी अन्तरार्थ विस्मृति। इसलिये तमोगुणावरण भी दो प्रकारका है, एक बाह्यावरण रूप और दूसरा आन्तरावरण रूप। ब्रह्मज्ञानी भी सोते हैं, तो क्या सुषुप्तिसे वे तमोगुणी हो गये? ब्रह्मज्ञानीको भी कभी कोई एक्सिडेंट हो जाय तो मूर्च्छा होती है, तब क्या वे तमोगुणी हुए? मूर्च्छामें ही शरीर भी छूट सकता है। तब क्या ब्रह्म स्मरणके अभावमें वे मुक्त नहीं होंगे? उत्तर सबका एक ही है। आवरण दो ढंगका होता है। एक बाह्य आवरण और दूसरा आभ्यन्तर आवरण। ऋषिकेश कैलासाश्रममें एक बड़े संत हुए स्वामी विष्णुदेवानंदजी महाराज। अन्त समयमें वे कई दिनों तक मूर्च्छित पड़े रहे। वाणी बिल्कुल बंद थी। चार दिन बीत गये तो लोगोंने समझ लिया कि अब अंत समय आ गया। एक दिन अचानक बोल उठे। उनकी सेवामें एक महात्मा थे, उनको कहा, देखें! सारा जगत ब्रह्म है, यह याद रखना। सेवकने सोचा, महाराज बोलने लगे, अब ठीक हो जायेंगे। किन्तु फिर मौन हो गये। आधे घंटेके बाद बोले, अरे देख! याद रखना, एक ही ब्रह्म है 'एकमेवाद्वितीयं"। महात्माने समझा, महाराज होशमें है, सोच-सोचकर बोलते हैं। और महात्माओंको खबर दी। कई महात्मा पासमे आये, किन्तु निराशा होना पड़ा। तीन दिन और रहे, फिर ब्रह्मलीन हुए। यह कोइ पुरानी घटना नहीं कह रहा हूं, नयी प्रात्याक्षक घटना है। अब प्रश्न यह है कि वे महाराज बेहोशीमें थे या होशमें? उत्तर स्पष्ट है -स्पष्टतर है कि बाहर बेहोश थे। भीतर होशमें थे। होशका अर्थ स्मरण मात्र नहीं। उद्बुद्ध सस्कार, अनावृत सस्कार भी होश है। बाहरकी बेहोशीसे कोई मतलब नहीं। ध्रुवा स्मृतिका अर्थ है, ध्रुव आत्मा है, उस आत्मविषयक स्मृति ही ध्रुव स्मृति है ध्रुव स्मृतिसे सर्व ग्रंथ विप्रमोक्षण है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः इत्यादि प्रयोज्य प्रयोजक भाव कथन मात्र है। किंतु आहारशुद्धि मात्रसे सत्त्व शुद्धि ध्रुवा स्मृति आदि अपने

आप नहीं होंगी। उसके लिये बीचमें साधनान्तर भी है। उन्हीं साधनोंको यहां पर गीतामें—"संयम्य युक्त आसीत् मत्पर" से बताया। इन्द्रिय संयमनमें प्रथम आहार शुद्धि है। फिर विषयानाहरण है। "निराहारस्य देहिनः" जो पहले आया। निराहारताकी त्रिविध व्याख्या हम कर चुके हैं। सर्वथा सुनना, देखना, खाना आदि बंद करना ही निराहारता नहीं। किन्तु पूर्वोक्त तीनों निराहारता समझ लेनी चाहिए। किसी भी निराहारता तक पहुंचना यही पूरा संयम है। इसके बादकी प्रक्रिया है -युक्त आसीत्। युक्त का अर्थ कुछ लोग करते हैं—समाहित=समाधि युक्त। दूसरे कहते हैं समाधि कहते हो तो तीनों कहो धारणा ध्यान समाधि। तीसरे महापुरुष कहते हैं तीन तक पहुंच गये तो अष्टाङ्ग योग पूरा लेनेमें क्या हानि? अस्तु। जो भी मत हो परस्पर विरोध नहीं है। केवल समाधि भी योग शब्दार्थ है। धारणा, ध्यान समाधि भी योग शब्दार्थ है। अष्टांग योग भी योग शब्दार्थ है। तीनों मतोंमें अन्तमें समाधि आती ही है। इन्द्रियां असंयत रहती हैं तो विषयोंकी ओर चित्त भागता है. तब वह युक्त अर्थात् समाहित नहीं होता। जब विषयोंसे इन्द्रियोंको निवृत्त किया तब आधा काम समाप्त हो गया समझ लो। फिर भी पूर्व संस्कार वशात् चित्त चंचल होगा ही। उसको पूर्वोक्त तीन उपायोंमें किसी भी उपायसे युक्त बनना चाहिये। वेदान्त श्रवण मनन निदिध्यासन करो, या मानस पूजनात्मक धारणा ध्यान समाधि लगावो या "चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः" जो बताया उस स्थितिमें लावो। यही युक्तः का मतलव है। प्रथम इन्द्रिय संयम। "तानि सर्वाणि संयम्य" से बताया। उसके बाद मनः संयमन "युक्तः" से बताया।

मत्परः। इन्द्रिय मनः संयमके बाद मत्परता पूर्ण होती है। इसे चाहे तो बुद्धि संयम कह सकते हैं। **अहमेव पर उत्कृष्टो यस्य स मत्परः**। परमात्मा ही पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जिसके लिये हो वही मत्पर है। मीरा कहती थी— मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई

यही मत्परता है। इस मत्परतामें अनेक श्रेणियां है। प्रथम परमेश्वर-को जीवनमें लाना चाहिये। प्रातः भगवानका स्मरण, स्नानाद्युत्तर पूजन, एवं सत्संग श्रवणादि जोवनमें लाना चाहिये। इसके बाद उसे जीवनका अङ्ग बनाना चाहिये। जीवनका अङ्ग मतलब—जैसे भोजन जीवन का अङ्ग है, वस्त्र जीवनका अङ्ग है, भोजन और वस्त्रके बिना कोई जी नहीं सकता। बेटीका विवाह, बेटोंका विवाह, पढ़ाना-लिखाना आदि जीवनका अंग है, इसी प्रकार भगवान भी जीवनका अङ्ग बनना चाहिये। जैसे ये सब अनिवार्य हैं, वैसे भगवत्पूजन शास्त्र श्रवणादि जीवनमें अनिवार्य होना चाहिये। अगर आप भोजन वस्त्र लोक व्यवहारके निमित्त संघर्ष करते हैं तो पूजापाठादिके निमित्त भी संघर्ष करें। पुजारियोके लिये पूजा जीवनाङ्ग है किन्तु धन साधनके रूपमें। आपका वह जीवनाङ्ग कर्त्तव्यतासे होना चाहिये। यह दूसरा सोपान है। तीसरेमें मत्परता होती है। जैसे इस समय व्यवहार मुख्य एवं परमार्थ गौण है, वैसे मत्परताकालमें विपरीत हो जायेगा। परमार्थ मुख्य एवं व्यवहार गौण हो जायेगा। यही यहां पर 'पर' शब्दका अर्थ है। यह मत्परता भी दो प्रकारकी है। एक शाश्वतिक है और दूसरी कादाचित्क है।

शाश्वतिक मत्परताका मतलब मीरा जैसे भक्त होकर नित्य भगवत्सेवामें रहना। संत महात्मा शाश्वतिक मत्पर है। शाश्वतिक मतलब, जीवन भरके लिये परमात्माका हो जाना। दूसरा कदाचित्क मत्परता। कभी-कभी भगवत्परायणता। सन्त महात्मा सबको बनना है। वस्त्रसे नहीं। हृदयसे भी नहीं कह रहा हूं। बल्कि सचमुच। भगवत् भजनमें बैठे तो एक घंटा, आधा घंटेके लिये पूरे संन्यासी बनना चाहिये। आप उस समय प्रार्थना तो संन्यासीकी जैसे करते हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव

यह संन्यास श्लोक भी माना गया। 'त्वमेव माता पिता' यहां सबका प्रयोग किया। मेरे लिये माता-पिता कौन रह गये ? भगवान ही माता-पिता बच्चोंके साथ हैं। अब परमात्माको ही माता पिता बनाया। इसी प्रकार बन्धु सखा भी। अर्थात् यहीं स्थूल माता-पिता बन्धु सखादिका परित्याग है—सन्यास है। एव कारसे स्पष्ट संन्यास अर्थ निकलता है। "त्वमेव सर्वं" कहते हुए सर्व संन्यास बताया गया। इसी अर्थका द्योतक वेद मन्त्र प्रैषमन्त्र माना जाता है। भजन कालमें भी यदि इतना संन्यास हुआ तो वह भी बहुत बड़ा भारी त्याग है। यही कदाचित्य मत्परता है परन्तु पूजापाठ क़ालमें भी इतना त्याग नहीं हो पाता। उस समय भी बच्चा गादमें आ गया तो ममता जागृत होती है। तब 'त्वमेव सर्वं' नहीं होना। सर्वंमसे वच्चेका बाध करना पड़ जायेगा। कोई रिश्तेदार आ गया, सेठ आया, आफिसर आया, पता लगा तो पूजापाठ बादके लिये रख देते हैं। क्यों कि मेहमान बाद तक नहीं ठहर सकता। भगवान तो बादमें भी रह सकते हैं। इस प्रकारके पूजनकी हम व्यर्थता नहीं कह रहे। वह भी "अकरणात् करणं श्रेयः" इस न्यायसे उपादेय है। परन्तु उसमें मत्परता नहीं मानी जा सकती। राजा जनकमें मत्परता थी। जब वे स्वाध्यायमें बैठे थे तब मिथिलामें आग लगी। लेकिन टससे मस नहीं हुए। "मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किंचन दह्यते" यह हम पहले भी दृष्टांतमें कह आये हैं। वह है वास्तविक मत्परता।

ये तीन—इन्द्रिय संयमन, योग युक्तता और मत्परता, ऐसी नहीं है कि एकके बादमें ही दूसरा किया जाय। तीनोंका अभ्यास एक साथमें शुरू होता है। क्रमिकता इस बातको लेकर है कि उत्तरोत्तरकी पूर्णता पूर्व-पूर्वसे हाती हैं। वैसे याद तीनों परस्पर सहयोगी हैं कहा जाय तो भी कोई हानि नहीं है। हां इतना अवश्य है कि इन्द्रिय संयम

पूर्ण जैसा लगे तो भी युक्तताकी साधना बाकी रहेगी। युक्तता भी पूर्ण हो तो भी मत्परता बाकी रहेगी। मत्परता यदि पूर्ण हो गयी तो बाकी कुछ अवशिष्ट नहीं रहेगा। युक्तताकी पराकाष्ठा जड़ समाधिमें भी हो सकती है। किन्तु मत्परताकी पराकाष्ठा "अहं ब्रह्मास्मि" इस परिपूर्णतामें ही होता है।

'आसीत्' यह शब्द दो अर्थोंका बोधक है। आसन जमाना कहते हैं स्थिर होने को। इन्द्रियाणि संयम्य, आसीत्, युक्त आसीत्, मत्पर आसीत् ऐसा तीनोंके साथ अन्वय है। इन्द्रिय संयमन कर जमकर बैठो, समाहित होकर बैठो, मत्पर हो जमकर बैठो, हिलना नहीं। स्थिर रहो, ऐसा एक अर्थ है। दूसरा अर्थ है —

"आसीनः संभवात्"

यह अभ्यास आसनपर बैठकर करो। क्योंकि अभ्यास चलते-फिरते नहीं होता। बैठकर ही अभ्यास करना चाहिये। इन तीनोंके लिये आसन स्थैर्य चाहिये। चलते समय पादेन्द्रिय व्यापृति होगी, तब सर्वेन्द्रिय संयम कैसे ? रास्ता देखना होगा, आगे पिछे सुनना होगा, तब सर्वेन्द्रिय संयम कैसा ? मनको भी इधर-उधर लगाना पड़ेगा। समाधि लगाकर सड़क पार करे तो बीचमें ही एक्सिडेंट हो जायेगा। चलते-फिरने समय अपनेको बचाना भी होगा, मत्पर होना मुश्किल है। इस प्रकार किमासीत इस प्रश्नका भी यह उत्तर हो जाता है।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। फ्रण्टियर मेलमें बम्बईसे बैठ गये तो कह सकते हैं कि अब तुम दिल्ली पहुंच ही गये समझ लो। अर्थात् रास्तेपर आ ही गये। किन्तु गाड़ीका चलना अभी बाकी है। वैसे इन्द्रिय वशीकरणके बाद भी युक्तत्त्व एवं मत्परत्त्व बाकी है। फिर भी गाड़ीपर तो चढ़ ही गये हैं। और 'वशे' पदसे वशीकार संज्ञा वैराग्य लिया जाय सो भी "तत्परं पुरुषख्यातेः" सूत्रमें कथित पर वैराग्य लिया जाय तो स्थितप्रदानकी शुरुआत नहीं अपितु शिखर देशमें स्थिति है। इस अर्थसे लक्षणाके बिना ही उत्तरार्धका पुरुषख्यातेः अर्थ स्पष्ट है ॥ ८ ॥

●

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२–६२॥

[विषयचिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उन्हीं विषयोंमें आसक्ति होती है। आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है और कामनासे क्रोध उत्पन्न होता।]

"यदा संहरते चायं" इस श्लोकमें संहरतेमें दो अंश बताया। विषयोंसे व्यावर्त्तन और समब्रह्ममें आधान केवल हठसे विषय व्यावर्त्तन मात्र करेंगे तो रसनिवृत्ति नहीं होगी। और सस्कार वशात् जन्म परंपरा चलती रहेगी। अतः समब्रह्ममें चित्ताधान भी करना चाहिये। उतना ही यदि करते रहेंगे तो भी पूरा नहीं होगा। प्रमथनशील इन्द्रियां विषयोंमें ले जाकर पटकेगी और "सर्वं कुञ्जर शौचवत्" के अनुसार किया कराया ब्रह्म दर्शन व्यर्थ सा हो जायेगा। अतः विषयोंसे इन्द्रिय मनको हटाना और ब्रह्ममें लगाना दोनों आवश्यक है, इतनी बात यहां तक बतायी। अब इससे विपरीत चलनेपर क्या होता है, यह बताने जा रहे हैं। अर्थात् इन्द्रिय एवं मनको ब्रह्मसे हटाया और विषयोंमें लगाया तब क्या होता है ? विषयोंसे मन एवं इन्द्रियोंको हटाकर ब्रह्ममें लगानेका सुफल बताया तो ब्रह्मसे हटाकर विषयोंमें लगानेका कुफल भी तो बताना चाहिये। उसे बताते हुए ही सात श्लोकोंमें उसी इन्द्रिय संहरणका वर्णन विस्तार पूर्वक करने जा रहे हैं। 'यदा संहरते' श्लोकमें तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता बताया। उसके तीन श्लोक बाद उसीका अनुवाद किया। फिर यहां से सातवे श्लोकमें पुनः इसीका अनुवाद होगा। 'यदा-संहरते' यह सूत्र है। विषया विनिवर्त्तन्ते इत्यादि तीन श्लोक

उसीका वार्त्तिक है। ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यादि सात श्लोक भाष्य है।

पुंसः। पुमान् शब्दका यह षष्ठी विभक्तिका रूप है। पुमान् का अर्थ है पुरुष। किंतु मर्द अर्थवाला पुरुष नहीं। यह सामान्य शब्द है। मनुष्य सामान्य वाचक है। विषय चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका विषयोंमें संग होता है। कहनेका अर्थ यह नहीं कि स्त्रियोंके लिये यह बात नहीं है यहां पुरुषका अर्थ मनुष्यमात्र है। परंतु प्रश्न यह है कि 'पुंसः' प्रयोग की यहां आवश्यकता ही क्या थी ? **"विषयान् ध्यायतश्चितं विषयेषु विषज्जते"** इस श्लोकमें "पुंस" के विना ही यही अर्थ बताया है। अतः कुछ विशिष्ट अर्थको हृदयमें रखकर भगवानने यह शब्द प्रयोग किया है। विशिष्ट अर्थ क्या है ? यह व्याकरणसे पता लगेगा। पुमान् शब्द बनानेके लिये व्याकरणमें एक सूत्र है—

"पूञो डुम्सुन्"

"पू" धातुसे डुमसुन् प्रत्यय होता है। हमारे सभी शब्द धातुसे बने हैं। मूल (रूट) धातु होता है। पुमान् शब्द पू धातु से होता है। पू धातुका अर्थ है पवित्र करना। पावन, पवित्र आदि कई शब्द पू धातुसे बनते हैं। 'पुनातीति पुमान्' जो पवित्र करता है, वह पुमान् है। क्या पवित्र करता है ?। देखो—

विभक्तानि केशासृगाद्यानि यस्मा-
दपूतानि यद्योगकाले शुचीनि।
तमात्मानमेकं विशुद्ध स्वभावं
वयं मन्महे पावनं पावनानाम्॥

केश बहुत ही सुन्दर है अच्छे हैं। हम उसको इतनी अधिक मान्यता देत है कि उसे सिर पर उठाकर चलते है। किसीको बहुत अधिक मान्यता देनेकी बात आती है तो सिर पर उठाने की बात

करते हैं। परंतु आप बराबर शॉपमें जायेंगे—नाईके सेलूनमें, वहां कटे हुए बाल पड़े हैं तो क्या सिर पर उसे उठायेंगे ? उसके सामने जाकर प्रणाम करेंगे ? कई जगह सड़कके किनारे नाई बैठते हैं। उस रास्ते पर जाना पसंद नहीं करते। अर्थात् हम कटे पड़े बालको सिरसे क्या पांवसे भी छूना पसंद नहीं करते। जूता, चप्पल पहनकर उसके ऊपर जाते हैं। इसी प्रकार खून है। शरीरमें खून हो तो चेहरा लाल-लाल कितना अच्छा लगता है ? लाल सुर्ख चेहरा कहकर प्रशंसा करते हैं। परंतु कभी थोड़ा हाथ कटे और खून नीचे पड़ा हो तो कितना बीभत्स लगता है ? कसाई खानेके पाससे जाओ जी घबरायेगा।

"स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः"

ऐसा नीति-वचन है। स्थान भ्रष्ट होने पर दांत हैं, केश हैं, नख हैं और नर हैं ये शोभा नहीं पाते। लोग नाखूनको रंगीन बनाते हैं, कई आकारके बनाते हैं। परंतु स्थानच्युत होने पर बीभत्स हो जाते हैं। ये सब अपवित्र हो गये कब ? जब शरीरसे अलग हुए। इन सबको पवित्र करनेवाला कौन है ? शरीर। नहीं। शरीर पवित्र नहीं करता। आदमी मर जाता है तो शरीर रहता है। शरीर पर ही बाल, दांत, नाखून आदि होते हैं तो क्या वे पवित्र होते हैं ? पूरा शरीर ही अपवित्र हो जाता है। अतः कहना पड़ेगा—पवित्र करनेवाला शरीर नहीं, आत्मा है। वस्तुतः केशादि स्वयं अपवित्र हैं। किन्तु आत्माके संयोगसे ये सब पवित्र होते हैं।—यद्योगकाले शुचीनि। वह पावनोंका पावन है। मंगलोंका भी मङ्गल है।

परमात्मा ही परम पवित्र है। स्वयमेव पवित्र है। जैसे सागर स्वयं परमपवित्र होता है। उसीमें से गंगादि नदियोंका बादल वृष्टि द्वारा जन्म है। उसीमें वे विलीन होती हैं। सागर स्नानकी बड़ी महत्ता है। ग्रहण समय, संक्राति समयादिमें सागर स्नान किया

जाता है। यदि सागरमें उतरकर स्नान न कर सके, किनारा यदि बड़ा विकट है तो क्या करें ? बाल्टीमें पानी निकालकर स्नान करें। बाल्टीमें पानी निकालने पर वह पवित्र रहता है या नहीं ? सागरमें डूबकी लगाकर स्नान करनेका और बाल्टीमें निकालकर स्नान करनेका एकही महात्म्य है ? कुछ लोग समानता नहीं मानते। गंगाजीमें डूबकी लगानेके बराबर बाल्टीमें उद्धृत जलसे स्नान करने पर पुण्य नहीं होता। ऐसा मानते हैं। फिर भी उद्धृत जलमें स्नान करने पर भी पवित्रता तो होती ही है। किन्तु बाल्टीमें जूठन पड़ा है, कचड़ा पड़ा है तो ? गटरका पानी उसमें गिर गया हो तो ? तब वह गंगाजल हो चाहे सागर जल, अपवित्र ही होगा। वह पवित्र कैसे होगा ? बाल्टीका अपवित्र जल पवित्र कैसे होगा ? बाल्टीका जल गंगा या सागरमें डालो और बाल्टीको साफ करके उसमें जल भरो। यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तिक सागरोपम परमात्म है। वह स्वयं पवित्र है। बाल्टीके जलके समान जीवात्मा है। यह अंतःकरण बाल्टी है। उसमें उद्धृत जलके समान अवच्छिन्न आत्मा है। वह भी स्वयं पवित्र ही है। किन्तु बाल्टीमें कचड़ा आदि हो तो पानी अपवित्र हो जाता है। वैसे अन्तःकरणमें कामादि दोष हो तो यह जीवात्मा अपवित्र होता है। उसको पवित्र करनेका तरीका है आत्माको परमात्मामें मिलावो और बाल्टी स्थानापन्न अन्तःकरणको धो धाकर कामादि दोषोंसे निवृत्त करो। यदि ऐसा न किया तो पवित्र भी यह आत्मा, नित्यमुक्त भी यह आत्मा पतन क्रमसे अत्यन्त अधम कोटिको प्राप्त होगा। इसी रहस्यको हृदयमें रखकर "पुंसः" कहा। पुंसः पवित्रस्यापि विषयान् ध्यायतस्तत्सङ्गजनितमपवित्रत्वं भवति ऐसा यहां अर्थ है। पवित्रभी पुमान् विषयोंके ध्यानसे संग जनित अपवित्रतासे युक्त होता है।

ध्यायतो विषयान्। स्मरतो विषयान्, चिन्ततो विषयान् इत्यादि नहीं कहा। "ध्यायतः" यह शब्द विशेषार्थक है। "ध्यै" चिन्तयतो

धातुसे धी शब्द निष्पन्न होता है। ध्यै चिन्तायां धातुसे कृदन्त प्रत्यय करते हैं—

"ध्यायतेः संप्रसारणं च"

इस वचनसे 'य' को ई होता है तो धी शब्द बनता है। धी माने बुद्धि। बुद्धिपर विषयोंका जब प्रभाव पड़ता है उस अवस्थाको सूचित करनेके लिये "ध्यायतः" कहा। बुद्धि पर विषयोंका प्रभाव कब पड़ता है? यह हम पहले भी बता चुके हैं। इन्द्रियोंका अर्थोंके साथ प्रथम संयोग होता है। इसको संनिकर्ष कहते हैं। इससे इन्द्रियोंमें वृत्ति पैदा हो जाती है। बादमें मनमें भी वृत्ति उत्पन्न होती है। विषयाकार इन्द्रिय वृत्ति और इन्द्रियवृत्याकार मनोवृत्ति होती है। केवल वृत्ति ही नहीं होती, किंतु इन वृत्तियोंपर विषयोंकी छाया पड़ती है। "गृह्णाति विषयच्छायाम्" प्रथम विषयकी छाया इन्द्रियों पर आती है, फिर बुद्धि पर आती है।

छायाके पड़नेके भी दो प्रकार बताये। एक छाया दर्पणपर पड़ती है, दूसरी फिल्मपर—नेगेटिव पर। दर्पण पर छाया (प्रतिबिंब) पड़ती है, किन्तु वहां वह चिपकती नहीं है। नेगेटिव पर छाया पड़ती है तो वहां वह चिपक जाती है। क्यों? नेगेटिव पर एक ऐसा मसाला होता है, जिससे छाया उसपर चिपक जाती है। वह मसाला दर्पण पर नहीं होता। इसी प्रकार हमारे चित्त पर भी एक मसाला रहता है—एक रसायन रहता है। उसका नाम है—रस। रस ही रसायन है। यह रसायन बाहर निकलता है तो छाया चिपक जाती है। यह रसायन जब बाहर नहीं निकलता या अल्प निकलता है तो या तो चिपकती नहीं, यदि चिपकती भी है तो आभासमात्र। भगवानकी सृष्टि विलक्षण है। नेगेटिव पर उस रासायनका बाहर निकलने न निकलनेका प्रश्न नहीं रहता। वहां नित्य निकला ही रहता है। जैसे स्रोतमें पानी। परंतु मनमें यह रसायन कभी प्रकट होता है, कभी सूखता है। जैसे शरीर पर पसीना, मुंहमें लार। कभी

पसीना प्रकट होता है, कभी सूख जाता है। जब पसीना प्रकट हो, तब धूल उड़ तो सारी धूल शरीर पर चिपक जाती है। किन्तु पसीना प्रकट न हो तो धूल चिपकती नहीं। वैसे मनपर रस प्रकट हो तब छाया चिपकती है और रस प्रकट न हो तो दर्पण पर छायाके समान आकर चली जाती है। जब विषय छाया चिपक जाती है तब चित्त विषय दूषित होता है। जैसे पसीना होने पर धूली उड़े तो शरीर धूलि धूसरित होता है।

पश्यतो विषयान् या स्मरतो विषयान् नही कहा। क्योंकि विषय दर्शन तो रस रसायनके अभावकालमे भी हो सकता है। स्मरणमे भी विषयाकार चित्तवृत्ति और तदुत्पन्न संस्कार मात्र होगा। विषय छाया के चिपकनेकी जरूरत नहीं। अतः दोनोको छोड़कर ध्यायतः कहा। धी पर विषयके आनेकी यह बात है। बुद्धिपर विषय तभी आता है, जब रस रसायनसे छाया चिपकी हो। उसी समय ध्यायतः यह प्रयोग भी होता है। ध्यानसे देखा, ध्यानसे सुना आदमे रस रसायनका अस्तित्त्व व्यक्त होता है। इससे विषय छाया बुद्धिपर चिपक जाती है, तब तदुपाधिक आत्मा पूर्व पवित्र होनेपर भी बादमें अपवित्र होता होता है। इसी प्रकार विषय शब्दकी भी सार्थकता है। विषय छाया का चिपकना ही विषय बन्धन है। यही विषण्वान्त निबध्नान्त" इस व्युत्पत्तिका भी सारार्थ है। ब्रह्मसे हटकर विषयको ओर मन जाता है तो प्रथम यही विषय ध्यान होता है। विषयच्छायापन्न चित्त होता है।

सङ्गस्तेषूपजायते। यह सङ्ग क्या है ? आगे बताया है—सङ्गात् संजायते कामः। उस काममें और सङ्गमें क्या फरक ? सङ्गका अर्थ आसक्ति करते हैं। आसक्तिके अन्तर्गत कामना है। इसीके समानाकार श्लोक भागवतमें हैं —

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

जो विषयोंका ध्यान करता है, उसका चित्त विषयोंमें विषक्त-संसक्त हो जाता है और मुझ परमात्माका जो अनुस्मरण करता है उसका चित्त मुझमें ही प्रविलीन होता है। इस श्लोकमें पूर्वार्धमें विषय निर्देश है। उसका प्रतिनिर्देश उत्तरार्धमें 'मां' से कहा। शेष समान होनेके कारण समानार्थक होगा। "ध्यायतः" को 'अनुस्मरतः' से कहा। "विषज्जते" को "प्रविलीयते" से कहा। ध्यान केवल स्मरण नहीं। किंतु अनुस्मरण। स्मरण पर स्मरण अनुस्मरण है। बार-बार स्मरण रस रसायनका ही परिणाम है। विषज्जतेको प्रविलीयतेसे कहा। चित्त विलीन तो नहीं होता—विलीन सा होता है। "स्वरूपशून्यमिव समाधिः" यहां जो स्वरूप शून्यमिव बताया वही प्रविलय है। विषयोंके कारण चित्तका मानो अपना कोई स्वरूप ही नहीं रहता। एक विषयके बाद दूसरा विषय इस प्रकार विषय ही विषय चित्तमें दीखे, यही सङ्ग है। अर्थात् निरन्तर विषयाकारा-कारिता सङ्ग है। विषय ध्यानका परिणाम है—हमेशा विषयका ही स्फुरण होना।

परंतु केवल विषय स्फुरण मात्र सङ्ग न समझना। सङ्गका सम्बन्ध अर्थ है। एक विशिष्ट सम्बन्ध भी है जो कामनाका पूर्व रूप है। उसको शास्त्रोंमें आकर्षण सम्बन्ध बताया है। संयोगादि संबंध नहीं तो आकर्षण सम्बन्ध होना है। विषयोंके प्रति चित्तका आकर्षण ही सङ्ग है। जैसे चुम्बक और लोहेका संयोगादि सम्बन्ध नहीं होने पर भी आकर्षण सम्बन्धसे लाहेमें क्रिया पैदा हो जाती है। इसी आकर्षण सम्बन्धका वर्णन देखिये—

क्व वार्षु पद्मं क्व दिवाकरो दिवि
क्व वा मृगाङ्कः क्व च वारिधिर्भुवि।
स्फुरत्कराकर्षणपारवश्यतो
विवर्धतेऽबिधर्विकचत्युताम्बुजम् ॥

कमल जलमें है और सूर्य करोडों माईल दूरी पर है। दोनोंका भला क्या सम्बन्ध है कि सूर्योदय होने पर कमल खिलने लगता है। चन्द्रमा कहां ? और समुद्र कहां ? दोनोंका कोई संयोग समवायादि सम्बन्ध नहीं है, फिर भी पूर्णिमाकी रातको चन्द्रमा मध्याकाशमें पहुंचा तो समुद्र उमड़ने लगा। शंका करेंगे कि यद्यपि सूर्य और पद्मका संयोग सम्बन्ध नहीं, चन्द्रमा और समुद्रका भी संयोग सबंध नहीं, किंतु सूर्यकी किरणोंका और चन्द्रमाकी किरणोंका सम्बन्ध है। उत्तर है कि बारिशके मौसममें आसमान मेघसे आच्छादित होता है तो क्या कमल खिलेगा नहीं ? पूर्णिमाको समुद्र बढ़ेगा नहीं ? अतः किरणोंका संयोग भी कारण नहीं है। किन्तु— 'स्फुरत्कराकर्षणपारवश्यतः'' आकर्षण ही सम्बन्ध है। गाय ब्याहती है। उसके बाद दिनमें चरने जाती है। सायंकाल चाहे चार मील दूर भी गयी हो तो भी वह वहांसे दौड़-दौड़कर आती है। उनका क्या सम्बन्ध है ? आकर्षण सम्बन्ध है। आप कहेंगे—माता, पुत्र, पति-पत्नी आदिमें भी परस्पर प्यार होता हैं। इसलिये बछड़ेके लिये गाय दौड़कर आती है। अमेरिका इंग्लेंडमें गये बेटेके लिये भी व्याकुलता होती है। परंतु प्रश्न इतनेसे समाप्त नहीं होता। वह प्यार भी किसी संयोग सम्बन्धसे ही हो सकता है। आकर्षण सम्बन्धसे ही प्यार भी होता है। जिसम आकर्षण नहीं, वहां प्यार कहां। प्रथम प्यार भी आकर्षणसे ही होता है। इसलिये विवाहके समय आकर्षणके लिये सजधजकर जाते हैं। प्यार होनेके बाद फिर सजधजकर रहो, चाहे कैसे भी रहो। माताका पुत्रके प्रति यह आकर्षण स्वाभाविक है। कमलका सूर्यके प्रति यह आकर्षण स्वाभाविक है। विषयोंके प्रति यह आकर्षण ध्याननिमित्तक है। कहीं नैमित्तिक और कही स्वाभाविक आकर्षण होता है। इस आकर्षणसे विशिष्ट प्रविलयन (विषयाकारकारिता ही सङ्ग है। विषयोंके ध्यानसे बुद्धिमें यही सङ्ग होता है, जिसस पवित्र भी आत्मा अपवित्र हो जाती है।

सङ्गात संजायते कामः। उस आकर्षण रूपी संगका फल है—काम। कामका अर्थ है कामना। इसको कहीं पर राग शब्दसे भी कहा गया है। "सुखानुशयी रागः" ऐसा पातञ्जल सूत्र है। विषय संयोग जनित सुखके पीछे कामना होती है। 'कमु कान्तौ" धातुसे काम शब्दकी निष्पत्ति है। यह एक यौगिक शब्द भी "कम् आमं यस्मिन् स कामः" ऐसा भी इसका विग्रह है। क शब्दके अनेक अर्थ बताये गये हैं। "किमति वारिमूर्धनिन्दा सुखेषु" ऐसा अर्थ निर्देश किया है। "को ब्रह्मणि समीरे च" इत्यादि कोश वाक्य भी है। 'क' माने सुख आम अर्थात् कच्चा है। जिसमें वही काम है। विषयसुख कच्चा सुख है। आम माने कच्चा है। आमाशय पक्वाशय इत्यादि प्रयोग होते हैं। विषय सुख पक्का नहीं होता। क्योंकि विषय सुख प्रतिबिम्ब रूप होता है, बिम्बरूप नहीं। पानीमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है। पानी हिलता है तो प्रतिबिम्ब टूटता है। समुद्रमें जाकर देखो। हजारों टुकडे प्रतीत होंगे। प्रतिबिम्ब उपाधि चलनसे टूटता है। विषय संनिकर्षसे आनन्दमय कोशीय भोगवृत्ति उत्पन्न होती है। उसमें ब्रह्मानन्दका प्रतिबिम्ब पड़ता है, परंतु वह वृत्ति स्थिर नहीं होती। चंचल होती है। अत एव टूटनेवाला कच्चा सुख उसमें आविर्भूत होता है। उस कच्चे सुखके पीछे जो चले वही सुखानुशयी राग है। वही काम है। सङ्गका परिणाम यही काम है। जो पतनका द्वितीय सोपान है। सौभरिकी उक्ति है—

> अहो इमं पश्यत मे विनाशं
> तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
> अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्
> प्रच्यावितं ब्रह्मधृतं चिरं यत्॥

सौभरिकी कथाका निर्देश हमने पहले भी किया था। प्रथम वे विषयोंसे इन्द्रियोंको समेटकर ब्रह्मध्यान परायण हो गये थे। यमुना जलमें डूबकी लगाकर समाधि लगाते थे। आज-कल भी कई योगी

भूमि खोदकर भूमिमें समाधि लगाते हैं। पंद्रह दिन महीना अंदर बैठ जाते हैं। इसमें तो सुराक्‌ रखकर धोखा भी हो सकता है। परंतु जलमें डूबकर सौभरि प्राणायामके द्वारा समाधि लगाते थे। उसमें धोखेके लिये कोई अवकाश ही नहीं था। एक दिन उनकी समाधि टूटी जलमध्यमें। उस समय उन्होंने मछलियोंको विहार करते देखा। उसीको वे बार-बार देखने लगे। उसीका अभिध्यान होने लगा। अर्थात् विषयोंसे समेटकर ब्रह्मका ध्यान जो चल रहा था, वह विपरीत हो गया। ब्रह्मसे इन्द्रिय मन हटे और विषयोंमें जा चिपके। उसीका परिणाम विषयोंकी ओर आकर्षण हुआ। यही मछलियोंका संग है। न कि उनके साथ उठना, बैठना, बात करना आदि सभी संग। यही "अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्" का अर्थ है। उसका परिणाम क्या है? ब्रह्मानंदसे च्युति और विषयानन्दमें प्रवृत्ति। यही काम कहलाता है। जलसे उठकर सौभरि तत्कालीन राजा मान्धाताके पास पहुंचे। राजाने महर्षि समझकर उनका भारी संमान आदर किया। गुरु समझकर पूजन किया। राजाको क्या मालूम था कि यह गुरु बनने नहीं आये हैं। जमाई बनने आये हैं। राजाने गुरु भावसे पूछा—क्या सेवा करूं। सौभरिने कहा - तुम अपनी पचास कन्याओंमेंसे एक कन्या मुझे दो। यह सुनते ही राजा तो दंग रह गये। वृद्ध शरीर। सो भी पानीमें पड़े रहनेसे गल रहा है। कौन ऐसा मनुष्य होगा जो ऐसेको अपनी युवति कन्या दे। राजाने समझा, यदि नहीं देते हैं तो ये जरूर श्राप दे देंगे। राजा चतुर थे। राजाने कहा—आप कन्या अन्तःपुरमें जाइये, वहां जो कन्या आपको पसंद कर लेगी, उसे आप ले जाइये। राजाकी चतुराई सौभरि समझ गये। लेकिन वे सेरके सवासेर थे। अपने तपोबलसे दिव्यादिदिव्य अपना सुन्दर रूप बनाया और अन्तःपुरमें गये तो पचासों कन्याओंने एक साथ सौभरिकी कामना की। पचासोंने सौभरिका वरण किया। पचासोंके साथ विवाह भी किया। पचास शरीर

धारण कर अपनी तपश्चर्याका भी खूब उपयोग किया। किंतु यह होशियारी काल भगवानके सामने नहीं चली। लेनेका देना पड़ गया। पूरी तपस्या नष्ट हो गयी। अन्ततः रोना पड़ा—

"अहो इमं पश्यत मे विनाशम्"

हाय ! मेरा यह विनाश देखो। इस विनाश शब्दसे प्रतीत होता है कि इस प्रकरणमें द्वितीय श्लोकमें आनेवाले "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" वाला प्रणाश सौभरिका होने लगा था। प्रणश्यतिमें 'प्र' उपसर्ग है। उतना भयंकर नाश नहीं हुआ होगा, उससे पूर्व ही संभल गये होंगे। अतः विनाश कहा। अन्यथा "प्रणाशं" कहते। अर्थात् जो एक बार परमात्माकी ओर मनको लगा चुके हैं, उनका सर्वथा प्रणाश नहीं होता, क्योंकि अन्तमें परमात्मा स्वयं बचानेके लिये पहुंच जाते हैं। "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति" यह भगवानने सन्मार्ग गामियोंका स्वभाव कथन किया। और आगे स्वयं भगवान कहेंगे—"न मे भक्तः प्रणश्यति" मेरे भक्तका प्रणाश नहीं होता। यहां प्र उपसर्ग लगाया है। भक्तका कभी नाश जैसा दीखेगा। पर उसका प्रणाश नहीं होगा। उससे पूर्व ही भगवान आकर बचाते हैं। सौभरिको अन्तमें यह जा वैराग्य हुआ अपनी भूलका जो आभास हुआ, यह भी भगवानकी ही कृपा है। नहीं तो साधारण लोगोंकी तो यह दशा है कि वे गलती करते हैं और अन्ततक गलतीको सही मानते हैं। गलती करना उतना गुनाह नहीं है जितना कि गलती को सही मानना है। क्योंकि उससे फिर आगे उद्धारका रास्ता बंद ही हो जाता है।

कामात् क्रोधोऽभिजायते। विषय ध्यान प्रथम पतन है। द्वितीय पतन संग है। तृतीय पतन काम है। चतुर्थ पतन क्रोध है। विषय सुखकी कामना रहती है। उसमें कोई अवराध डालता है तो उसपर क्रोध होता है। काम तक जैसा-तैसा चलता है। किन्तु क्रोध एक भारी दोष है। इससे बहुत भारी हानि होती है।

क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी

इस प्रकार शास्त्रकारोंका कहना है। तृष्णारूपी काम मार्ग है। वैतरणी नदी पार कर ही तो यम लोक जाना होता है। तृष्णा स्वार्थ पूर्तिके लिये होती है। उसका परिणाम है मरणोत्तर वैतरणी पार करते समय ही गोता खाना शुरू होता है। दानादि सत्कर्म जिसने किया हो वह आरामसे उस नदीको पार करता है। दूसरे उसमें डूबते हुए घुटने लगते हैं। दानमें दी हुई गायकी पूंछ ही वैतरणी पार कराती है इत्यादि कथा पुराणोंमें है। सारांश यह कि तृष्णा त्यागसे वैतरणी पार हो सकेंगे। इसके बाद क्रोधमें हिंसा आदिमें प्रवृत्ति होती है। उसके पापका परिणाम यमसदनमें यातनायें भोगनी पड़ती है। अत एव क्रोधको वैवस्वत राजा बनाया। वैवस्वत राजा मान यमराज। यह मरणोत्तरकी बात है। वर्त्तमानमें भी तृष्णा वैतरणी है। क्रोध वैवस्वत राजा है। तृष्णामें डूबकर मनुष्य घुटने लगता है। दो व्यापारी थे। एकने पचीस हजार लाभकी आशासे व्यापार किया। दूसरेने लाख रुपयेकी तृष्णासे व्यापार किया। दोनोंका पचास हजार रुपये मिले। एक तो प्रसन्न हो गया। हंसने लगा। दूसरा दुःखी हुआ, नाराज हो गया। यही कामनाका परिणाम है। वैतरणी नदीमें डूबना है। काममें प्रतिरोध हुआ तो क्रोध आया। क्रोध हुआ तो हिंसा आदिमें प्रवृत्ति होने लगा। हिंसा करनवाला यमराज जैसा ही तो होता है। अतः क्रोधो वैवस्वतो राजा बताया। उसी तृष्णा और क्रोधको लेकर यहां कामात् क्रोधोभिजायते बताया॥ ९॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२--६३॥

[क्रोधसे संमोह (मूढ भाव) होता है । संमोहसे स्मृतिशक्ति नष्ट होती है । स्मृति शक्ति नाश से बुद्धि नाश होता है । बुद्धि नाशसे महान् विनाश होता है]

विषयोंसे हटाकर ब्रह्ममें मनको लगानेके विपरीत ब्रह्मसे हटाकर विषयोंमें लगाने से क्या परिणाम है. इस बातको बताते हुए क्रमिक पतन "ध्यायतो विषयान् पुंसः" से कहना प्रारंभ किया था । उसीका यह अनुक्रमण चल रहा है क्रोधाद् भवति । इसका अर्थ समझने के लिये पूर्व श्लोकका थोड़ा सा पुनरवलोकन भी आवश्यक है। विषय ध्यानसे सङ्ग अर्थात् विषयाकर्षण होता है उसका परिणाम काम बताया ।

काम शब्दका एक यौगिक अर्थ यह बताया—कम् आमं यस्मिन् इति कामः । जिममें कच्चा सुख है वह काम है । दूसरी यौगिक व्युत्पत्ति है- कं सुखात्मकं ब्रह्म आमयति इति कामः । ब्रह्मरूपी परिपक्व सुखको कच्चा जो करे वही काम है । ब्रह्मको भी कं कहते हैं—"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" ऐसा श्रुति वचन है । "को ब्रह्मणि समीरे च" ऐसा कोश वचन है । वह ब्रह्म जब प्रतिबिंबात्मक होता है तब कच्चा हो जाता है । क्योंकि प्रतिबिम्बकी प्रयोजक उपाधि परिवर्त्तनशील है । उपाधि है वृत्ति विशेष । अंदर तीन कोश काम करते हैं। मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय । यह है या नहीं, यह ऐसा है या ऐसा, इत्यादि अस्ति स्वरूप विषयक संकल्प विकल्प जहां हो उसको मनोमय कोश कहते हैं। यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है,

यह अनुभव रूप है। इस प्रकारका निश्चय बुद्धि करती है। विज्ञान-मय कोशका वह कार्य है। अनुकूलता बुद्धिके बादमें आनन्दमय-कोशका काम शुरू होता है। मनोमय सत् प्रधान है। विज्ञानमय चित्प्रधान है। आनन्दमयकोश आनन्द प्रधान है। ये तीनों वृत्ति विशेष हैं। मनोमय संकल्प विकल्पात्मक वत्ति है। विज्ञानमय निश्चयात्मिका वृत्ति है। आनन्दमय भोगात्मिका वृत्ति है।

"आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोज्जृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदये"

ऐसा आचार्य वचन है। मनोवृत्तिमें मुख्य रूपेण सत्प्रतिबिम्ब पड़ता है। बुद्धि वृत्तिमें मुख्यरूपेण चित्प्रतिबिम्ब पडता है। आनन्द-मय वृत्तिमें मुख्यरूपेण आनन्दका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही आनन्द प्रतिबिम्ब कामसुख कहलाता है।

यह आनन्दमय वृत्ति तीन प्रकारकी होती है। गौड़पाद कारिकामें तीन अवस्थायें बतायी हैं—समाधि अवस्था, सुषुप्ति अवस्था और स्वप्नावस्था। पूछा जाग्रत अवस्थाको क्यों नहीं गिनते ? कहा—जाग्रत और स्वप्न एकही है। स्वप्न कहने पर छोटा स्वप्न आता है और जाग्रत कहने पर लंबा स्वप्न आता है। प्रतिदिनका रात्रिका स्वप्न चार छ घंटेका होता है। दीर्घ स्वप्न सारे जीवनका कहो या ब्रह्माजीके सृष्टि पर्यन्तका कहो। गौड़पादाचार्य इन तीनको ही विशेषतया कहते हैं—

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रातत्त्वमजानतः
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते

अन्यथा ग्रहण स्वप्न है। तत्त्वाग्रहण सुषुप्ति। उभयविपर्यास क्षय समाधि है। उसका चरमफल तुरीयपद प्राप्ति है।

जाग्रत और स्वप्नको एक करनेका यह विशेष आग्रह क्यों है ? उत्तर है कि गुणानुरूपेण विभाग इसमें अधिक जमता है। सुषुप्ति

तमोगुण प्रधान है। उस समय प्रशान्तवाहिता होती हैं। समाधि सत्त्वगुण प्रधान है। उस समय भी प्रशान्तवाहिता होती है। जाग्रत तथा स्वप्न रजोगुण प्रधान है। उनमें वृत्तियां उथल-पुथल होती रहती हैं। चंचलता रजोगुणका कार्य है। जाग्रत तथा स्वप्नमें वृत्तियां चंचल रहती हैं। सुषुप्ति तथा समाधिमें चित्त प्रशान्त होकर प्रवाहित होता है। फरक इतना ही है कि सुषुप्तिमें तमोगुणकी विशेषता है, समाधिमें सत्त्वगुणकी विशेषता है। इन सबका सारांश यही कि अवस्था चाहे जो भी हो, प्रवाह तो जारी ही रहेगा। यहां तक बताया है कि प्रलयमें भी प्रवाह चालू रहता है। एक सम प्रवाह होता है, दूसरा विषम प्रवाह। प्रलय, सुषुप्ति तथा समाधिमें सम प्रवाह होता है। सृष्टिमें जाग्रतमें और स्वप्नमें विषम प्रवाह होता है। जैसे बनारस काशीमें गङ्गाका प्रवाह सम है। उत्तर काशीमें विषम प्रवाह है। बनारस काशीमें पानी बहता हुआ मालूम नहीं पड़ेगा। काई कागज लकड़ी आगे बढ़ती है तो उससे अनुमान करना पड़ता हैं कि गंगा बह रही है। किन्तु उत्तर काशीमे प्रत्यक्ष कल-कल करता हुई गंगा बहती नजर आयेगी। वैसे सुषुप्ति समाधिमें भी वृत्ति प्रवाह चलता है। जाग्रत स्वप्नमे भी वृत्ति प्रवाह चलता है। जाग्रत-स्वप्नमें प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। सुषुप्ति-समाधिमे प्रतीत नहीं होता। फिरभी प्रवाह चालू ही है। सुषुप्तिमें भी आनन्दमय कोशकी वृत्ति चालू रहती है। ऐमा आचार्योका मत है। किंतु तमागुणसे आवृत्ति होनेसे स्पष्ट आनन्दानुभव नहीं होता। इसलिये "तमोजृम्भिता" बताया।

सर्वत्र वृत्ति प्रवाह चालू रहता है, इससे यह भी सिद्ध होता है। कि आनद प्रतिबिब भी बदलता रहता है। परिणामशील है। अखण्ड नहीं है। इसी कारण इन सभी आनंदोंको नाशशील बताया। जाग्रत और स्वप्नमें क्षण-क्षण सुखकी उत्पत्ति और नाश प्रत्यक्ष सिद्ध है। सुषुप्तिमें भी नाम मात्रकी स्थिरता है। वस्तुतः वहां भी

सुख अस्थिर है। तब उस सुख धाराको जो भी प्रतिबन्धक खण्डित करे उस पर क्रोधका आना अनिवार्य है। क्रोधका अर्थ हम कह आयें हैं, जो करोध है वही क्रोध है। मारवाड़ी, पंजाबी आदि भाषामें करोध ही बोलते हैं। "कस्य सुखस्य रोधो यत्र स करोधः" 'करोध एव क्रोधः' इस प्रकार नैरुक्त प्रक्रियासे क्रोध शब्द है। सुखका निरोध होने लगा तो निरोधक पर क्रोध हुआ। और विषय सुखका रोध होना अनिवार्य है। अतः सीधा ही कह दिया --कामात्क्रोधोऽभिजायते।

क्रोधाद् भवति संमोहः। बताया कामसे क्रोध होता है। क्रोध हो जाय तो क्या हानि है? इसका उत्तर है—क्रोधाद् भवति संमोहः। यह "सं" उपसर्ग को जोड़कर "मुह वैचित्ये" धातुसे बनाया है। विगता चित् सं ज्ञानं यस्मात् स 'विचित्' तस्य भावो वैचित्यम्। विगतं वा चिन्तनात्मकं चित्तं यस्मात् स विचित्तस्तस्यभावो वैचित्यम्। इन दो में कोई भी विग्रह होता है। अर्थ यहां एक ही होगा। 'चिती संज्ञाने' धातुसे ही चित् और चित्तं दोनों शब्द बनते हैं। चित्का रूप है चेतति। चेत जाना। सचेत होना। सचेत नहींका अर्थ है सावधानी नहीं, विवेक नहीं। क्रोधसे विवेक नाश होता है, सचेत नहीं होते। यही संमोहका अर्थ है।

क्यों विवेक नष्ट होता है? हम पहले व्याख्या कर चुके हैं। न्यायसूत्रके भाष्यमें महर्षि वात्स्यायनने क्रोधके विषयमें बताया है कि क्रोध अग्नि है—"प्रज्वलनात्मकः क्रोधः" क्रोध अग्निरूप है। है। वह अंदरके विवेक तंतुओको जला डालता है। स्थूल वस्तुको स्थूल अग्नि जलाती है। सूक्ष्म वस्तुको सूक्ष्म अग्नि जलाती है। ऐसा नहीं होगा कि माचीस नहीं मिला तो क्रोध कर डालिये और उतनेसे गेस जलने लग जाय और ऐसा भी नहीं है कि भोजन बनाते समय स्थूल अग्निके पास देर तक बैठनेसे आप के विवेक तन्तु जल जाय। सूक्ष्म विवेक तन्तुओंको सूक्ष्म क्रोधाग्नि जला

डालती है। क्रोध आनेपर विवेक नहीं रहता। एक आदमीको देखा कि क्रोध आ गया तो घरमें सबको गाली देता है. सबको मारता पीटता है। भले सामने माता-पिता भी आ जाय। उनको भी गाली दे, पीट डाले। एक दूसरे आदमीको मैंने देखा उसका गुस्सा आता है तो अपने माथे पर धड़ा-धड़ मुक्का मारना शुरू करता है। मैंने कहा यही ठीक भी है। जिस माथेने क्रोध किया उसको मुक्का मारकर दंड देना उचित है। परंतु उस दंडसे माथा ठंडा नहीं होता यही दोष है।

काशीकी बात है। वहां एक बहुत बड़े पंडित थे। उनको अन्य पंडित लोग भी यही मानते थे कि यह चलती-फिरती लाईब्रेरी है। उनसे किसी भी विषय पर प्रश्न कर लो, चाहे सड़क पर खड़े-खड़े, तुरंत उत्तर मिल जाता था। वेद, शास्त्र, पुराण आदि सभी उनको कंठ थे। न्याय वेदान्त मीमांसा आदिके वे धुरंधर थे ही। बल्कि लाईब्रेरीमें (पुस्तकालयमे) पुस्तक ढूंढने और विषय ढूंढ़नेमें समय लगता है। इसलिये बहुतसे लोग आलस्यमें लाईब्रेरी न जाकर पंडितजीसे ही पूछ लेते थे। पंडितजीके तीन नियम थे। एक नियम था—कभी भांग नहीं पीना। काशीमे पंडितोंकी भारी आदत भांग पीनेकी होती है। भांगको वे शंकरकी बूटी कहते हैं। महिम्न स्तोत्रका वे उदाहरण देते है— "भुवनभयभङ्गव्यसनिनः"। शंकर भगवान भंग व्यसनी हैं। ऐसा वहां बताया है। भङ्ग शब्दके दो अर्थ है। एक यह भांग और दूसरा भञ्जनवाला भंग। "भवभयभञ्जन" ऐसा नाम आता है। उस भञ्जका भङ्ग शब्द होता है। भञ्जन करना माने नाश करना। "विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः" यहां भुवनभय का भञ्जन करना ही जिसका व्यसन है, ऐसा अर्थ है। परतु उसमेसे भुवन भयको निकाल कर खाली भङ्ग व्यसनी पढ़ लेते हैं। फिर सायंकाल दशाश्वमेध घाट पर जाकर नांवमें बैठ जाते हैं। सिलबट्टा

और भांग साथमें, वहीं घोंटते हैं। घोट कर भांगका रस निकाला फिर जो कचड़ा सा बचता है उसीको गोल गोलकर शकर मान लेते हैं और थोड़ा उस पर भांग चढ़ाया, बाकी पिया। किन्तु इसमें ये पंडितजी कभी शामिल नहीं हुए। पंडितजीसे जब पूछा—सब पंडित भांग पीते हैं, आप क्यों नहीं पीते ? पंडितजी बड़े मधुर शब्दमें कहते थे कि भांगके अधिष्ठाता भी शंकर है, "ज्ञानप्रदः शंकरः" के अनुसार विवेक बुद्धिके अधिष्ठाता भी शंकर हैं। अतः इन दोनोंमें सौतीली डाह रहती है। भांग आ गयी तो विवेक बुद्धि भाग जायेगी। फिर यदि वह वापस नहीं आयी तो कलसे तुम लोग ही मुझे पूछोगे नहीं।

पंडितजीका दूसरा नियम था किसी पर क्रोध न करना। पंडितजी का एक लड़का था। बड़ा उधम मचाता था। किन्तु कभी वे क्रोध नहीं करते थे। पंडितजीसे पूछा आप इस पर गुस्सा क्यों नहीं करते ? वे पूछने लगे- किसलिये ? इसे सुधारनेके लिये। पंडितजी कहते थे—मैं इसे सुधारने जाऊं तो क्या फायदा ? मनुष्य समझता है कि मैं दूसरेको सुधारता हूं, परंतु अपने आपको नहीं सुधारता। सुधारनेवाला—बिगाड़नेवाला भगवान है। मैं इस परमेश्वरके कार्यमं दालमें मूसलचद क्यों बनूं। उनसे पूछते, फिर भी माता-पिताका कर्त्तव्य हे लड़कोंको सुधारना। पंडितजी कहते कि एक ही माता-पिताके तीन लड़क हैं। एक शांत गंभीर, दूसरा चंट तीसरा चोर डाकू ऐसा भी देखनेमें आता है क्या माता-पिताने ऐसा बननेके लिये शिक्षा दी ? सब लोग अपनी-अपनी प्राकृतिको लेकर आयें हैं। अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं। गीतामें भगवानने कहा है—

"स्वभावेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा"

पंडितजी कहते थे, फिर किसीको सुधारना भी हो तो क्रोध करके, मार पीटकरके नहीं चित्तका उन्नयन करके सुधारना चाहिये।

प्रथम इसी उन्नयनसे जाति होती थी। बादमें वह रूढि हो गयी। सेठका लड़का है। सेठ कहता है, देखो तुम ऊँचे कुलमें पैदा हो। छोटा मोटा काम न करना। चोरी करना तुच्छ लड़कोंका काम है। ब्राह्मण अपने बच्चेको समझाते हैं कि भूखे भले मरना, पर गलत काम न करना। हमारा ऊंचा वर्ण है। ब्राह्मण जाति है। इस प्रकार चित्तका उन्नयन करना सुधार का रास्ता है। आजसे तीस पैंतीस वर्ष पहले मनोविज्ञान शास्त्र (सैकालाजी) इतना प्रसारीत नहीं था। किन्तु पंडितजी तो सचमुच पंडित थे। नहीं तो उस समय पीट-पाट कर बच्चोंको ठीक करनेका जमाना था। पंडितजीका सिद्धान्त था— कभी क्रोध नहीं करना। मेरा यह प्रवचन पहलेके प्रवचनका खण्डनात्मक हो रहा है। हमने पहले कहा था कि दूसरोंको सुधारने के लिये कोप करो, पर दूसरोंको बिगाड़ने वाला क्रोध न करो। पंडिनजी कहते थे—कोप क्रोध सब एक ही है। प्रज्वलनात्मक है। वह विवेक बुद्धिको जला देगी। मेरा जो कुछ नाम है, सब विवेक बुद्धि—पंडिताई पर है। उसे भला स्वयं मैं ही क्रोध करके क्यों नष्ट करूं। कोप भी कालान्तरमें क्रोध रूपेण परिणत है। अतः वह भी त्याज्य है।

तीसरा नियम पंडितजीका यह था कि कोई बात बनाकर नहीं बोलना। जैसे है वैसा ही बोलना। यद्यपि यह शास्त्रानुकूल नहीं है। कुछ बातोंको बनाकर भी बोलना पड़ता है। सभी बातें जैसीकी तैसी नहीं कही जा सकती। अंधेको अंधा कह कर नहीं पुकारा जाता। सूरदासजी ऐसा बनाकर बोलना चाहिये।

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्"

ऐसा मनुवचन है। पंडितजी कहते थे कि इस शास्त्रीय रहस्यको मैं मानता हू। किंतु पारमार्थिक दृष्टिसे यह ठीक नहीं है। बातको बनाकर बोलनेका मतलब है सत्य पर परदा डालना। सत्य पर

परदा पड़ा तो वह प्रकाशित नहीं होगा तो बुद्धि अधूरी होती है। यह भी बुद्धिका बाधक है बुद्धिमानको बोलो । पंडितको पंडित कहो ।

"न लोपनीयाः परकीर्तयो हि"

और जो न्यून गुणके हैं, उन्हें न्यून ही समझना चाहिये । परंतु आजकल 'परस्परं प्रशंसन्त:" के अनुसार दो अवगुणी परस्पर स्तुति करके गुणियोंका तिरस्कार करते हैं और गुणहीनोंको ऊपर उठाते हैं मनु महाराजने प्रियं ब्रूयात् कहा । किन्तु आगे लिखा—

"प्रियं च नानृतं ब्रूयात्"

प्रिय भी हो किन्तु असत्य हो तो ऐसा वचन न कहो । बना-बनाकर बोलनेमें भी असत्य की गंध आ ही जाती है । विद्यार्थियोंके गुणोंकी प्रशंसा करते थे किन्तु साथ-साथ त्रुटि भी बता देते थे । जिससे उन त्रुटियोंको सुधारनेके लिये अवसर अच्छा मिलता था । सभामें भी कितने ही बड़े-बड़े पंडित क्यों न हो, गलत बोले तो तुरंत वे डांट देते थे । इसलिये उनके आने पर पंडितोंको गलत ढंगसे एक दूसरे पर प्रभाव डालना शक्य नहीं था । अपनी बुद्धिकी रक्षाके लिये वे ये तीन नियम रखते थे । प्रकृतमें केवल क्रोधकी बात है । "क्रोधाद् भवति संमोहः" क्रोधसे विवेक शक्तिका ह्रास हो जाता हैं, जो हमारे जीवनका भारी नुकसान है ।

संमोहात् स्मृतिविभ्रमः । क्रोधसे बार-बार तमोगुण बढ़ जाता है और ज्ञानतंतुओं पर आघात होनेसे संमोह होता रहता है तो उसका परिणाम है स्मृति शक्ति का लोप । ऐसे तो कई बीमारियोंसे भी स्मृति शक्तिका लोप होता है । तथापि क्रोध प्रयुक्त संमोह कालान्तरमें स्मृति लोप होनेमें एक मुख्य कारण है । इस स्मृति शक्तिको बनाये रखने का हर हालतमें प्रयास होना चाहिये । मानवतामें स्मृति-शक्तिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । अग्रिम प्रगतिमें स्मृतिशक्ति

मूल है। आज हमने गीताका एक श्लोक याद किया। कल वह याद रहा तो उससे अगला द्वितीय श्लोक याद करेंगे। वह भी याद हो जाय तो तीसरा श्लोक याद कर सकेंगे। इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। किन्तु आज याद किया हुआ कल तक भूल जाय और वही श्लोक याद करना पड़ जाय तो परसों नरसों भी वही बात होनेसे आगे बढ़नेका अवसर ही नहीं रहता। यही कारण है—पक्षी और पशुने दुनियामें कोई प्रगति नहीं की। लाख वर्ष पहले कुत्ता भोंकता रहा, आज भी वैसा ही भोंक रहा है। लाख वर्ष पहले बंदर पेड़ों पर पत्ते फल खाकर रहते थे और घुड़की देते थे। आज भी फल पत्ते खाना और बंदर घुड़की इस प्रसिद्ध कहावतका मूल चरितार्थ करना काम है। लाख वर्ष पहले कौए, चिड़ियायें घोंसले बनाते थे, आज भी वहीं का वहीं स्तर। जब कि मनुष्योंने काफी तरक्की की। भाषामें तरक्की, रहन-सहनमें तरक्की। यह स्मृति शक्तिका ही परिणाम है। उस स्मृति शक्तिको हम क्रोध मोहसे नष्ट करें, यह हमारी भूल होगी।

बहुतसे विद्यार्थी छात्र और बहुतसे बड़े लोग भी स्मृति शक्ति बढ़ानेका उपाय पूछते हैं। शास्त्रोंमें औषधि विज्ञान भी इसके लिये बताया है। मन्त्र विज्ञान भी बताया है। ब्राह्मीबूटीवचा आदि प्रतिदिन खाओ तो स्मृति शक्ति बढ़ेगी। सारस्वत चूर्ण सारस्वतवटी आदि अनेक दवाईयां है। दूसरी ओर सारस्वत मन्त्र जपसे स्मृति-शक्ति बढ़ती है, ऐसा बताया है। खण्डनकार श्री हर्षके बारेमें कहा है—

यदीयच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तया
जहर्ष हर्षः परिलभ्य लिरिसतम्

श्री हर्षको महापंडित बनना था। स्मृति शक्ति बढ़ानी थी। क्यों कि उदयनाचार्यने उनके पिता हार पंडितका तिरस्कार किया था।

पितृ मरणोत्तर सारस्वतमन्त्रका श्री हर्षने खूब जप किया, अनुष्ठान किया जिससे स्मृति शक्ति बहुत बढ़ी और उदयनाचार्य जैसे न्याय धुरधरको भी परास्त किया। यह तो ठीक है। परंतु स्मृति शक्ति बढ़ानेका परम मन्त्र है— क्रोध परित्याग और संमोहसे बचना। श्री हर्षने दोनोंका पालन किया। पिताके तिरस्कारसे वे क्रुद्ध नहीं हुए। धैर्य धारण किया। "मुह वैचित्ये"। वैचित्यं विचित्तता चिन्तनकर्त्तृं चित्तम्। विचार हीनता ही वैचित्य है। चिन्तनहीनता ही चित्त-हीनता है। उसके विपरीत श्री हर्षने चिन्तामणिचिन्तन किया। तत्त्व-चिन्तन परायणता ही बड़ी भारी चिन्तामणि है। गहन विचार हमेशा करते रहो, गहन चिन्तन करते रहो तो बुद्धि स्वयमेव कुशाग्र होने लगेगी। इसीके लिये काशीमें न्याय शास्त्र और विशेषरूपसे नव्यन्याय पढ़ाया जाता है। एक महात्मा कहते थे कि जब वे न्यायशास्त्र पढ़ते थे उस समय गहराईमें उतरते-उतरते इतनी तीक्ष्ण बुद्धि हो गयी थी कि कठिनसे-कठिन भी ग्रन्थ सरल-सरल दीखते थे। आजकल लोग सरलकी रट लगाये हुए हैं। परिणामतः बुद्धि स्थूल होती जा रही है। तो क्रोधका त्याग और संचित्तता अर्थात् चिन्तन परायणता बढ़ाओ तो वही स्मृति शक्ति वर्धनका उपाय है। इसके विपरीत क्रोध करते रहेंगे, संमोहसे—वैचित्यसे चिन्तन छोड़ेंगे तो स्मृति विभ्रम होगा।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः। क्रोधसे चिन्तन धारा गयी, संमोह आया। उस मोहसे स्मृति शक्ति गयी तो उसका परिणाम है बुद्धि नाश। बुद्धि नाशका अर्थ है—ज्ञान नाश। न्याय सूत्रमें बुद्धि शब्दका अर्थ ज्ञान बताया गया है। सूत्र है—

"बुद्धिरुपलब्धि-र्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्"

बुद्धि कहो, उपलब्धि कहो, ज्ञान कहो, तीनमें अर्थान्तरता नहीं है। बुद्धिसे बुद्धि शक्ति अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्मृति-

शक्ति कथनसे वहां गतार्थ है। स्मृतिशक्ति ही बुद्धि शक्ति है। समझ शक्ति यदि अलग मानी जाय तो वह स्मृति भ्रंशसे कैसे नष्ट होगी ? भूल होने लगी तो क्या समझमें भी नहीं आयेगा ? अतः बुद्धिका अर्थ है ज्ञान संचय। स्मृति नाशसे तो ज्ञान संचय होगा नहीं और हुआ-हुआया ज्ञान संचय भी नष्ट होगा। स्मरणशक्तिके नष्ट होने पर संचित ज्ञान नष्ट होने लगता है। गीता याद थी, पर अब भूल गये। गीता ज्ञान भी नष्ट हुआ। ज्ञान नाश यदि हुआ तो वहुत बड़ा भारी नाश है। ज्ञान ही तो मानवधन है।

ज्ञानं नराणामधिकं प्रधानं
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः

पशु-पक्षीयोंकी अपेक्षा अधिक विशेषता मनुष्यकी ज्ञानको लेकर है। वह ज्ञान यदि नष्ट हुआ तो मनुष्य पशु समान है। अत एक नीतिकारोंने चुटकी ली—

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः
तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्

साहित्य दर्शन शास्त्रादि सभी ग्राह्य है। साथ-साथ संगीत भी चाहिये। श्लोक बोलते समय बांस फाड़ने जैसी आवाज आवे तो वह हृदयगंम नहीं होगा। अतः संगीत भी चाहिये। इन दोनों विद्याओंके बिना मनुष्य पशु है, जिसकी पूंछ और सींग नहीं है। एक और चुटकी लेते हुए कहते हैं "तृणं न खादन्'। विशेषता एक और है कि यह पुरुष पशु घास नहीं खाता। कहते हैं, यदि यह पुरुष पशु घास खाने लगता ता पशुओं पर भारी आपत्ति आती। वह क्या ? जो-जो चीज मनुष्य खाने लगा वह पशुओंको खाने नहीं मिलता। अंगूर, सेव, नासपाती, आम, काजू, लड्डू, जलेबी आदि

मनुष्य खाते हैं तो पशुओंको नहीं मिलता। यदि ये घास खाने लगते तो पशुओंको घास भी खानेको नहीं मिलती और वे भूखे मर जाते। सुनते हैं कि आज कल घाससे विटामिन निकालनेकी बात चली है। अगर यह सर्व साधारण होनेकी दिशामें है तो जिस रोज यह प्रयोग हुआ उसी दिनसे पशुओंके लिये खतरेके दिन आ गये समझलो। अस्तु बुद्धि नाश होनेपर वह मनुष्य पशुतुल्य ही होता है, इस बातको हम कह रहे थे। अतः बुद्धि नाशसे बचना हो तो मूल क्रोधसे बचना होगा।

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। बुद्धिनाश जहां हुआ, मनुष्यता समाप्त है। मनुष्यकी सारी विशेषता खलास हो जाती है। बुद्धि न हो तो वह शस्त्रानधिकारी हो जाता है। शास्त्र बुद्धिमानोके लिये हैं, पशुओंके लिये नहीं। सौभरिने "अहो इमं पश्यत से विनाशं" इस प्रकार अपना विनाश बताकर – क्या विनाश हुआ ? इस जिज्ञासा के उत्तरमें यही कहा –"प्रच्यावितं ब्रह्म धृतं चिरं यत्"। धृत ब्रह्मको प्रच्यावित किया यही विनाश है। ब्रह्मका परब्रह्म भी अर्थ है, वेद भी अर्थ है। वेद शब्दब्रह्म हैं। परमात्मा परब्रह्म है। दोनोंमें निष्णात होना यही आत्मरक्षण है। इससे विपरीत होना आत्मनाश है। गुरुके वर्णनमें भागवतमें आया—

"शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्"

इत्यादि। शब्द ब्रह्म और परब्रह्मसे निष्णात हो और प्रशान्त हो ऐसा गुरु होना चाहिये।

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः

ऐसा भी कहा है। अतः दोनों ब्रह्ममें निष्णात होना चाहिये। सौभरिने शब्दब्रह्मको भी धारण किया था और परब्रह्मको भी। तप भी ब्रह्मही कहलाता है।

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति"

ऐसी श्रुति है। सौभरिका काम तो प्रसिद्ध ही है। उसका परिणाम "कामात् क्रोधः" इत्यादि हुआ ही होगा। चरम परिणाम है बुद्धिनाश से धृत ब्रह्मका प्रच्यावन। वेदविद्या औपनिषदज्ञान भी नष्ट हो गया और ज्ञानास्पद ब्रह्म भी लुप्त हुआ। यही विनाश है। प्रणाश इससे भी कुछ आगे है। भाष्यकारने यहां—

"पुरुषार्थायोग्यो भवतीत्यर्थः"

ऐसा अर्थ किया है। बुद्धिनाश होनेसे पुरुषार्थ प्राप्त करनेकी योग्यता खलास हो जाती है।

विषयोंसे हटाकर इन्द्रिय एवं मनको परमात्मामें लगाना संहरण है। इससे विपरीत परमात्मासे हटाकर विषयोंमें इन्द्रिय एवं मनको लगानेसे क्या परिणाम होगा? इसका विवरण "ध्यायतो विषयान् पुंसः" इत्यादि तथा "क्रोधाद् भवति संमोहः" इत्यादि दो श्लोकोंमें भगवानने किया। पतन सोपान कथन निजार्थ नहीं परार्थ है। अर्थात् पतन कहनेके लिये ही पतन कथन नहीं है। किन्तु पतनसे बचने और उत्थान मार्ग बतानेके लिये पतनका कथन है। तथा पतनमें भी कहां तक पतित हो गये हैं, कहांके उठनेका आयाम करना है, यह समझना आवश्यक है। एतदर्थ ही यह सोपान परम्परावर्णन हुआ। अतः इस पर फिरसे एक बार दोनों श्लोकोंको लेकर विचार करें।

प्रथम श्लोकमें चार भावकोटि हैं और द्वितीय श्लोकमें चार अभाव कोटि हैं। चार भाव कोटि विषय ध्यान, संग, काम और क्रोध हैं। उसके बाद संमोह माने विवेकनाश तथा स्मृतिनाश, बुद्धिनाश एवं प्रणाश ये चार नाश हैं। प्रथम चार देखनेमें भावात्मक हैं। किन्तु नाशका पूर्वरूप ही है। जैसे वंश-घर्षण, अग्नि-उद्भव, वृक्षज्वलन और दावानल रूप धारण ये चार भाव हैं। जंगलमें बांस आपसें टकराते हैं, यही वंश घर्षण है। यह प्रथम भाव है। वंश घर्षणसे

चिनगारी पैदा होती है, यह द्वितीय भाव है। चिनगारीके उठते ही बांस एवं अन्य सूखे वृक्ष जलने लगते हैं, यह तीसरा भाव है। वह दावानल रूप धारण करता है, यह चौथा भाव है। प्रथम विषय ध्यान विषयमनका टकराव है। आकर्षण चिनगारी है। कामाग्नि प्रसिद्ध है। फिर क्रोध ज्वाला तो दावानल है ही। इसके बाद नाश क्रम है। जंगल जलकर खतम हुआ। जंगल जलने पर कोयला बना, वह भी राख होकर खतम हुआ। फिर राख भी जमीनमें मिलकर खतम हो गयी। फिर महाशून्यता मात्र रह गयी। वैसे क्रोधके बाद विवेक नाश हो गया। विवेकसे हुई स्मृतिका नाश हुआ। स्मृति जात बुद्धिका नाश हुआ। अन्तमें महानाश हो गया। प्रणाश नामका कोई नया नाश नहीं। राख भी खतम हुई तो महाशून्यता आ जाती है वैसे बुद्धिनाश होनेपर एक शून्यता आ जाती है। इसे भगवान् भाष्यकार आद्यशंकराचार्यने पुरुषार्थ प्रच्युति बतायी है। धर्म अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थसे रहित होनेका मतलब अगले जन्ममे वह पशुपक्षी बनेगा। बुद्धिनाश उसीका पूर्वरूप है। बुद्धिनाश होनेपर धर्म और मोक्ष तो नहीं ही होंगे। अर्थ कामकी भी सिद्धि नहीं होगी। अर्थ काममें फंसना अर्थकामको ही नाश करना है। जिसे तुमने अपना रक्षक समझा वह अपना ही भक्षक निकला।

इस पतन क्रमको हर एक दार्शनिक तरीकेसे अब वह विवेचन करेंगे जिससे उत्थान क्रमका स्वरूप निर्णय ठीक हो। पतनमें मुख्य रूपेण तम खड़ा रहेगा। तम माने तमोगुण। तमोगुण मुख्य रहेगा। अन्य गुण गौण रूपेण रहेंगे। (१) विषयका ध्यान चिंतन जब चलता है तब तमोगुण तो रहता ही है किन्तु तमोगुणके साथ लेश सत्त्वगुण भी रहेगा। तभी तो चिन्तन हुआ। ध्यान ज्ञानादिमें सत्त्वगुणकी मात्रा अवश्यंभावी है। "सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्"। चाहे वह विषय ज्ञान हो चाहे आत्मज्ञान हो। केवल तमोगुणमें विषयका भी भान न होगा।

(२) विषय ध्यानके बाद संग आता है। संगका अर्थ हम पहले कर आये-आकर्षण-आकर्षणमें खींचा-तानी थोडी रहती है। अतः रजोगुण वहां है। ध्यान भी है अतः सत्त्वगुण भी है। अर्थात् रजो मिश्रित सत्त्वगुण उपसर्जन है। इसको स्पष्टरूपसे समझिये जो मुख्य होगा उसको उपसृष्ट बोलते हैं। जो उसमें विशेषण होगा, सहकारी होगा वह उपसर्जन है। आठोमें तमोगुण मुख्यरूपेण है ही अतः तम-उपसृष्ट हैं। सत्त्व, रजोमिश्रित सत्त्व आदि उपसर्जन होंगे। संगमें शुद्ध सत्त्व नहीं, रजोमिश्रित सत्त्व उपसर्जन है। तम उपसृष्ट रहता है। (३) तीसरा काम है। उसमें भी तम उपसृष्ट है उपसर्जन है सत्त्वमिश्रित रज। संगमें रजोमिश्रित सत्त्व उपसर्जन था। अब सत्त्व-मिश्रित रज उपसर्जन है क्या फरक है? मिश्रण कम होता है, मिश्रित ज्यादा होता है। दूधमें पानी मिलाया, मतलब एक लीटर दूधमें आधा लीटर पानी मिलाया। एक लीटर दूधमें दो लीटर पानी मिलाया तो वह असलमें पानीमें दूध मिलाना है, दूधमें पानी मिलाना नहीं है। यह एक सामान्य नियम हमने बताया। अब यदि आप दो सेर पानी और एक सेर दूध करके दूधमें पानी मिलाया बोलने लगे तो कोई दण्ड नहीं होगा। यहां पारिभाषिक शब्दार्थ मात्र बताया गया। प्रकृतमें काममें तमोगुण उपसृष्ट है ही। उपस-र्जन में भी सत्त्वगुण कम और रज ज्यादा है। (४) चौथा क्रोध है। उसमें मिश्रणके रूपमें भी सत्त्व नहीं है। रज ही रज रहता है। अतः रज उपसृष्ट तमोगुणकी वह अवस्था है। तमोगुण हमन पतन क्रम होनेसे सर्वत्र स्वीकारा है। काममें और क्रोधमें रजागुणका बोलबाला है ही।

'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः"

इस प्रकार गीतामें ही तृतीयाध्यायमें आनेवाला है। वहां काम और क्रोधको रजोगुण समुद्भव बताया है। फरक इतना ही है कि काम सत्त्वमिश्रित रजोगुण है। क्रोध तो रज ही रज है। काममे इस

लिये भी थडा सत्त्वगुण मानना पड़ता है कि वहां कच्चा सुख तो थोड़ा है और सुख तो सत्त्वगुणका ही कार्य है। "सत्त्वं सुखे संजयति" ऐसा आगे आनेवाला है और सुख-दुःख मोहको सत्त्व रज तम का कार्य सांख्यशास्त्रमें प्रनिपादित भी किया है। कच्चा सुख काममें है किन्तु क्रोधमें वह भी नहीं है। अतः सत्त्वका वहां नाम निशान ही नहीं, रज ही रज वहां उपसर्जन है।

इन चार भावोंके बाद अभाव शुरू हुआ है। (५) संमोहमें तो सुनने पर ही तम का अस्तित्त्व प्रतीत होता है। उपसृष्ट तो तम ही है। उपसर्जनमें भी तमोमिश्रित रज ही आता है। विचार नाश हाने पर भी पूर्वस्मृतिसे कुछ कार्य चलते ही रहते हैं। अत एव रजोगुणका अस्तित्त्व मानना ही पड़ता है। विवेक विचार नाशके बाद फिर (६) छठा स्मृतिभ्रश है। स्मृति विभ्रम और स्मृतिभ्रंश एक ही है। इसीलिये स्मृति विभ्रम कहकर फिर उसका अनुवाद "स्मृति भ्रंशात्" कहकर किया। स्मृतिभ्रंश जहां हुआ वहां रजोगुणकी खींचातानी भी कम हो जाती है स्मृति ही नहीं खींचा-तानी क्या हागी ? थोड़ा सा ज्ञान बचा रहता है, उससे थोड़ी बहुत प्रवृत्ति रह जाती है। अतः रजो मिश्रित तम वहां उपसर्जन होगा। स्वयं भी तम, साथी भी तम। (७) सातवां बुद्धि नाश है। वहां घोर तम ही रहेगा। रजकी भी नाम निशानी नहीं रहेगी। भीष्मकी शरशय्या के समान शय्या भी शर, तकिया भी शर ही वैसे बुद्धि नाश स्वयं तम है। साथी भी उपसर्जन भी केवल तम है। इस स्थितिके बाद फिर (८) आठवां प्रणाशमें तो कुछ वर्णनकी आवश्यकता नहीं है। जीवित अवस्थामें ही वह पशुसमान है। मरणोत्तर उसका निश्चित पशुपक्षीका जन्म होगा। उस भूमिमें पहुंचनेक बाद फिर उठनेका कोई रास्ता ही नहीं होता। किसी कर्म विशेष या अन्तिम भावना विशेषसे पशुपक्षी जन्म मिलता है तो उद्धारके लिये अवकाश रहता है। किन्तु ध्यान सङ्गादि क्रमसे जो बुद्धि-

नाशसे पशुपक्षी योनिमें पहुंचता है, उसका उद्धार फिर अति कठिन क्या असंभव जैसा ही है। इस प्रकारकी योनिको आसुरी योनि माना है। आगे आयेगा—

आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्

भगवत्प्राप्ति उसे होती नहीं। वह अधम गीतको प्राप्त होगा। इसलिये यहां "बुद्धिनाशाद् विनश्यति" मात्र नहीं कहा। किन्तु "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" बताया। प्रणाश अर्थ है—पुनरूद्धार रहित नाश। शायद चौरासी लाख योनियोंमें पूरा भटक कर फिर मनुष्य योनिमें आवे या वहीं भटकता ही रह जाय। यह भयानक स्थिति है। इस महापतनसे बचनेके लिये सचेत करना इन श्लोकोंका लक्ष्य है। करुणा वरुणालय भगवान श्री कृष्ण इस पतनसे बचनेको कह रहे हैं। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः

यदि इस मानव शरीरमें परमार्थको समझ लो तो जीवनकी यथार्थता है। यह पुरुषार्थ योग्य होगा। "न चेदिहावेदीत्" का अर्थ केवल ज्ञानाभाव ही नहीं, किन्तु जो यहां बुद्धिनाश बताया वही है। उसका फल है—महती विनष्टिः—महाविनाश। अतः इह चेदवेदीत्' इस पूर्वार्ध पर भी ध्यान देना होगा।

महाविनाशसे और प्रणाशसे बचनेके लिये पतन सोपान क्रमसे विपरीत उर्ध्व सोपानकी ओर विपरीत दिशामें चलना होगा। यह भी यहां सूचित किया गया है। पहले जैसे हम कह आयें कि विषयोंमे इन्द्रिय मनको लगानेके विपरीत दिशा है परमात्मामें इन्द्रिय मनको लगाना। उसमें इसमे विपरीत आठ ऊर्ध्व सोपान है। ऊपरकी ओर सीढ़ी है। जिससे ऊपर आरूढ़ होते हैं। (१) प्रथम

सीढ़ीमें ध्यायतो विषयान् की जगह भगवानका ध्यान करनेवाला कहना होगा। श्लोकको आप स्वयं बनाते जाइये। इसे ऊह कहते हैं। "ईश्वरं ध्यायतः पुंसः" या "आत्मानं ध्यायतः पुंसः" ऐसा पाठ बनाकर पढ़िये। ऊर्ध्व सोपानमें प्रथम ईश्वरका ध्यान है। विषयों से मनको हटाकर ईश्वरमें मनको लगाना है। पहले कह आये हैं—विषयकी छाया इन्द्रिय द्वारा धी पर पड़ती है, किन्तु आत्माकी छाया भी धी पर पड़ती है। श्रीसुरेश्वराचार्य के वार्त्तिकमें दोनों आये हैं—

"गृह्णाति विषयच्छायामात्मच्छायानुभावतः"

आत्माकी छाया पड़ती है, परंतु चिपकती नहीं है। तदर्थ रस रसायनकी जरुरत है। कथामें रस आने लगा, कीर्त्तनमें रस आने लगातो यह ईश्वरका ध्यान है।

"विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते"

यह विपरीत क्रम भागवनोक्त है। भगवदनुस्मरण अर्थात् बार-बार भगवान की कथा आदि श्रवणसे भगवद् ध्यान होता है। उसका फल द्वितीय सोपान है (२) भगवानमें चित्त आसक्त होता है, प्रविलीन होता है। जैसे विषयराग रञ्जित चित्त विषयाकार होकर "स्वरूपशून्यमिव" स्वरूप शून्य-सा हो जाता है। वैसे भगवद्ध्यान राग रञ्जिनचित्त भी भगवदाकाराकारित होकर स्वरूप शून्य-सा होने लगता है। यही संग है। 'सङ्गस्तेषूपजायते' की जगह श्लोक बदलकर पढ़िये—सङ्गस्तस्मिन् प्रजायते। 'तेषु' नहीं, 'तस्मिन्'। एक परमेश्वरका ही संग हो जाता है। इस द्वितीय सोपानके बाद (३) तीसरा सोपान है 'सङ्गात् संजायते कामः' से विपरीतभाव। विषयों में आकर्षण होनेपर काम होता है भगवानमें आकर्षण होने पर प्रेम होता है काममें कच्चा सुख बताया। वह टूटनेवाला होता है। सुख टूटा तो काम भी टूटा। परंतु प्रेम ऐसा नहीं है। प्रेम बिंबके प्रति

होता है। उपाधि चलनसे प्रतिबिम्ब टूटता है। किन्तु बिंब नहीं टूटता। वह नित्य सुख है। अत एव प्रेम भी टूटनेवाला नहीं होता। देवर्षि नारदने भक्ति सूत्रमें उसे नित्य बताया है—

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमान-
मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्"

यहां प्रेमके लिए अविच्छिन्न विशेषण दिया है। यह टूटता नहीं है, यह कच्चा धागा नहीं होता। भगवत्प्रेम नित्य होता है। "सङ्गात् संजायते कामः" की जगह पढ़िये- सङ्गात् संजायते प्रेम। (४) इसके बाद चतुर्थ सोपान है। काम चूँकि कच्चा सुख लेकर हुआ अतः सुख प्रतिबन्धके प्रति क्रोधका होना निश्चित है। इसके विपरीत प्रेम जहां होता है वहां ईश्वर स्वयमेव बिम्बरूप आनन्द होने से, उसके टूटनेकी संभावना न होनसे क्रोधानल नहीं, शांति शीतलता होती है। विषय-कामना हो तो उसी विषयको चाहनेवाला दूसरा पहुंच जाय तो ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध होगा, कहीं मेरा यह छीन न ले। परंतु भगवत् प्रेम जहां है वहां दूसरा आ जाय तो और प्रेम बढ़ता है, बशर्त्ते कि यह भगवत्कीर्तन कथादि स्वार्थविषय प्रयुक्त न हो, भगवत्प्रेम प्रयुक्त हो। वहां जितना अधिक आवे इतना अधिक आनन्द-शान्ति होती है।

"स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्
भक्त्या सजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पलकां तनुम्"

दूसरा आता है तो वह भी भगवन्नाम सुनायेगा, कथा सुनायेगा, स्मरन्तः स्मारयन्तश्च न कि भगवानको छीन ले जायेगा। जैसे विषयोंको दूसरा छीन न ले जाय यह भय रहता है, वैसा भगवानके लिये तो नहीं ही होगा। हां स्वीय कीर्त्तनकी वाह-वाही चाहते होंगे या धनादि चाहते होंगे तो भय अवश्य हो सकता है। यहां तो "भक्त्या सजातया भक्त्या" भक्तिसे-भक्ति बढ़ती है। इसकी व्याख्या भिन्न प्रकारसे करते हैं—'साधन भक्त्या संजातया प्रेमलक्षणया साध्य भक्त्या' ऐसा

एक अर्थ करते हैं। अर्थात् साजन भक्तिसे प्रेमलक्षणा भक्ति हुई। किन्तु यह अर्थ भी "स्मरन्तः स्मारयन्त:" इन दो शब्दोंके बलसे प्राप्त होता है कि परस्पर भक्तिसे परस्पर भक्तिका अधिक प्रादुर्भाव होता है। दूसरा भक्त आता है तो उसकी भक्तिसे पहले भक्तकी-भक्ति दुगुनी हो जाती है। विषयस्थलमें तो विषयोंके छिन जानेका भय रहता है। एक श्वान रोटी खा रहा है, उस समय दूसरा श्वान आवे तो वह क्रोधसे भोंकता है। यही विषयोंके विषयकामनाकी कथा है। किन्तु भगवत्प्रेम स्थलमें प्रेम वृद्धि होती है और शान्ति होती है अतः 'कामात् क्रोजोऽभिजायते' की जगह पढ़ लेना चाहिये। **'प्रेम्णा संजायते शमः', प्रेम्णा शान्तिः प्रजायते।** प्रेम्णा भक्तिः प्रजायते आदि। इसके बाद (५) पांचवां सोपान है। शान्तिसे या भक्तिसे फिर क्या होगा ? इधर 'क्रोधाद् भवति संमोहः' बताया। संमोहका अर्थ कहा गया—वैचित्य विवेकनाश। इसके विपरीत भक्तिसे विवेक ख्याति होती है। नित्यानित्य विवेक, सत्यासत्य विवेक आदि भक्तिका परिणाम है। एक विवेकख्याति साध्यरूपा है, दूसरी साधन चतुष्टयमें आयी हुई है। जो भी हो, भक्ति उसमें कारण है—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्
साधनं प्रभवेत्वेपुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्

भक्तिसे भगवत्कृपा होती है। भगवत्कृपासे साधन चतुष्टयकी प्राप्ति होती है। **"भक्त्या मामभिजानाति"** भक्तिसे भगवदभिज्ञारूपी विवेक ख्याति भी होती है। 'मुह वैचित्ये' मोहका अर्थ है वैचित्य, विचिगताचित्तका अर्थ संज्ञान है। सम्यग् ज्ञान विवेक ख्याति है। अतः क्रोधाद् भवति संमोहः की जगह पढ़ लेना चाहिये—**भक्त्या भवति संज्ञानम्।** इसके अनन्तर (६) छटी सीढ़ी है। पतनमें संमोहात् स्मृति विभ्रम बताया। इसके विपरीत 'ध्रुवा स्मृतिः' संज्ञानसे होगी। स्मृति विभ्रम माने बची-खुची स्मृतिका नाश। ध्रुवा स्मृति इससे

विपरीत है। कभी भी नष्ट न हो, ऐसी स्मृति ध्रुव स्मृति। पहले कह चुके हैं—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृत्तिः"

आहार शुद्धिका अर्थ 'तानि सर्वाणि संयम्य' किया गया था। उसका साक्षात् फल नहीं, किन्तु परम्परया छठी सीढ़ीमें आने पर यह सब फल है ध्रुवा स्मृत्ति। ध्रुव स्मृति वह है जो अन्त समयमें भी रहती है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि फलाना इतने बड़े महात्मा हुए। किन्तु अन्य समयमें बेहोश रहे। उनकी क्या गति होगी? परंतु बेहोशीका क्षेत्र अलग है। ध्रुव स्मृतिका क्षेत्र अलग है। किसी को क्लारोफारम सुंघाकर बेहोश किया। अथवा बीमारीमें कोई बेहोश हुआ, तो क्या होश आनेपर अपने बाल-बच्चे घर आदि सबको भूल जायेगा? बेहोशीमें भी इन सबकी स्मृति रहती है। नहीं तो होश आनेपर भी स्मृति न होती। अमुक संत बीमारीमे बेहोश होकर मरे इसमे कौनसी बड़ी बात है। एक्सिडेंटमें मरते हैं तो निश्चय ही बेहोशी होगी, चाहे कितना ही बड़ा योगी क्यों न हो। यहां स्मृति-का अर्थ है दृढ़ संस्कार। बेहोशी शरीरकी चोटसे हुई। ध्रुव स्मृति मनमें होती है। वह दृढ़ संस्कार मात्र है। इसीलिये गीतामें— **"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर"** बताया। उससे संस्कार दृढ़ होता है। बड़ी ध्रुव स्मृति है। शरीराघात प्रयुक्त बेहोशी तो शरीरके छूटनेके साथ समाप्त होगी। तब कौनसी स्मृति आती है, यही देखना है। संमोहात् स्मृतिभ्रमकी जगह पढ़ो—**संज्ञानाच्च ध्रुवा स्मृतिः**। विवेक विज्ञानसे परमात्म विषयकानुस्मरण चलेगा—'मामनुस्मर' यह स्मरण परम्परा ही वह है। इसके अनन्तर (७) सातवीं सीढ़ी बुद्धिनाशसे विपरीत है। स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश होता है। इसके विपरीत ध्रुव स्मृतिसे पराबुद्धि उत्पन्न होती है। इसीको वेदान्तमें ब्रह्मसाक्षात्कार बताया। श्रवणसे विवेकख्याति समझ लो। मननसे

ध्रुव स्मृति होती है, निदिध्यासनसे पराबुद्धि ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार होता है। इसीको प्रबोध भी बताया है।

"यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये"

प्रबोध गया। दीर्घ निद्रासे जागृत हो गये। तब आत्म तत्त्व-साक्षात्कार होता है। स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशः के विपरीत यहां भी पढ़ना चाहिये "ध्रुवा स्मृतेः परावुद्धि, ध्रव स्मृतेः प्रबोधश्च इत्यादि। अन्तिम तो सीढ़ी नहीं है। वह परिणाम मात्र है। उसे (८) आठवां सोपान न कहकर फल कहना ही उचित है। बुद्धि नाशका फल बताया गया—प्रणश्यति। महती विनष्टि—महाविनाश। उसके विपरीत प्रबोध होने पर परिपूर्णता होती है। **प्रबोधात् परिपूर्णता** या बुद्धिर्भवतिपूर्णता ऐसा पढ़ लेना चाहिये। ब्रह्म तत्त्वज्ञान होने पर वह स्वयमेव ब्रह्मरूप होता है।

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"

ऐसा श्रुतिमें बताया है। ब्रह्मका अर्थ है वृहत् कालदेशवस्तु परिच्छेदरहित परिपूर्ण तत्त्व। ब्रह्म बोध होते ही जीवित अवस्थामें ही ब्रह्मरूप होने लगता है। प्रारब्ध क्षयसे लेशाविद्या निवृत्त हो जाती है तो पूर्ण रूपेण अवस्थिति होती है। इस बातको आचार्योंने भी बताया है—

प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्"

यही ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार होनेपर पूर्णता है। इस प्रकार ऊर्ध्व-सोपानोंको समझानेके लिये अधःसोपान वर्णन किया। हम मध्यमें खड़े हैं। सात सीढ़ी नीचेकी ओर हैं और सात सीढ़ी ऊपरकी ओर हैं। चाहे नीचे गिरो चाहे ऊपर उठो। ऊपर उठनेके लिये गुणपरि-वर्त्तन करना पड़ेगा। अतः अब गुणों पर भी विचार करना आव-श्यक है।

अध:पतन सोपानोंमें, सातोंमें मुख्य तमोगुण है। यह पहले बताया। इसके विपरीत ऊर्ध्व सोपानोंमें मुख्य सत्त्वगुण है। रजोगुण तथा तमोगुण उपसर्जन होंगे। (१) प्रथम भगवत् ध्यान है। केवल ध्यानके लिये बैठते हैं तो प्रमाद आलस्य या निद्रा आ जाती है। यह तमोगुण है। शुरुआतमें तमोगुण आता ही है। जिससे स्पष्टरूप दिखाई नहीं पड़ता। चाहे साकार हो चाहे निराकार। आवरण तो प्रथम आता ही है। स्पष्ट रूप सामने नहीं आता। अत: तम उपसृष्ट सत्त्वगुण ध्यानमें समझो। (२) भगवत्सङ्गका अर्थ भगवदाकर्षण बताया। आकर्षणमें खींचा-तानी रहती है। तब थोड़ा-सा रजोगुण भी होता है। पहले स्वरूप आता ही नहीं था। लेकिन अब आने-जाने लगा। अत: रजोमिश्रित तम उपसर्जन हुआ संगमें। मुख्य तत्त्वगुण ही रहेगा। (३) इसके बाद भगवत्प्रेम शुरू होता है। प्रेममें मुख्य तो सत्त्वगुण है ही किन्तु तमोमिश्रित रजोगुण उपसर्जन रहेगा। भगवत् प्रेम होने पर नृत्यगान आदि भी होता है। मनमें भी चञ्चलता होती है। व्यामोह होता है। इसके बाद (४) चौथी भक्ति है। भक्तिमें भी उपसर्जन रूपसे रजोगुण होता है, जिससे व्याकुलता होती है।

"तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च"

इस प्रकार नारदजीने भक्तिमें भगवत्स्मरण होने पर भारी व्याकुलता बतायी है। अत: भक्तिमें भी रजोगुण है ही। क्वचित् रोदन, क्वचित् हंसन आदि रजोगुण कार्य-भक्तिमें भी प्रसिद्ध है। भक्तिके बाद विवेकख्याति (५) पांचवीं है। उसमें सत्त्व मिश्रित रज उपसर्जन है। विवेकके लिये विशेष रूपेण उपसर्जनमें भी सत्त्वगुण आवश्यक है। किन्तु रजोगुण भी रहता है। विवेकख्याति मात्र जब होता है तब प्रवृत्तिमें साधनामें लगे रहते हैं। (६) छठीं ध्रुवा स्मृति है। उसमें रजोगुण बहुत न्यून हो जाता है। तब रजोमिश्रित सत्त्वगुण उपसर्जन पड़ता है। थोड़ी कमी ध्रुव स्मृति कालमें

सिद्ध है। अत: लेश रज उस समय रहता है। (७) सातवीं सीढ़ी ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार है। वह उपसृष्ट भी सत्त्वगुण है और उपसर्जन भी सत्त्वगुण है। सत्त्वगुणका ही बोलबाला है। अत्यन्त विशुद्ध सत्त्वगुण उस समय उभर आता है। तभी ब्रह्मका प्रकाश होता है। (८) इसके बाद आठवां सोपान नहीं है, लक्ष्य है। अत एव उस अवस्थाको गुणोंके अंदर नहीं ला सकते। उसे वेदान्तके शब्दोंमें गुणातीत अवस्था कहनी चाहिये। गीतामें इसी गुणातीतका वर्णन चौदहवें अध्यायमें आया है। गुणातीत अवस्था ही परिपूर्ण स्थिति है।

यह पतन या उत्थान दो घंटेका काम नहीं है कि ध्यान होते संग हो गया, काम क्रोध हो गया फिर स्मृति नाश बुद्धिनाश हुआ। थोड़ा क्रोध किया तो क्या बुद्धि खतम हो जाती है? धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी मजबूत होती जाती है काल-क्रमसे। कई वर्ष भी लग सकते हैं, कई जन्म भी हो सकते हैं। कोई मनुष्य अति कामी होता है जैसे रावणादि कोई जन्मसे ही क्रोधी स्वभावके होते हैं जैसे दुर्वासा। इस प्रकार पतन कई जन्मोंमें जाकर हो सकता है। अतएव हमने क्षणिक काम-क्रोधादि मात्र अर्थ न कर गुणोंपर ले गये। प्रकृतिसे यह व्यक्ति कैसा? तमः प्रधान या सत्त्व प्रधान या मध्यमें स्थित है। तमः प्रधान हो तो पतनकी ओर है। फिर भी सुधारनेका अवसर है। ऐसा नहीं कि काम-क्रोध हो गया तो तुरत प्रणाश ही हो गया। तमः प्रधान होनेपर भी अवसर निरीक्षण करो कि उपसर्जन किस कोटिका है। सत्त्व उपसर्जन है या सत्त्वमिश्रित रज इत्यादि उपसर्जन है। उसे अच्छी तरह पहचानकर ऊपर उठानेका प्रयास किया जा सकता है। हां, जन्म-जन्मांतरके बुरे संस्कारोंसे कहीं अन्तिम सीढ़ीपर जा खड़े हो गये हो तो फिर उठना असभव होगा। फिर तो "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" वाली बात ही होगी। उस स्थिति तक पहुंचा हुआ व्यक्ति सत्संगादिमें किसी भी हालतमें नहीं पहुंच सकता। वे ही ईश्वर निन्दक सत-निन्दक आदि रूपमें दीखते हैं।

यों समझ लो कि संमोहसे लेकर चार उत्तर सोपानोंमें पहुंचा हुआ व्यक्ति सत्संगमें नहीं पहुंच सकता। उसका फिर नाशात्मक पतन ही होता जायेगा। इसलिये चारको नाशात्मक बताया। हां, ध्यान, संग, काम, क्रोध इन चारमें से किसीमें हो तो भी विवेक-नाश होनेसे पूर्व चेत जावो तो ऊपर आरोहण हो सकेगा। आपके अंदर भगवत्प्रेम है। सत्संग प्रेम है, अतः आप ऊर्ध्व सोपानमें भी हैं। अब अधः सोपानका त्याग करना और ऊर्ध्व पर चढ़ते जाना इन दोनों पर ध्यानको केन्द्रित करना चाहिये। यहां एक विशेषता यह है कि अधः सोपान खतम होने पर ही ऊर्ध्व सोपान हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। अतः ऊर्ध्व सोपानमें रहते हुए भो अधः सोपानके त्यागके लिये भी यत्न करते ही रहना पड़ेगा, एतदर्थ ही श्लोकद्वयका उत्थान हुआ है ॥ १० ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। २-६४ ।।

[अन्तःकरणको स्वाधीन किये हुए पुरुष राग द्वेष रहित स्वाधीन इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है]

ध्यायतो विषयान् पुंसः इत्यादि दो श्लोकोमें आठ पतन सोपान बताये। इनमें प्रथम विषय ध्यान और दूसरा संग है। दोनोंका सामान्य अर्थ इतना ही है कि विषयोंका चिन्तन करनेवालेका विषयोंसे सम्बन्ध होता है। उसका परिणाम काम क्रोधादि क्रमसे पतन है। इतना ही यदि अर्थ है तो उत्थान केवल एक कहानी मात्र मानना होगा। एक असम्भव बातका प्रतिपादन मात्र होगा। ध्यानका अर्थ है चिन्तन। ऐसा कौन व्यक्ति इतिहासमें प्रसिद्ध है, जिसने विषय चिंतन ही न किया हो और विषय संग भी न किया हो। मनुष्य नामका कोई पत्थर तो है नहीं, जो चिन्तन ही न करे। शब्द स्पर्शादि पांच विषय हैं। हमेशा किसी न किसीका अनुभव करते है तो चिन्तन भी चलता ही रहता है। शब्द स्पर्शादिका संग भी श्रोत्रादिसे होता ही रहता है। अतः स्थितप्रज्ञता तो गगनकुसुम, शशविषाणादिके समान शब्दमात्र ही है। इस पूर्वपक्षका उत्तर बड़ी गंभीरताके साथ भगवान इस श्लोकमें दे रहे हैं—रागद्वेषवियुक्तैः इत्यादि। इस श्लोकमें इन्द्रिय और मनको सुधारनेकी बात बतायी गयी है। हमने ध्यायतः का अर्थ विशिष्ट ढंगसे पहले बताया है। उसीका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें है। भगवान कहते हैं कि तुम प्रथम इन्द्रियोंको राग द्वेष रहित बनावो, मनको भी वशमें करो। जिससे मनमें प्रसन्नता होगी और बुद्धि पर्यवतिष्ठते—स्थितप्रज्ञता होगी।

रागद्वेषवियुक्तैः। यह इन्द्रियोंका विशेषण है। प्रथम अपनी इन्द्रियोंको रागद्वेष रहित बनावो। फिर विधेयात्मा-मनको काबूमें करो। किंतु यह प्रश्न होता है कि राग-द्वेष इन्द्रियोंमें होता है। या मन में ? स्पष्ट है कि रागद्वेष इन्द्रिय धर्म नहीं है, मन धर्म है। श्रुतिमें बताया है—

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव"

काम, राग, द्वेष, संशय, श्रद्धा, भक्ति, धैर्य आदि सभी मन ही है। मनके ही ये धर्म हैं। मनके धर्म हैं तो आत्माके नहीं यह निश्चित है और इन्द्रियोंके भी नहीं। तब रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः यह विशेषण व्यर्थ ही है। यह अप्राप्तका प्रतिषेध हुआ। कोई कहे कि मेरे प्लेटमें हाथी नहीं है। हाथी प्लेटमें आयेगा ही कैसे कि उसका निषेध करना पड़ रहा है। अतः गीताकी यहां अपनी एक अलग विशिष्ट प्रक्रिया ही निश्चित होती है। आगे जाकर स्वयं भगवान कहेंगे।

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ"

यहां स्पष्ट रूपसे विधि है। प्रत्येक इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रति राग और द्वेष रहता है। अतः गीताकी प्रक्रियाको भी जानना आवश्यक है।

प्रक्रिया इस प्रकार है कि वस्तुतः सभी संसार आत्मदेवकी पूजामें लगा हुआ है। यह बात सांख्यशास्त्रकार भी मानते हैं। सांख्यकारिकामें बताया है—

"संघातपरार्थत्वात्"

यह सारा जगत् संघात रूप है। अनेक मिलकर एक-एक बना हुआ है। मकान संघात है—ईंट चूना लोहा सिमेन्टका संघात है—समुदाय है। वस्त्र संघात है। भोजन संघात है। शरीर संघात है। पृथिवी जलादि संघात है। संघात हमेशा पदार्थ होता है। मकान मकानके लिये नहीं, आदमीको रहनेके लिये है। घट-घटके लिये नहीं,

पानी रखनेके लिये है। सारा संसार संघात रूप है। आखिर प्रकृति भी सत्त्व रज तमका संघात है। यह परार्थ ही होना चाहिये। दूसरेके लिये ही होना चाहिये। वह दूसरा भी यदि संघात हो तो उसके लिये तीसरेको ढूंढ़ना पड़ेगा। अत वह दूसरा–पर असंघात रूप ही होगा। प्रकृतिका स्वभाव है कि संघातको असंहत पुरुष तक पहुचावे। वह जैसा तैसा भी हो। वहां पहुंचना हो न हो, गति उसी ओर रहेगी। इसी लिये प्रकृतिने इन्द्रिय मन आदि को तैयार किया। उसका पूरा प्रयत्न पुरुषार्थ है।

"स्वार्थ इव परार्थं आरम्भः"

इस प्रकार सांख्यवालोंने बताया है। प्रकृतिसे शब्दस्पर्शादि सभी विषय हुए। इन विषयोंको लेकर इन्द्रियां अन्तःकरणके पास पहुंचती हैं। अन्तःकरण उन विषयोंको लेकर आत्मदेवकी पूजा करता है। आत्मदेवको समर्पण करता है। अन्तःकरण भी एक नहीं चार हैं। विषयोंको लेकर इन्द्रियां मनको समर्पण करेंगी। मन बुद्धिको। बुद्धि चित्तको। चित्त अहंकारको और अहंकार आत्मदेवको समर्पण करेगा।

यह समर्पण कैसे होगा? विषय बाहर है। वह आत्मा तक कैसे पहुंचेगा। सामने एक पुष्प पड़ा है। उसे भले देखते रहो। किन्तु वह बाहर ही पड़ा रहेगा। आत्मा तक तो नहीं ही पहुंचेगा। आत्मा तक वह कैसे पहुचेगा? उत्तर है छायाके द्वारा प्रतिबिम्बके द्वारा। हम पहले इसका वर्णन कर आये हैं। प्रथम इन्द्रिय मनः संयोग होता है तो इन्द्रिय वृत्ति पैदा होती है। उसके बाद मनोवृत्ति होगी। तदनन्तर बुद्धि वृत्ति, फिर चित्तवृत्ति, अन्तमें अहंकार वृत्ति होती है। विषयकी छाया सर्वत्र पड़ती जाती है। प्रथम विषयच्छाया इन्द्रिय पर पड़ी। वहांसे मन पर वहांसे बुद्धिपर, वहांसे चित्तपर, फिर अहंकार पर। अहंकारने उसी छायाको आत्मा पर डाला। वहां वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। आध्यामिक सम्बन्ध मात्र होता है। आंखोंसे पुष्परूप देखा। मनमें यह कोई चीज है। कैसा है, क्या है, इसका निर्णय

बुद्धि करती है। बुद्धि कहेगी यह पुष्प ही है। अच्छा है या बुरा है। उपयोगी है या अनुपयोगी है। इसके बाद चित्त उस पर चिंतन करेगा कि मेरे लिये यह ग्राह्य है या त्याज्य है या उपेक्षणीय है। विचारकर एक नतीजे पर आया तो अहं उस पर जुड़ेगा। अहं गृह्णामि, अहं त्यजामि, अहमुपेक्षे। बस यही आत्मा पर प्रतिबिम्बित होता है। अहं गृह्णामि ममेदमस्तु इसके बाद प्रवृत्ति हुई और ग्रहण किया या विपरीत त्यागा। जो भी हो इनमेंसे ग्रहण त्याग या उपेक्षा इन तीनमें एक तो होगा ही।

यह तो प्रकृतिका कार्य बताया। इतना कार्य तो प्रकृति करेगी ही। इसमें हेर फेर, जोड़ना, घटाना हमारा—आपका काम है। हम क्या करते हैं? जब इन्द्रियों पर विषय आता है तो एक प्रकारका रसायन बाहर लाते हैं। जिससे इन्द्रियों पर विषयोंकी छाया चिपक जाती है। पहले हम कह आये हैं कि ये इन्द्रियां कभी दर्पणके बराबर होती है और कभी फिल्म नेगेटिवके समान। इन्हें जैसा बनाना हमारा काम है। रसायन अगर तद्भूत हुआ तो नेगेटिवके समान होगी अन्यथा दर्पणके समान होगी। वह रसायन क्या है? ये दो हैं। इन्ही दो का यहां वर्णन है—"रागद्वेषवियुक्तैः" इस शब्दमें। राग और द्वेष ये दो रसायन हैं। नाट्यशालामें पहुंचे। नटियोंका नृत्य हो रहा था। नृत्य देखा और देखते रहे। बड़ा आनंद आया। उस नटी पर ही मुग्ध हो गये। बार-बार फिर आंखोंके सामने वही नटी नाच रही है। उसे देखनेकी इच्छा हो रही है। आडिटारियममें जो पैसा नहीं खर्च सकते उन लोगोने रास्तेमें बंदरोंकी नाच ही देखा। बड़ा आनंद आया। बादमें वही नाच आंखोंके सामने दीख रही है। यह क्यों? नाच देखते समय आंखों में राग रसायन प्रकट हुआ। और नृत्य छाया आंखोंमे लग गयी। आप कहेंगे—यह तो एक मनोरंजन है। उसे देखनेमें क्या हर्जा? और राग भी हुआ तो क्या हानि? पहले जमानेमें राजा लोग नटियों पर मुग्ध होकर

शादी तक भी करते थे। पूछेंगे उसमें भी क्या हानि? आप ही समझ लो, उससे कोई हानि होती है या नहीं। शादी करना तो दूर, केवल वासना होने पर, केवल राग रसायन उद्भूत होने पर भी भारी हानि है। महर्षि जमदग्निकी पत्नी रेणुका थी। पति महान ऋषि—तपस्वी थे। पत्नी भी कम नहीं थी। भारी तपस्विनी थी। तप क्या है ?

"कायेन्द्रियशोषणं तपः"

ऐसा तपका लक्षण बताया है। शरीर और इन्द्रियोंका शोषण करना तप है। लोग इसका अर्थ लगाते हैं कि खाये पिये बिना या ध्रुवके समान केवल पत्ते खाकर रहना और शरीर तथा इन्द्रियोंको सुखाना तप है। तब फिर "शरीरशोषणं तपः" इतना ही करना चाहिये था। इन्द्रियोंका शोषण क्या है ? क्यों ? वस्तुतः शोषण यहां दूसरे ढंगका शोषण है। रागादि रसायन उत्पन होने न देनेसे जो शोषण है वही यहां अभिप्रेत है। जैसे मुंहमें पानी उद्गम नहीं हुआ तो मुंह सूख गया, पसीना न होनेसे शरीर सूखा। वैसे इन्द्रिय शोषण राग रसानुत्पत्ति से होता है। यह राग रस बाहरकी ओर न जावे तो भीतर आत्माकी ओर बढ़ता है। उसमे एक दिव्यशक्ति पैदा होती है। तपस्वी ब्रह्मचारी होते हैं। ऊर्ध्वरेता होते हैं। उससे अंदर एक दिव्यशक्ति उद्भूत होती है, जो परमार्थ मार्गमें अत्यन्त उपयोगी है। समस्त इन्द्रियोंमें विद्यमान रागादि रसायनको बाहर निकाले बिना उर्ध्वगति कराना चाहिये। ब्रह्मचर्यसे ऊर्ध्वरेता होते हैं। समस्त इन्द्रियों के संयमनसे ऊर्ध्वशक्ति होती है। ऊर्ध्वशक्ति बनना ही तपश्याका लक्ष्य है। वह चाहे स्त्री हो या पुरुष। शक्ति संपादनमें समान होते हैं। क्रियायें अलग-अलग होती है। अनेक वर्षोंकी तपस्याके प्रभावसे रेणुकामें दिव्य शक्ति प्रकट हो गयी थी। कहते हैं कि वे नर्मदाजीमें जाकर रेतको जोड़ती थी। उससे तत्काल घड़ा बनालेती थी। उसीमें भर कर पतिदेवके नित्यकर्मके लिये रोज

लाती थी। यह एक छोटीसी शक्तिका स्वरूप था। बड़ी शक्तियां तो अन्य अनेक होती हैं। एक दिन इसी प्रकार प्रातःकाल नर्मदा किनारे नहाने और पानी भरने गयी तो वहां गन्धर्व राज चित्ररथ अपनी स्त्रीयों के साथ-गन्धर्वियोंके साथ जल क्रीड़ा कर रहे थे। फिर क्या था— वहां शब्द स्पर्श रूपादि सभी आकर्षक हो रहे थे। गन्धर्वगांत तो प्रसिद्ध ही है मधुर-मधुर आवाज कानमें मानों अमृत घट उड़ेल रही हो वैसा आनन्ददायी प्रतीत हुआ। गन्धर्वोंका रूप वैसे ही सुन्दर होता है और क्रीडा कालमें और अधिक आकर्षक होता है। रेणुका खड़ा-खड़ी देखने लगी, परंतु उससे क्या मालूम था कि श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें जो राग रसायन उद्भूत हो रहा है, यह अदरकी संचित शक्तिको इन्द्रिय द्वारा बाहर फेंक रहा है। देख-देखकर इन्द्रियां आनंदमग्न हो गयी। गन्धर्व गन्धर्वियां तो चली गयीं। किन्तु इधर बालूसे घड़ा बनाने बैठी तो आज घड़ा ही नहीं बन रहा है। पूरा ध्यान लगाया शक्ति लगायी। हाथोंसे बालूको खूब-खूब दबाया। लेकिन यह हाथोंकी अंगुलियोंकी ताकतसे घड़ा नहीं बनता रहा है। वह तो आन्तरिक शक्तिसे बनता था। वह शक्ति राग-रसायनके उद्भूत होते ही स्रवित हो गयी थी। अब आपको मालूम हो गया होगा कि रागसे क्या हानि होती है? नटीका नाच हो चाहे वंदरकी नाच हो, यदि राग प्रकट हुआ तो शक्तिक्षय होगा। शरीरमें कोई शक्तिक्षय प्रतीत नहीं होगा। आंखें कमजोर हो जाय, ऐसा भी बात नहीं है। यह एक दूसरी शक्ति है, जिसका उपयोग स्थित प्रज्ञाताके लिये आवश्यक है। कोई संसारी कहे कि ये सब फालतू है। नटियोंकी कला देखो, आनंद लो। आनंदकी वस्तुएं उपभोगार्थ ही हैं। तो ऐसे लोगोंके लिये यह उपदेश नहीं हो सकता। जो स्थितप्रज्ञ होकर आत्मन्नति करना चाहता हो, उनके लिये कहा जा रहा है—"रागद्वेषवियुक्तैः"।

आत्मवश्यैः । इन्द्रियोंको रागद्वेषसे रहित कैसे बनायेंगे ? इसका उत्तर है कि इनको अपने वशमें रखो । इनको बराबर शिक्षित करो और लगामको मजबूतीसे पकड़े रखो । कठोपनिषदमें इन्द्रियोंको घोड़े बनाये हैं—

"इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्"

इस शरीररूपी रथके घोड़े इन्द्रियां है। घोड़ेको प्रथम शिक्षित किया जाता है। रथ पर या गाड़ीपर घोड़ोंका जोतते हैं तो प्रथम कोचवान्—सारथि पूरी शिक्षा देता है। किस ओर खींचने पर मुड़ना चाहिये। कैसे खींचने पर रूकना चाहिये। अश्वनृत्य होता है। उसके लिये और एक प्रकारसे लगाम खींच रखते हैं। अनेक प्रकारके इशारे होते हैं। इन इशाराको पूरी तरहसे सिखने पर ही रथपर या यात्री गाड़ी पर घोड़ा जोता जाता है। शिक्षा दिये बिना जोतलेवें तो कहीं का कहीं पहुंच जायेगा। किसी खड्डेमें गाड़ीको और यात्रीको भी गिरा देगा। शिक्षित होन पर भी लगाम हाथमें होना ही चाहिये। दशेन्द्रिय दस घोड़े हैं, इनसे जुता हुआ यह शरीर है। समस्त इन्द्रियोंका बागडोर हाथमें चाहिये। एक अच्छा सत्संगी सज्जन था। मैंने कहा, मरीनड्राईव समुद्र किनारे घूमनेके लिये बहुत अच्छा है। घूमनेके लिये इतना अच्छा स्थान अन्यत्र दुर्लभ होता है। इतना सुनते ही उसने कहा, लेकिन वह घूमने योग्य नहीं है। मैं वहां घूमने नहीं जाता हूं। वह वृद्ध जैसा था। फिर भी मनमें शंकालु था। मैंने पूछा क्यों घूमने नहीं जाते ? उसने कहा—निःसंकोच वहां प्रेम विवाह होना है। दृश्य खराब रहना है। मैंने कहा—तब आप बहुत अच्छा करते हैं। आंखोंमें कोनोंमें राग उत्पन्न न हो इसलिये आप संयम अच्छा करते हैं। परंतु इससे भी श्रेष्ठ मार्ग है, इन्द्रियोंको वशमें रखना। उस तरफ आखें जावे ही क्यों ? और गयी भी तो चक्षुरादि इन्द्रियोंमें रागादि रसायन उद्भून ही क्यों होने दें ? तीन प्रकारका भाव होता है। एक सुष्ठुभाव, दूसरा

दुष्ठुभाव, तीसरा अनुभयभाव। इन्द्रियोंको अच्छा लगने लगता है तो सुष्ठुभाव आता है। बुरा लगा तो दुष्ठुभाव आता है। अच्छा भी नहीं लगा, बुरा भी नहीं लगा तो वह अनुभयभाव है। इसीको उपेक्षा भी कहते हैं। रास्तेमें चलते समय कितनी चिड़िया, पशु-पक्षी दीखते हैं। तो क्या कोई न कोई भाव पैदा करते रहेंगे? वे अपने कार्यमें लगे हैं। हम अपने कार्यमें लगे हैं। यह उपेक्षाभाव हो तो आप कहीं भी जाईये, कहीं भी घूमिये कोई फरक नहीं पड़ेगा। सुष्ठुभाव और दुष्ठुभावको मिलाकर न्यायशास्त्रमें एक शब्दका प्रयोग किया है—अपेक्षाभाव। अच्छा कहने पर किसकी अपेक्षा अच्छा? यह प्रश्न होता है। बुरा कहने पर भी किसकी अपेक्षा बुरा, यह प्रश्न होगा। दोनोंमें अपेक्षा है। अच्छा है तो प्राप्त होनेकी अपेक्षा होगी। बुरा हो तो दूर हटानेकी अपेक्षा होगी। कहते हैं कि एक बार सिकंदरने संतसे कहा—महाराज कुछ सेवा फरमाओ। मुझसे कुछ भी अपेक्षा करो। संतने कहा—तेरेसे अपेक्षा यही है और सबसे बड़ी सेवा यही होगी कि आयंदेके लिये यहां न आओ। खैर, यह अपेक्षा और ढंगकी है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि सुष्ठुमें अनुयोगी रूपसे अपेक्षा है तो दुष्ठुमे प्रतियोगी रूपसे अपेक्षा है। अपेक्षा बुद्धि जहां शुरू हुई वहां राग रसायन या द्वेष रसायम उद्‌भूत होगा। इस अपेक्षा भावको उद्‌भूत होने न देनेकी शक्ति ही "आत्मवश्यैः" से बताया गया।

दुष्ठुभाव हुआ तो बायीं ओर जो खड्डा है, उस तरफ नीचेकी ओर घोड़े खींच गिरानेकी तैयारीमें हैं, ऐसा समझना। यदि सुष्ठु-भाव उद्‌भूत हुआ तो दाहिनी ओर टीला है। घोड़े उसपर चढ़ने जा रहे हैं। चढ़नेका भी परिणाम चढ़ना नहीं, गिरना ही है। क्यों-कि टीलेपर मार्ग विकट है। यह हिमालयका मार्ग है। पहाड़ोंको काटकर रास्ता बनाया हुआ है। बायीं ओर घूमा तो खड्डा है। दाहिनी ओर टीला है। सीधे मार्गके घोड़ोंको ले चलना है। अपेक्षा-

भाव और उपेक्षाभावके लिये दूसरे शब्द है—समभाव और विषम-भाव। उपेक्षाभावसे चल रहे हैं। वह कब होगा ? जब समता रहेगी। सुष्ठु-दुष्ठु दोनोंमें विषमता रहती है। आत्मवश्यैः कहनेका मतलव है - इन्द्रियोंको समभावसे ले चलो। सीधी सड़कसे से चलो। यदि सही रास्तेसे—समभावरूपी रास्तेसे चलो तो नीचे गढा और ऊपर टीला, दिखाई पड़ने पर भी कोई अंतर नहीं होगा।

विधेयात्मा। इन्द्रियोंको रागद्वेष रहित बनाओ। इन्द्रिय रूपी घोड़ोंको अपने बशमें रखो। इससे विषयच्छाया बन्धक रस रसायनके अभावमें इन्द्रियां विषयाबद्ध नहीं होंगी, यह बताया। इसके लिये मूलतः कहांसे पुरुषार्थ प्रारम्भ करना ? इसके लिये कर्त्त विशेषण है—विधेयात्मा। यहां आत्माका अर्थ अन्तःकरण मात्र है न कि परमात्मा या जीवात्मा। अन्तः करणमें ही मुख्यरूपमे विषय बन्धक रस रसायन है। उसके बाद इन्द्रियोंमें वह उद्भूत होता है। इमको थोड़ा उदाहरणके द्वारा समझो। किमीकी आदत है गुड़ खानेकी। मीठा बहुत अच्छा लगता है। मनमें गुड़ खानेकी बड़ी इच्छा है; किन्तु मलेरिया बुखार चढ़ा, जीभ फीकी हो गयी। खानेकी इच्छा नहीं रही। यह राग जो अभिभूत हुआ सो मनका या इन्द्रियका ? मनमें तो पूर्व खाये हुए गुड़का संस्कार बैठा है। वैसा स्वाद आवे यह इच्छा है। परन्तु इन्द्रियोंने जवाब दे दिया। वहां राग अभिभूत हुआ। हम कैलाश मानसरोवर जा रहे थे। हमारे साथमें और भी दस-बारह थे। 'साथ' मतलब कोई मडली बनाकर नहीं जा रहे थे, किन्तु साथ हो गये थे। उनमें किसीके पास मिठाई-आचार आदि बहुत थे। हमारे पास खास वस्तु नहीं थी। कैलासके आस-पास जब पहुंचे तकलाकोटसे आगे बढ़े तो खाना फीका लगने लगा। किसीने आचार दिया तो एक-दो दिन अच्छा लगा। किन्तु उसमें विशेष स्वाद फिर नहीं रहा। हमने सोचा कि यह आचार अच्छा नहीं होगा। यात्रा करीब समाप्त हुई तो साथी जो थे वे लोग

कैलासकी महिमा गाने लगे कि बड़ा विलक्षण पर्वत है यह। कोईभी आचार हो, कोई भी मिठाई हो, एक दिन अच्छी जैसी लगती है, दूसरे दिन फीकी। चाहे आमका आचार हो चाहे नींबूका, चाहे लड्डू हो चाहे चूर्मा। सब फीका ही फीका। मैंने कहा—अरे भाई यह पंद्रह-बीस दिन पहले क्यों नहीं कहा ? वे पूछने लगे—क्यों ? हमने कहा—ये लोग बढ़िया आचार मीठाई खाकर मौजकर रहे हैं, हमको तो फीकी-फीकी रोटी और नमक मिर्चा मात्र मिल रहा ऐसा हमने समझा। खैर अभी तो बताया, अच्छा किया। हमको संतोष हो गया कि हम आप बराबर ही रहे। केवल आपने बोझा अधिक ढोया। बात यह थी कि हमारे मनमें थोड़ा आचार आदि खानेका राग रहा। परंतु मुझे स्वयं पता नहीं था कि मेरी जीभमें राग खतम हो चुका है। खानेवालोंको अनुभव हो गया। हमको नहीं हुआ इतनी विशेषता रही। फिर हमने कहा, यहां शंकर भगवान वीतराग होकर तप करते रहे तो हमारी जीभ पर भी राग नहीं रहा। यहां और गौरीशिखरमें तप करनेसे नारदजीका भी थोड़े समयके लिये काम राग मिट गया था, तब नारदजीनेभी समझा था कि मैंने कामको जीत लिया। असलमें यह जो इन्द्रियोंमें फीकापन हुआ वही नारदजीको भी हुआ होगा। कहनेका अभिप्राय यही है कि मननें राग-द्वेष अलग है, इन्द्रियोंमें राग-द्वेष अलग है। दोनों अन्योन्याश्रित अवश्य हैं, फिर भी अलग-अलग ही हैं। प्रथम सुखानुभूतिसे इन्द्रियमें राग हुआ थोड़ासा। तब मनमें राग हुआ। फिर उससे इन्द्रियमें राग बढ़ा। उससे मनमें और बढ़ा, इस प्रकार दोनों उत्तरोत्तर बढ़ते-घटते रहते हैं। वृद्धावस्था आ जाती है तो इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती हैं, उनमें रागादि भी शिथिल हो जाते हैं। किन्तु मनमें राग पूरी तरहसे रह जाता है। इन्द्रियां शिथिल और मन मजबूतका क्या अर्थ ? इन्द्रियोंमें रागादि कम और मनमें रागादि प्रबल। किसी-किसी वृद्धमें खानेकी भारी तृष्णा रहती है। खाता भी बहुत है, तो उसकी

रसना कहां निर्बल है ? अतः रागसे प्रबलता होती है। राग नष्ट हुआ तो मनभी निर्बल ही माना जायेगा। हां, मनको नियंत्रणमें करेंगे तो धीरे-धीरे इन्द्रिय राग भी शिशिल पड़ जायेगा। किन्तु दोनोंको साथमें ही ले चलना होगा। केवल मन पर चोट करते रहनेसे ही पूरा नहीं होगा। इसलिये "राग-द्वेष वियुक्तैः इन्द्रियैः" भी कहा और 'विधेयात्मा" भी कहा।

विषयांश्चरन्। शब्द स्पर्शादि विषय हैं। उनका चरण अर्थात् उपभोगसेवन करते रहें। कानमें रुई लगाना नहीं है। आंख पर गांधारीके समान पट्टी बांध रखना नहीं है। यद्यपि यहां रामानुजाचार्यने चरन्का नाशयन् अर्थ करके विषयवर्जन अर्थ किया है, किन्तु भगवान शंकराचार्यने ऐसा अर्थ नहीं किया है। कारण देखने-सुनने आदिसे कोई हानि नहीं है। बल्कि खाना-पीना बन्द करेंगे तो ही जीना असंभव हो जायेगा। आचार्यका कहना है कि शरीर निर्वाहके उपयोग सभी विषयोंको ग्रहण करो। विचार करते-करते दिमाग थक गया, चक्कर आने लगा तो उसके दवाके रूपमें संगीत भी सुनो तो उससे कोई हानि नहीं है। केवल रागसे चिपकना नहीं चाहिये, द्वेषसे जलना नहीं चाहिये। इसी रीति भोजन भी है। सभी विषय दवाके रूपमें ग्रहण करो।

"क्षुद्रव्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिन"

आचार्य कहते हैं क्षुधा भी एक व्याधि है। भोजन उसका औषध है। औषध भले मीठा हो फिर भी आवश्यकता होने पर ही सेवन किया जाता है। दवाको बिना बिमारी खावे तो क्या होगा ? मालूम है या नहीं ? यही कि बिमारी न हो तो वह बिमारी होगी। यात्रा-के दरमियान एक महात्माने सेक्रीन खरीदा था। क्यों कि दो चार गोली डाल दे तो चाय मीठी हो जायेगी। एक डाक्टरने कहा, यह डायबिटीसके समय खानेकी है। उसके बिना खाओगे तो शक्कर

पाचन शक्ति धीरे-धीरे कम होकर न आनेवाली भी शक्करकी बिमारी आ जायेगी। अतः जितनी व्याधि उतना ही औषध सेवन करो। इन्द्रियोंको उतना ही भोजन दो जितना आवश्यक है। यही "तानि सर्वाणि संयम्य" में संयमनका भी तात्पर्य है। आवश्यक जितना उतना सेवन करो, सो भी फलाहार पवित्राहार करो।

प्रसादमधिगच्छति। इन्द्रियोंको रागद्वेष रहित कर वशमें रखो। और अन्तःकरणको भी विधेय बनाओ। आत्मासे अन्तःकरण लिया। जिसमें पहले व्याख्यात मन बुद्धि चित्त अहंकार चारों ही ग्राह्य हैं। विधेय बनने का अर्थ है—अपने 'अण्डर' करना। अपने नियन्त्रणमें रखना अर्थात् राग-द्वेष रहितकर वशमें रखना। इसका फल है—प्रसादमधिगच्छति। प्रसादको प्राप्त होना। प्रसाद क्या है? कैसा होता है। इसका स्पष्टीकरण अगले श्लोक में होगा। फिरभी संक्षेप में यहां समझना है। प्रसाद माने मंदिर में वितरण किया जाने वाला प्रसाद नहीं।

"प्रसादस्तु प्रसन्नता"

इस प्रकार कोश में बताया है। प्रसन्नता आन्तर धर्म है। भोग लगाने से भगवान प्रसन्न हो गये। उससे हम भी प्रसन्न हो इस बातको इंगित करने के लिये मंदिर में प्रसाद वितरण होता हैं। श्रीमद्भागवत मे सकारण स्वरूप निर्देश किया—

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति

रजोगुण एवं तमोगुणके जितने भाव हैं, विशेषरूपेण काम-लोभादि जो दोष हैं इनसे अनाक्रान्त अनभिभूत चित्त शुद्धसत्त्वगुण में स्थित होकर प्रसन्नता हो प्राप्त होता है। प्रसाद का यह लक्षण भी है। कारणनिर्देश भी है। चित्तमें प्रसन्नता जब होती है तब रजागुण और तमोगुण का उद्भव समाप्त हो जाता है, काम लोभादि

का नामोनिशान नहीं रहता और सत्त्वगुण में स्थित होता है। एतदर्थ ही रजोगुण और तमोगुण को न्यून करने और शनैः शनैः समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। उसके लिये उपयुक्त आधार है- राग-द्वेष वियुक्त इन्द्रियोंसे विषय सेवन। यहां विषय सेवन की विधि नहीं है। किन्तु प्राप्त विषय सेवन का अनुवाद कर राग-द्वेष परित्याग का ही विधान है।

आकस्मिक अल्पकालिक प्रसन्नता सबको प्राप्त हो सकती है। परंतु उस प्रसाद पर मनुष्यका अधिकार नहीं रहता। वह प्रसाद अपने ढंगसे आयेगा और जायेगा। परंतु रागद्वेष रहित चरण से साधिकार प्रसाद प्राप्ति होती है। अतः "अधिगच्छति" कहा ॥११॥

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। २-६५ ।।

[प्रसन्नता होनेपर समस्त दु:खोंकी निवृति होती है, प्रसन्न चित्तवाले मनुष्यकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।]

पूर्व श्लोकमें बताया कि राग-द्वेष रहित इन्द्रियोंसे विषयोपभोग करने पर प्रसादकी प्राप्ति होती है। उस प्रसादके फल कथन व्याजसे प्रसादका वास्तविक स्वरूप क्या है ? सो इस श्लोकमें कहा जा रहा है ।

एक सट्टावाला सट्टा लगा रहा है, उसको लाख रुपया मिल गया । उसकी प्रसन्नताका कोई ठिकाना नहीं । घरमें बीस सालसे कोई संतान नहीं आयी । इक्कीसवें साल लड़का आया तो कितनी प्रसन्नता होती है ? लड़केकी शादी हो गयी तो माता-पिताको बड़ी प्रसन्नता हुई । लडकेको पत्नी मिल गयी, इसलिये प्रसन्नता हुई । इस प्रकार धन, पुत्र, पत्नी आदिसे ही प्रसन्नता प्राप्त हो रही है तो इस स्थितप्रज्ञ साधनाके पीछे पड़नेकी क्या जरूरत ? विषयोंका ध्यान छोड़ो, संग छोड़ो, काम-क्रोध छोड़ो । ये सब छोड़ने पर प्रसन्नता बड़ी मुश्किलसे होती है । किन्तु इन सबको छोड़े बिना ही धन, पुत्र, पत्नी आदिसे प्रसन्नता मिल रही है । ऐसी हालतमें संस्कृतमें एक कहावत प्रसिद्ध है—

"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"

घरके कोनेमें ही या पासके पेड़ पर ही मधुमक्खियोंने छत्ता बना लिया है, मधु (शहद मिल रहा है तो मधुकी खोजमें कौन पहाड़-की चढ़ाई चढ़ेगा ? अतः इतनी भारी स्थितप्रज्ञताकी साधना विफल

है। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि धन, सुतादिसे जो प्रसन्नता होती है वह सचमुचमें प्रसन्नता ही नहीं है। क्योंकि प्रसादका लक्षण ही यह है कि उसके बाद सर्वदुःखनिवृत्ति होती है। लाख रुपये मिलनेसे सट्टेवालेको बड़ी प्रसन्नता हुई थी, किन्तु मैंने देखा, एक महीनेके बाद उसको लाखका नुकसान हुआ तो रोने बैठा। तब सर्वदुःख निवृत्ति कहां हुई? वस्तुतः प्रथम जो प्रसन्नता हुई थी उसका नाम प्रसन्नता नहीं है। उसका नाम खुशी है। संस्कृतमें उसको प्रमोद कहते हैं। प्रसन्नता अलग चीज है, खुशी अलग चीज है। खुशी क्षणिक होती है। थोड़ी देरके लिये होती है। लाख रुपये मिल गये यह खुशी क्षण भरके लिये होती है। उसके बाद उतर जाती है। एक घंटेके बाद वह खुशी नजर नहीं आयेगी। पुत्र-प्राप्तिमें बड़ी खुशी होती है, किन्तु कहीं पुत्र-वियोग हुआ तो लाख गुना दुःख होता है। पुत्र माता-पिताको छोड़कर चला जायेगा। उसको उतनी ममता नहीं है। किन्तु मां-बाप पुत्रके लिये रोते हैं, यही अधिकतर देखनेमें आता है। पत्नी प्राप्त होने पर जो खुशी होती है, वह भी स्थायी नहीं है। एक जगह बड़ा मेलासा लगा हुआ था। शादी हो रही थी। एक ब्रह्मचारी संत उस रास्तेसे आये। ब्रह्मचारीको मालूम नहीं था कि शादी क्या होनी है। मेला देखकर ब्रह्मचारीने पासमें खड़े एक वृद्धसे पूछा— क्या हो रहा है? वृद्ध ब्रह्मचारीको देखते ही ताड़ गया कि इसको कुछ मालूम नहीं है। वृद्धने कहा, यह शादी हो रही है। उस समय वधूकी विदाईका समय था। लड़की माता-पिताके पास खड़ी रो रही थी। क्योंकि मां बापका वियोग होने जा रहा था। जिन्होंने इतने दिनों तक पाला-पोसा, अपनी गोदमें रखा, उनको छोड़ते समय रोना तो आता ही है। किंतु वर आज बहुत प्रसन्न है। उसको पत्नी मिल रही है। उसकी खुशीका ठिकाना नहीं। वह मुस्करा रहा है, हंस रहा रहा है, ब्रह्मचारीने पूछा, वह क्यों रो रही है? यह हंस क्यों रहा है? वृद्धने कहा—ब्रह्मचारी! तुमको ये

रहस्य मालूम नहीं है। यह आज रो रही है, वह हंस रहा है। यह लड़की घरमे पहुंचेगी तो यह हंसती रहेगी और वह लड़का जिन्दगी भर रोता रहेगा। अभी तक वह पतंगके समान उड़ता रहा है। कलसे तो आज साड़ी नहीं, कल ब्लाउज नहीं परसों पाऊडर नहीं, लिपस्टिक नहीं, ऊंची एड़ी वाली चप्पल नहीं। रोज फैशन बदल रहा है, तो कमाओ और खर्च करो। पूरा न होने पर रोवो। अधिकतर समय रोनेमें ही बीतेगा। यह धन-दार-सुतकी प्राप्तिसे सर्वदुःख हानि नहीं, सर्वदुःख प्राप्ति है। सारे दुःखोंको मोल लेना है। अतः यह प्रसन्नता किंतु केवल अल्पकालीन खुशी मात्र है। लोग उसे प्रसन्नता शब्दसे केवल बोलते हैं। प्रसन्नता असलमें कौनसी है ? जो पूर्व श्लोकमें कही गयी है। वह राग-द्वेष वियुक्त इन्द्रियोंसे, विषय सेवन से होती है।

विषयोंकी प्राप्ति—चाहे वह अनुकूल विषय हो चाहे प्रतिकूल, तीन प्रकारसे होती है। स्वेच्छासे परेच्छासे और अनिच्छासे। इसी-को स्वेच्छा प्रारब्ध परेच्छा प्रारब्ध और अनिच्छा प्रारब्ध भी कहते हैं। हम सम्पूर्ण विषयोंको त्याग नहीं सकते यह निश्चित है। विषय त्याग होनेपर जीना ही संभव नहीं होगा। अतः त्यागना कौनसा ? क्या त्यागना है ? इसके उत्तरमें यही कहा जायेगा कि स्वेच्छा प्रारब्धको त्यागो। अनिच्छा और परेच्छासे जो विषयोपस्थित है, उसे त्यागनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि उसके त्यागसे ही नुकसान होगा। आपको इच्छा नहीं है कि कोई दिखावा करे। सादा रहना पसन्द है। सादा कपड़ा-कुर्त्ता पहनना पसन्द है। किन्तु समाज ऐसा है कि एक हजार दो-दो हजार की पेंटकोट पहनेवाला है। उस समाजमें जानेके लिये अनिच्छापूर्वक वैसी पोशाक बनानी पड़ी। सिल्क, नैलून आदि साड़ी पहननेकी इच्छा नहीं फिर भी पहनना पड़ा। काशीमे एक अच्छे त्यागी पंडित थे। पढ़ानेके लिये संस्कृत विश्वविद्यालयमें जाते। हजार-बारह सौ उनको पगार मिलता था।

उस पुराने समयमें तो उन्होंने विश्वविद्यालय जानेके लिये एक पोशाक बनाकर रखी थी। उसको पहनकर निकलते तो अप-टु-डेट लगते थे। विश्वविद्यालयसे आते ही उतारकर खूंटे पर टांग देते थे और अपने अत्यंत सादे वेशमें रहते थे। देखनवालोंको लगे कि यह कोई मजदूर है पंडितजीसे हमने पूछा—ऐसा क्यों करते है? पंडितजी कहने लगे—क्या करें, जबसे यह विश्वविद्यालय बना तबसे ऐसा पहनना पड़ रहा है। पहले हम हमेशा एक ही भेषमें रहते थे। किंतु अब परिवर्त्तन करना पड़ रहा है। इसीको अनिच्छा प्रापित प्रारब्ध कहते हैं। केवल इष्ट ही नहीं, अनिष्ट भी अनिच्छा प्रापित होता है। जैसे किसी आस्तिक मुनीमको सेठके आदेशसे झूठा हिसाब लिखना पड़ता है।

दूसरा परेच्छा प्रापित प्रारब्ध है। दादाको सिनेमा नाटकादि पसंद नहीं। कभी जाते भी नहीं। किंतु एक रोज बच्चोंने हठ पकड़ लिया जाना है। आज दादाको भी लेकर जाना पड़ा। यह परेच्छा प्रापित है। दादा भी कुछ खावें पिये, बच्चोंकी इच्छा है, इसलिये होटलमें भी बैठकर खाना पड़ा। एक माताको मैं जानता हूं। उसको सत्संग प्यारा है। मंदिरमे जाना पसंद है। वैराग्य भक्ति पसंद है। किंतु उसका पति कहता है क्लबमें चलो, डान्स करो। होटलोमें चलो, तो उसको जाना ही पड़ता है। यह कौनसा प्रारब्ध? यह परेच्छा प्रारब्ध है। पतिकी इच्छाको रखना ही पड़ता है। मेरेसे उसने प्रश्न किया कि मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं होती है, तो क्या करें? मैंने यही कहा, यह परेच्छा प्रापित प्रारब्ध है। उसने कहा—क्या इसमें मेरा पतन नहीं होगा? मैंने कहा—यदि उसमें तुम्हें रस आने लगेगा तो पतन संभव है। केवल परेच्छा समझकर करो तो पतनका कोई प्रश्न नहीं रहता। उसने कहा—लेकिन पतिदेव तो स्वेच्छासे करते हैं तो उनका पतन नहीं होगा? मैंने कहा ! इसका

उत्तर तो बाल्मीकिको उनके पूर्वाश्रममें कुटुम्बियोंने दिया था। उससे अतिरिक्त मेरा कोई उत्तर नहीं है।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते"

स्वयं कर्म करते हैं, स्वयं उसका फल भोगते हैं। कर्मका कोई भागीदार नहीं है। दो आदमीने मिलकर पुण्य या पाप किया तो भी अपना-अपना पुण्य पाप अलग-अलग ही होता है। कर्ममें भागीदारी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानमें भी भागीदारी नहीं है।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

ऐसा षष्ठाध्यायमें स्वयमेव भगवान कहेंगे।

तीसरा स्वेच्छा प्रापित प्रारब्ध है। यही राग-द्वेष सहितका दृष्टान्त है। अनिच्छा और परेच्छा रागद्वेष रहितका दृष्टान्त है। अनिच्छा और परेच्छामें क्या फरक ? अनिच्छामें प्रेरक कोई व्यक्ति विशेष नहीं होता। परिस्थिति ही वहां प्रेरक है। उसे सामाजिक बन्धन भी कह सकते हैं। लोकमर्यादा भी कह सकते हैं। रिति-रिवाज भी कह सकते हैं।

यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं
नाचरणीयं नादरणीयम्

इत्यादि वचन भी प्रसिद्ध है। कहीं शास्त्रीय विधि भी आ सकती है। परेच्छामें न अपनी इच्छा ही है या अनिच्छा ही है। परेच्छा उसमें प्रबल होती है। यही दोनोंमें अन्तर है। इन दोनोंके न होने पर जो विषयध्यानादि हैं वह राग-द्वेष प्रयुक्त ही माना जायेगा। संतोंकी पहचान इसीसे करानी पड़ती है। संत लोग खाते-पीते हैं किस लिये ? जीवन निर्वाहके लिये। शरीर ठीक रहेगा तो धर्म-कर्म होगा।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

सर्व प्रथम धर्म साधन शरीर है। यह गाड़ी है, खींचकर ले जानेवाली ईंधन इसके लिये चाहिये। इसलिये भोजनादिमें राग न होनेपर भी उसमें प्रवृति होते हैं। कभी परेच्छासे भी। भक्तने आग्रह लिया तो उसका मन रखनेके लिये थोड़ी मीठाई खायी। थोड़ा प्रसाद लिया। इस प्रकार अनिच्छा परेच्छासे उनका विषया-चरण है। स्वेच्छासे नहीं। उसका वह विषयचरण न बन्धनकारी है और न प्रसादविरोधी ही है।

मेरे मनमें राग-द्वेष नहीं। राग-द्वेष वियुक्त होकर मैं विषय ग्रहण करता हूं। ऐसा कोई वृथा अभिमान करता हो तो उसका पता कैसे चलेगा। दूसरा उसे प्रसन्नचित्त कैसे समझेंगे ? स्वयं भी अपने आपको कैसे पहचान सकेंगे, क्योकि कभी-कभी राग-द्वेषाभावकी अवस्था होती है। इसका उत्तर ढूंढ़नेके लिये हमें योगसूत्रकी शरणमें जाना चाहिये। वहां चित्तप्रसादनका एक प्रकरण ही आया हुआ है। वहां बताये हुए साधनोंमें कोई भी साधन आपमें हो तो ठीक है। अन्यथा मिथ्याऽभिमान माना जायेगा।

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्"

ऐसा वहां प्रथम सूत्र है। इससे राग-द्वेष वियुक्ति होती है। तब चित्तप्रसाद होना है। (१) यहां प्रथम कर्त्तव्य बताया--सुखितेषु मैत्री। मित्रता करनी हो तो सुखियोंके साथ करो। जो बिना मत-लब या मतलबसे ही सही, रोते रहते हैं उनके साथ मित्रता मत करो। किसी किसीकी आदत बन जाती है रोने रहना। अपनी कष्ट गाथा सुनाते रहते हैं। दो-तीन माताएं मिल गयीं तो फिर कहना ही क्या ? एक कहती है, मेरे घरमें बड़ा कष्ट है। दूसरी कहता है, मेरे घरमें उससे भी ज्यादा कष्ट है। ऐसे रोनेवालोकी टोली जहां

है, वहां राग-द्वेष निवृत्ति एवं चित्त प्रसाद नहीं होता। चित्त प्रसादनके लिये सुखी खुशमिजाजी व्यक्तिसे मैत्री कीजिये। जिसके पास बैठते ही सारा दुःख भाग जाय। (२) इस पर भी भारी प्रश्न उठा। तब क्या दुःखियोंको मार भगावे, उनकी ओर मुंह करके देखे नहीं, उत्तर दिया—नहीं, दुःखियोंके प्रति करुणा कीजिये। कोई जरूरी नहीं है कि सर्वत्र मैत्री करें। मित्रतामें समानता होती है। वह यद्यपि उत्तम है, किन्तु साधनाके प्रारम्भमें यह सम्भव नहीं है। इसलिये दुःखियोंके प्रति मैत्री नहीं, किन्तु दया करनी चाहिये। यदि कोई भिखारी भूखा मालूम पड़ा तो 'शेक हेण्ड' नहीं, अपनी शक्तिसे उसको कुछ खाना देना चाहिये। पैसा देना चाहिये। कोई बिमार है तो उसको दवा दीजिये, दवा दिलाईये। आपकी शक्तिके अनुसार उसकी सेवा कीजिये। किसीका एक्सिडेंट हुआ तो आंख मूंदकर आगे मत बढ़िये। उसे अस्पताल पहुंचाईये। अपनेसे संभव व्यवस्था कीजिये। अपनी कमाईका कुछ अंश दीन-दुःखी सेवार्थ विनियोग कीजिये। (३) तीसरी बात बतायी है—पुण्य वानोंको देखकर मुदितावृत्ति कीजिये। तो चित्त प्रसाद होगा। पुण्यवानोंको देखकर जलना नहीं चाहिये। लखपति, करोड़पतिको देखकर जलता है। ऐसा नहीं। अधिक पुण्यवानको देखकर उनके पुण्यके लिये मुदित हो। इनका अपना प्रारब्ध है, पुण्य है, पूर्वका फल मिल रहा है। किन्तु होता विपरीत है—

"मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या अधनानां महाधनाः।
दुर्भगाणां च सुभगाः कुलटानां कुलाङ्गनाः॥"

विद्या बड़े पुण्यसे मिलती है। परन्तु मूर्ख कोई प्रवक्ता बना तो बोलेगा कि ढाई अक्षर प्रेमकी जिसने पढ़ा उसने सब कुछ पढ़ लिया। वेदशास्त्र सभी केवल वितण्डावाद है। वह इस लिये शास्त्र की निन्दा कर रहा है कि उसने खुद शास्त्र नहीं पढ़ा। तब "मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या" वाली बात आयी। प्रेम है या नहीं, यह एक अलग

बात है। जबकि आपने पण्डितसे द्वेष किया तब आपमें स्वयं प्रेम है, इसमें क्या प्रमाण ? मूर्खसे आप इसलिये प्रेम करते हैं कि वे आपकी चरण पूजा करते हैं। कांदोवलीमें एक भगत आया। वह कहने लगा मैं ज्यादा प्रवचन आदि पसंद नहीं करता। 'राम'में चार अक्षर है, र, आ, म और अ ये ही चार वेद हैं। उसका कोई मूर्ख गुरु रहा होगा। उसने अपनी धाक जमानेके लिये चेले को वैसा पढ़ाया। मैंने उसको कहा—चार वेद ही नहीं, चार पुरुषार्थ भी इसीमें हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। उसने समझाकी ये मेरे समर्थनमें हैं। मैंने कहा–राम बोलनेसे धर्म मिला। अब यज्ञयागादिकी जरुरत नहीं। अर्थ मिला अब बम्बई नौकरी, व्यापार करनेके लिए जानेकी जरूरत नहीं। वह बीचमें बोला महाराज ! नौकरी किये विना, धंधा किये बिना पेट कैसे भरेगा ? मैंने कहा—पेट भरना आदि काममे आता है, वह भी राम नामसे हो गया। खाने-पीनेकी भी क्या जरूरत ? यदि तुम अर्थ कामकी आवश्यकता अतिरिक्त समझते हो तो यही चार्वाकका सिद्धान्त है। अर्थकाम प्रधान उनका सिद्धान्त है। तदर्थ प्रयास करो। तुमने सनातनी बननेके लिये बाकी सबको समेटकर रामनामकी खालसे ओढ़ा दिया। शास्त्राध्ययन करना न पड़े, यज्ञादि सत्कर्म करना न पड़े। रामनाम अपनी महिमा दिखलाने लग जाय तो अर्थ काम भी छूट जायेंगे। विद्वानको देखकर समझो, यह पुण्यवान है। मुदित हो। उनको आदर दो। तभी चित्त प्रसाद होगा। उनकी निन्दा करनेमें नहीं, उनसे जलनेसे नहीं।

अधनानां महाधनाः। चित्त प्रसादके लिये दूसरोंके धन पर कुदृष्टि नहीं करनी चाहिये। धनिकोंको देखकर जलनेकी क्या जरूरत ? तुम भी तरकीब निकालो कमाओ, कोई रास्ता ढूँढ़ो। जलनेसे उनका धन तुम्हारे पास आयेगा नहीं विपरीत तुम्हारा चित्त खराब होगा। मजदूर लोग कहेंगे, यह तो धनिकोंका पक्षपात है। सेठ लोग बड़ी-बड़ी बेईमानियां करते हैं। परन्तु शास्त्रने बेईमानी

करनेके लिये नहीं कहा। आप ईमानदारीसे कमाओ तो भी भाग्यमें जितना होगा, उतना ही मिलेगा। एक व्यापारीने चीजका दाम दुगुना करके भोले लोगोंको ठगा। और जहां उसको एक हजार ग्राहकोंसे पांच हजार मिलना था, वहां दस हजार मिला। किन्तु यह उसकी चतुराई नहीं, चतुराईका दिवाला है। दूसरा व्यापारी था। उसके पास, एक हजारके बदले दो हजार ग्राहक पहुंचे तो उसको दस हजार बिना ठगीसे ही मिल गया। पहलेवालेको भी बिना ठगा उतना अवश्य मिलता, पर उसने ठगी करके पाप ऊपरसे कमाया। अब कहो, उसकी चतुराई रही कि चतुराईका दिवालियापन! जो मिलना था सो ही मिला। किन्तु ऊपरसे पापका बोला भी लिया। शास्त्र इसीका निषेध करता है। यदि कोई सेठ बेईमानी करता हो तो भले विरोध करो। किन्तु उसके पास जो धन आया, उसको देखकर जलो मत। अमेरिका, इंगलैंड आदिमें अरबों पति पड़े हैं। तुम क्या कर सकते हो? और व्यवहारमें क्या करना क्या नहीं करना इस बातको छोड़ो। यदि व्यक्तिगत रूपसे चित्त प्रसाद प्राप्त करना हो तो पुण्यवानोंको देखकर ईर्ष्या न करो। यह चाणक्य नीतिका श्लोक है। उस समयकी अर्थ व्यवस्थानुरूप चाणक्यका लेख है।

दुर्भगाणां च सुभगाः। इन दो शब्दोंको स्त्री और पुरुषके लिये अलग-अलग समझा जा सकता है। कोई व्यक्ति सौभाग्यवान् होता है। जिस किसीमें भी हाथ डाले, वहां सफलता अवश्यंभावी है। यही सौभाग्यवानका लक्षण है। दुर्भग वह है जहां पांव डालता है वहीं फंस जाता है। दुर्भग सुभगोंको देखकर जलते हैं। लाटरी लगायी और नंबर आ गया तो सौभाग्य कहां जायेगा। जिसका एकदम नजदीक वाला नंबर आता है तो वह पछताता है एक नंबर आगे होता तो अच्छा होता। भाग्य अनेक प्रकारसे होता है। किसी प्रकार भी द्वेष उचित नहीं।

इन तीनोंके लिये दृष्टांत रूपमें कहा 'कुलटानां कुलाङ्गनाः । जो कुलटाने होती है वह कुलांगनाकी प्रशंसा सुनते ही चिढ़ जाती हैं। वह सबकों अपने बराबर समझती है या बनाना चाहती है। अस्तु। पांडित्य, महाधनिता, सुभगता एवं कुलाङ्गनता भावमें चारों ही पुण्यका परिणाम है। ऐसे पुण्यवानोंको देखकर मुदिता वृत्ति होनी चाहिये। तो ही रागद्वेष वियोग होगा और चित्त प्रसादन होगा। और दुःख वृत्ति होगी।

भगवान पतञ्जलि ऋषिने अन्य भी चित्त प्रसादन साधन बताये हैं। उनमें प्रकृतोपयोगी दो एकका भी यहां मनन करना अप्रासंगिक नहीं होगा। पातञ्जल साधन रागद्वेषवियुक्ति द्वारा प्रसाद साधक है।

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'

प्राणायाम भी प्रसादमें उपयोगी है क्योंकि श्रुतिमें बताया है—

प्राणबन्धनं ँ हि सोम्य मनः

प्राण और मनका बड़ा सम्बन्ध है। मनको शांत करनेके लिये प्राणको शांत करना अत्यंत उपयोगी है। प्राण शान्त होते ही मनमें विश्रामकी प्रतीति होगी। तब राग-द्वेषका उदय नहीं होगा। उस समय चित्त प्रसन्न होने लगेगा। इसीलिये प्रतिदिन प्राणायामका भी अभ्यास करो।

"वीतरागविषयं वा चित्तम्"

यह सूत्र यहांके लिये विशेष उपयोगी है। तीर्थ यात्रामें कभी निकलो तो ऐसे संतका जरूर दर्शन करना जो पूरे वीतराग हो। गंगा किनारे बैठे हैं। पेड़के नीचे आसन है। कोई संग्रह परिग्रहण नहीं। जो प्राप्त है उसीमें संतुष्ट हैं ब्रह्मचिंतन निरत है। वृक्षकी खाल पहने हैं। या चिथड़ा या बिना वस्त्र ही बैठे हैं। आप जायेंगे तो आपसे भी कोई अपेक्षा नहीं रखेंगे। ऐसे संत तो बहुत दुर्लभ हैं।

फिर भी "बहुरत्ना वसंधुरा" के अनुसार ऐसे संतका अभाव भी नहीं। परंतु पहचान करना बहुत कठिन है। ऐसे संत हिमालयमें ही मिलेंगे, ऐसी भी बात नहीं है। परंतु ध्यान लगानेके लिये केवल भीतरसे ही नहीं बाहरसे भी विरक्त होना चाहिये। क्यों? जब आपके मनमें धन जनादिको लेकर बेचैनी होने लगे तब ऐसे संतोंका स्मरण करो। देखो, वे भी तो मनुष्य हैं। जो धन जनादिके बिना परमानंद निमग्न रहते हैं। मैं वैसा क्यों न हो जाऊं? ऐसी साधना ही क्यों न करूं। यह चिन्तन उभय विरागीके ध्यानसे ही होगा। वैसे तो राजा जनक और शुकदेवजी दोनों भीतरसे पूर्ण थे। किन्तु ध्यान लगाना हो तो राज वैभव मध्यवर्त्ती जनकका नहीं, किन्तु ? शुकदेवजी का लगावें। उससे मन प्रशान्त होता है, प्रसन्न होता है। चित्त प्रसादनके लिये योगसूत्रमें बहुत सारे उपाय बतायें हैं। उन सबको उन्हीं सूत्रोंकी विस्तृत व्याख्यामें समझना चाहिये। यह हमने संक्षेपमें थोड़ा दिग्दर्शन मात्र कराया। इस लिये कि कही धनदार सुतादिसे प्राप्त प्रसादको ही आप प्रसाद न समझ लें। साधारण तया लोग इसीसे अपनी कृतार्थता मानते हैं, किन्तु प्रसादसे सर्व दुःख हानि नहीं, सर्वः दुःख लाभ ही होगा, क्योंकि सारे दुःखोका मूल ही यह है। क्योंकि धनादिसे उत्पन्न प्रसाद क्षणिक होनेसे तृष्णावर्धक ही होता है।

तब प्रसाद किसको कहते हैं? जिससे सर्वदुःख हानि होती है। धनदारादि प्राप्ति प्रयुक्त प्रसन्नता फिर क्या चीज है? यह प्रश्न स्वभावतः उठता है। उत्तर यह है कि - "रजस्तमोऽनभिभूतचित्तस्य सत्त्वप्रसारणं प्रसादः" ऐसी इसकी व्याख्या होगी। संस्कृतमें प्रसन्न शब्दका निर्मल अर्थमें प्रयोग होता है। "शरदि प्रसन्नं जलं" प्रसन्न गंभीरा नदी इत्यादि प्रयोग होता है। वहां प्रसन्नका अर्थ मलरहित स्वच्छ स्वरूप है। चित्तका मल है रज और तमाये। दोनों निवृत्त

हों और सत्त्वगुणका प्रसार हो तो उसको प्रसाद कहते हैं। धनमें राग होता हैं।

"रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंङ्गसमुद्भवम्"

के अनुमार उसमें रजोगुण अवश्यंभावी है। अतः वह खुशी मात्र है। प्रमन्नता नहीं है। दार और पुत्रमें काम और मोह होता है। इन दोनोंमें रजोगुण तो है ही। तमोगुण का भी पुट रहता है। इस प्रकार अन्यवस्तु प्राप्तिमें भी है। फलतः चित्त रजोगुण तथा तमोगुणके स्पर्शमे रहित नहीं कहा जा सकता। खुशीको लेकर थोड़ा सत्त्वगुण प्रसाद है। किन्तु मलिन चित्तका वह सत्त्व प्रसार है। राग और द्वेषकी भी समान व्याख्या है। रागमें रजोगुण विशेषरूपसे रहता है और द्वेषमें तमोगुण अधिक रहता है। अतः जब तक राग और द्वेष रहेंगे तब तक चित्त प्रसादकी चर्चा नहीं हो सकती। राग द्वेष नहीं, रजोगुण-तमोगुण नहीं, सत्त्व का प्रसार हुआ तो सर्वदुःख हानि अवश्यंभावी है।

सर्वदु खानां हानिः। इससे क्या अर्थ लेना? उत्तर है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिविध दुःखकी हानि। इनमें मुख्यरूपसे मानस दुःखकी ही निवृत्ति होती है। व्याधि आदिसे होनेवाला दु ख भी शिथिल तो हो ही जाता है। जो नित्य प्रमन्न रहता है उसकी बिमारियां जल्दी मिट जाती हैं। इसलिये बडे-बड़े अस्पतालोंमें प्रसन्नता वर्धक वस्तु रखी जाती है। यद्यपि वहां तो वास्तविक प्रसन्नता नहीं होती। फिर भी गुलदस्ते बगीचे आदि सामान्य प्रसान्य पसाद आभासकी वस्तुओंसे भी बिमारी आराम हो सकती है तो वास्तविक प्रसन्नता हो जाय तो कहना ही क्या है? अतएव आध्यात्मिक सर्व दुःखनिवृत्ति सामान्यरूपेण यहां कही गयी।

दुःखका यहां अर्थ है—"दुर्गतानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिंस्तद् दुःखम्" जिसमें इन्द्रियां दुर्गतिको प्राप्त हो वही दुःख है। इन्द्रियोंकी

दुर्गति अधिकतर मानसिक विकृत से होती है। अनुकूल या प्रतिकूल विषयसे प्रथम इन्द्रियोंमें राग द्वेष तथा मनमें भी राग-द्वेष होता है। फिर वापिस इन्द्रियां दुर्गतिमें पडती हैं तब दुःख होना है। जैसे श्रोत्रेन्द्रियको लो। जब हमने अपनी निंदा सुनी तब श्रोत्रेन्द्रियमें द्वेष वासना जगी। तुरंत मनमें भी द्वेष वासना उद्भूत हुई। इतनेमें रजोगुण और तमोगुण सक्रिय हो गये। तब श्रोत्रेन्द्रियकी दुर्गति होने लगी। कैसा शब्द इसने सुनाया? क्यों सुनाया? इसने मुझे क्या समझ रखा? इत्यादि। यही तो दुःख है। यह श्रोत्रेन्द्रियकी दुर्गति ही है। प्रशंसा तो बाहरसे अच्छी लगेगी। किन्तु वह परिणामतः दुर्गति कारक है। एक बार प्रशंमा सुनी। तो बार-बार प्रशंसा सुनना चाहेंगे। तब प्रशंसा करनेवाले नहीं करेंगे तो इन्द्रियां बड़ी दुर्गति को प्राप्त होने लगती है। बिले पारलेमें एक संत बीच-बीचमें प्रवचन करते थे। फिर मुझसे पुछते—कैसा प्रवचन रहा? मैंने सोचा

"प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता"।

वचनमें क्यों दरिद्रता करूं। कहा, बहुत बढ़िया। अब वे रोज पूछने लगे। आज कैसा रहा, आज कैसा रहा। मैंने सोचा, यह आफत कैसे टलेगी? मैंने एक राज कहा, आपका ऐसा ही प्रवचन हो गया मामूली। बेचारे उस रोज परेशान हुए। रातको नींद नहीं आयी। क्यों? प्रशसा नहीं मिली। मतलब प्रशंसा भी दुःख दायी है। दुःख निवृत्ति के राग-द्वेष दोनोंको त्यागना होगा। प्रशंसा और निंदामें कोई तत्त्व नहीं है समझ लो। भगवान रामकी और कृष्णकी भी निंदा करनेवाले करते हैं। रावणका पुतला जलाते हैं तो कुछ लोग रामका भी पुतला जलाने लगे थे। रामके समयमें ही रजक (धोबी) ने राम पर आक्षेप किया था। जिससे रामका सीताका त्याग करना पड़ा था। कृष्णको स्यमन्तक मणिके पीछे कितना कलंकित होना पड़ा? अब बताओ निन्दाका क्या मूल्य है? उसमें

क्या तत्त्व हैं ? डाकू और चोरकी भी प्रशंसा उनके अनुयायी करते हैं। वाह ! कैसा डाका डाला ? क्या चतुराई है ! देखो, हमारे सरदार ने कितनेको मारा। सुनकर डाकूओंका सरदार फूल जाता है। वाह ! इसने ऐसी सेंध मारी, चोरीकी, किसी बच्चे तक को पता न लगा। ऐसी प्रशंसा चोरके साथी चोर की करते हैं। तब बताओ, इस प्रशंसामें और निन्दामें क्या तत्त्व रह गया। इस विचारसे इन्द्रियोंसे राग-द्वेष हटावो तो मनसे भी हटेगा। तब इन्द्रियां दुर्गत नहीं होंगी। यही "सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते" का अभिप्राय है।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते । प्रसन्न चित्त होते ही बुद्धिकी पर्यवस्थिति हो जाती है। पर्यवस्थान माने—स्थिरता। माने स्थितप्रज्ञता। प्रज्ञारूपी बुद्धि प्रथम प्राप्त करनी है। उसको स्थिर करनेके लिये चित्तको प्रसन्न रखना परम आवश्यक है। श्रवण-मनन निदिध्यासन से प्रज्ञा संपादन करो। फिर इन्द्रिय एवं मनमेंसे राग-द्वेषको निकालनेका प्रयास करो। उससे रज और तम निवृत्त होगा, सत्त्व प्रसार होगा तब चित्त प्रसन्न होगा। तव वही प्राप्त बुद्धि निखरने लगेगी। रज और तमके न होनेसे ही स्थिर होने लगेगी। तब साधक स्थितप्रज्ञ होने लगता है। आशु—का मतलब है शीघ्र। अर्थात् प्रसन्नचित्त हो गया तो स्थितप्रज्ञ भी हो गया ऐसा न समझ लेना। हां, शीघ्र वह स्थितप्रज्ञ बनेगा। स्थितप्रज्ञ कब बनेगा ? आगे बतायेंगे—"निगृहीतानि सर्वशः" इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"। विषयांश्चरन् यह साधकके लिये अनुमति मात्र है। अन्तमें पूरा निग्रह ही करना है। वही लक्ष्य है ॥ १२ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।२-६६।।

[योग साधना रहित अयुक्त पुरुषकी प्रज्ञा नहीं होती । अयुक्त पुरुषमें भावना भी नहीं होती । भावना शून्य व्यक्तिको शान्ति नहीं मिलती अशान्तको सुख कहांसे हो ?]

मूल श्लोक चल रहा है--"यदा संहरते चायं" । संहरणमें दो बात आयी थी –विषय व्यावर्त्तन और ब्रह्मस्थापन । दो श्लोकोंमें दोनोंकी उपयोगिता बतायी । उसके बाद तीसरे श्लोकमें "तानि-सर्वाणि संयम्य" से विषय व्यावर्त्तन और युक्तः आसीत् मत्परः से ब्रह्मस्थापन उपायनिर्देश पूर्वक पिण्डीकृत किया । संयमनसे इन्द्रियोंका विषयव्यावर्त्तन सुकर होता है । संयमन अर्थात् आहार शुद्धि क्रमसे इन्द्रियवशीकरण । ऐसा न करने पर विषयध्यान क्रमसे प्रणाश पर्यन्त पतन बताया । इसलिये आहार शुद्धि पूर्वक इन्द्रिय वशीकरणात्मक संयमन करो, यह राग-द्वेष वियुक्तैः इत्यादि दो श्लोकोंमें बताया । उसका फल "बुद्धिः पर्यवतिष्ठत" कहा । यह पूरेका पूरा "तानि सर्वाणि संयम्य का ही भाष्य है । अर्थात् उसका स्पष्टीकरण किया है ।

प्रश्न हुआ—इस प्रकार इन्द्रिय संयमनसे ही बुद्धिका पर्यवस्थान अर्थात् स्थित प्रज्ञता हो सकती है तब "युक्त आसीत् मत्परः" यह द्वितीयांश अनुपयुक्त हुआ । अपन आप ही बुद्धिका पयवस्थान होगा तब रस निवृत्ति भी होगी उस पर ध्यान देनकी आवश्यकता ही क्या ? इसका समाधान है कि बुद्धिकी स्थिरता (पर्यवस्थान) इन्द्रिय संयमन से होगी । परंतु प्रथम बुद्धि पैदा हो तब यह सब बात है ।

लडकेकी शादी होगी। अच्छी बात है, पर पहले लड़का तो हो। पति-पत्नी झगड़ा करने लगे थे। किसी ज्योतिषने कहा था, लड़का होगा तो कहां उसकी शादी होगी। पति अपने मित्र रिश्तेदारके घरमें शादीके लिये हठ पकड़ रहा था। पत्नी अपने मायकेकी सहेली रिश्तेदारके घरमें। आपसमें पहले भयंकर झगड़ा हो रहा था। इतनेमें एक संत पहुंचे। संतने पूछा - क्या झगड़ा है। पति कहने लगा कि यह अपने रिश्तेदारोंके यहां लड़केकी शादी कराना चाहती है। पत्नी कहती है–यह अपने रिश्तेदारोंके यहां शादी कराना चाहते हैं। संतने कहा—लड़का कहां है ? लड़का तो हुआ ही नहीं, ज्योतिषीने कहा—लड़का होगा। यही बात यहां है- प्रसाद होने पर दुःख दूर होगा। प्रसन्नचित्त होने पर बुद्धि अर्थात् ज्ञानकी स्थिरता होगी। ज्ञान तो पैदा हुआ नहीं, उसकी स्थिरताकी चिंता होने लगी। प्रथम ज्ञान पैदा करनेका प्रश्न उठाओ। ज्ञान लड़का है। उसकी शादी स्थिरता है। बादमें होगी।

ज्ञान कैसे होगा ? उत्तर है—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य। पहले कहा था—युक्त आसीत् मत्परः। युक्त होना चाहिये। फिर इन्द्रिय संयमन साथ हो तो तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—वह स्थितप्रज्ञ होगा। अर्थात् युक्त होने पर ज्ञान होगा और इन्द्रिय संयमनसे उसकी स्थिरता होगी—प्रसन्नता दुःखहानि बुद्धिका पर्यवस्थान होगा। ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये प्रथम युक्त बनो। युक्त माने योगयुक्त बनो। योगके बिना ज्ञान होगा नहीं। योगके बिना कोई भी ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता। चाहे वह लौकिक ज्ञान हो चाहे वैज्ञानिक ज्ञान हो, चाहे ब्रह्मज्ञान। सबके योग परम आवश्यक है। इस लिये "युक्तस्य बुद्धिभवति" ऐसा अन्वय मुखेन न कहकर "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य" ऐसा व्यतिरेकमुखसे कहा। योगयुक्तको ज्ञान प्राप्त होता है ऐसा नहीं, योगयुक्त न हो तो ज्ञान नहीं होगा, ऐसा बताया।

योगका एक अर्थ है—जोड़ना। दूसरा अर्थ है - समाहित करना। धातु पाठमें धातु हैं—"युजिर् योगे" "युज् समाधौ"। दोनों मिलाकर

यहां युक्त शब्दका । अर्थ करना चाहिये । योगके बिना कोई भी ज्ञान नहीं होगा । किसी भी विषयका ज्ञान होता है तो प्रथम विषय संयोग होता है । यही योग-जुड़ना है । तब विषयाकार वृत्ति होती है । वह जितनी देरके लिये स्थिर रहती है, समाहित रहती है, इतनी देर विषयावच्छिन्न चैतन्यका उसमें प्रतिविम्ब पडता है । यही पुरुषज्ञान है । यदि आप जल्दी-जल्दी चलते जा रहे हों तो आपको किसीका भी ज्ञान बराबर नहीं होगा । क्योंकि वृत्तिमें स्थिरता नहीं होती मोटरमें आप जा रहे थे, गाड़ीमें जा रहे थे । बाहर नजर गयी तो परिचित सा लगा । किन्तु पहचानना नहीं । क्यों नहीं ? वृत्ति स्थिर नहीं थी । वृत्ति स्थिर होती तो पहचान लेते । सामान्य पुरुष, घट पटादिको देखनेके लिये भी योगकी जरूरत पड़ी । संयोग रूपी योग तथा स्थिरता रूपी योग, दोनोंकी जरूरत पड़ी तो ब्रह्मज्ञान के लिये कहना ही क्या । ब्रह्मज्ञान दो प्रकारका होता है । एक प्रतिविम्बात्मक ज्ञान और दूसरा बिम्बात्मक ज्ञान । जैसे पुष्पाकार वृत्ति हुई तो उस वृत्तिमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ब्रह्माकार वृत्ति हुई तो उसमें भी ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही । संसारकालमें यही ब्रह्मज्ञान है । हृदय दर्पणपर ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ा तो ब्रह्म दिखाई दिया । क्योंकि संसार कालमें अविद्या अवश्यंभावी है । अन्यथा संसार ही नहीं दीखता । संसार अविद्याका कार्य है । अविद्या है तो अविद्यासे ब्रह्म आवृत्त भी होगा । वृत्तिपर प्रतिबिम्ब भी कैसे पड़ेगा ? जब ब्रह्म आवृत्त है ? उत्तर है कि आवरण होनेपर भी दर्पणादि पर प्रतिबिम्ब पड़ता है । बिम्ब नहीं दीखता, किन्तु प्रति-बिम्ब दीखता है, ऐसा हजारों जगह देखनेमें आया है ।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

ब्रह्मके पादमें ही अविद्या है, समस्त विश्व है । त्रिपात् तो परि-शुद्ध है । हमारी दृष्टि छोटी होनेसे इस पादमें ही उलझ जाती है ।

आवृति रहती है। वृत्ति उत्पन्न होती है तो त्रिपात् परिशुद्धका प्रतिबिम्ब पड़ता है। घटाकारवृत्ति होनेपर घटाकाराकारित सोपाधिक प्रतिबिम्ब भान होता है। ब्रह्माकार वृत्ति होती है तो निरूपाधिक प्रतिबिम्बका भान होता है, यही विशेषता है। बिम्ब स्वरूप शुद्ध ब्रह्मका भान तो मुक्तिकालमें ही होता है। उसी समय परिपूर्ण आनन्दका प्रकाश होता है। यही ब्रह्मको हृदयमें दर्शन करनेका सिद्धान्त वाद है।

जैसा भी हो ज्ञानके लिये योग और समाधि दोनों चाहिये ही। तभी घटादि ज्ञान भी होता है, ब्रह्मज्ञान भी होता है। बिम्ब ब्रह्मावभास मतमें भी वृत्ति स्थैर्य चाहिये ही इसी लिये यहां सामान्यरूपसे कह दिया—नास्ति बुद्धि युक्त। अयुक्तको ज्ञान होता ही नहीं। लौकिक या अलौकिक कोई भी ज्ञान अयुक्त को नहीं होता।

योग शब्दके जो दो अर्थ बनाये-एक जोड़ना और दूसरा सामाहित होना। इनमें प्रथमको साधन और द्वितीयको साध्य समझ लो। साधन योग तीन है—अभ्यासयोग, अष्टाङ्गयोग और श्रवणमनन निदिध्यासन योग। तीनोंका फल है समाधियोग। इन सबकी व्याख्या हम पहले कर आये हैं। तथापि स्मरण दिलानेके लिये पुनः संक्षेपतः वर्णन करते हैं। अभ्यासयोग कहते हैं—"चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता" चित्तमें स्थूल कोई वत्ति न हो और प्रशान्तरूपसे प्रवाहित हो, इसको अभ्यासयोग कहते हैं। प्रवाहित होता है इसलिये सूक्ष्मवृत्ति होती है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना

ऐसे अष्टमाध्यायमें बतायेंगे वहां चित्तको नान्यगामी बताया है। अन्य कोई स्थूलवृत्ति न हो तब चित्त नान्यगामी होता है। चित्तको प्रशान्तरूपसे प्रवाहित करनेका प्रयत्न करो। यही अभ्यासयोग साधना है।

इसका अष्टाङ्गयोग है। अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि। उसमें "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" यही विशेषता है। यौगिक प्रक्रियासे नाभीदेश हृदय देश आदि किसी विशेषमें चित्तको टिकाया जाता है। अभ्यासयोगमें यह प्रक्रिया नहीं है। यह प्रक्रिया अभ्यासयोगके बाद जोड़ सकते हैं। जोड़नेपर वह अष्टांङ्ग योग ही कहलायेगा। उस देश विशेषमें भगवत् ध्यान मानसपूजनादि भी हो सकता है। इससे भी समाधि लगती है।

तीसरा योग श्रवण मनन निदिध्यासन है। इसमें समस्त जगत्को मिथ्या समझ कर रज्जु सर्पवत् नेति-नेतिसे बाधित किया जाता है। निरन्तर बाधाभ्याससे शुद्ध ब्रह्मका भान होने लगता है। नेति-नेति निषेध साधना है। साध्य है शुद्ध ब्रह्माकार चित्त वृत्ति। इन तीन प्रकारके योगोंमें समुच्चय और विकल्प दोनों चलता है। कोई जरूरी नहीं है कि आप तीनों करिये। एक करो तो भी चलेगा। और ऐसा भी नहीं है कि एकको करते हैं तो दूसरा नहीं कर सकते। यह शंका न करो कि दो नांवमे पांव रखनेकी जैसी दशा तो नहीं होगी। दो या तीन इकट्ठे होने पर साधना प्रबल होती है।

समुच्चित या विकल्पित उक्त साधन त्रयके अनुष्ठानसे साध्य समाधि एकाग्र चित्तवृत्ति ही है। उसे बुद्धि कहिये। या उससे होनेवाली ब्रह्मावगति बुद्धि समझिये। दोनोंको बुद्धि शब्दसे कहा गया है।

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते
दृश्यते त्वग्रचयाबुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः

ऐसा मंत्रमें कहा गया है। यह आत्मा कैसा है ? समस्त प्राणियोंमें विद्यमान होनेपर भी अविद्यासे आवृत है। गूढ़ है। अतएव प्रकाशित नहीं होता। उस आत्माका दर्शन बुद्धिस होगा। किस बुद्धिसे ? अग्रचया-एकाग्र बुद्धिसे। एकाग्र चित्तवृत्तिसे।

"मनोऽचञ्चलमेकाग्रमीशं निविशते सुखम्
न द्वयग्रं चञ्चलं वापि सूत्रं सूच्यग्ररन्ध्रवत्"

एक तो मन एकाग्र हो दूसरा अटूट अचंचल हो तभी परमेश्वरमें प्रवेश करता है। व्यग्र और चञ्चल नहीं। जैसे धागाका एक ही अग्र हो और वह भी स्थिर हो तो सूईके छेदमें जायेगा। दो-तीन नोक हो तो धागा नहीं जायेगा। सर्वथापि योगसे चित्तको एकाग्र करो। चित्तवृत्ति स्थिर करो।

न चायुक्तस्य भावना। "युक्त आसीत् मत्परः" में युक्तता न होने पर क्या हानि होती है, यह बताया। अत्र मत्परता न होने पर क्या हानि होनी है, यह भी बताना है। तदर्थं प्रथम मत्परता ही कैसे सम्पन्न होगी, यह बताना है। युक्तः मत्परः जो पहले कहा था, वह क्रम विवक्षित है। युक्त होने पर ही मत्परता आयेगी। उसीको व्यतिरेकमुखेन यहां बताया जा रहा है। 'न चायुक्तस्य भावना' अयुक्त हो तो भावना भी नहीं होती। मत्परताको ही यहां भावना शब्दसे कहा है। भगवत् साक्षात्कारके लिये दो बातें आवश्यक है। एक तो भगवानमें चित्तको युक्त करना और दूसरा भावना करना। संहरतेमें "सं" उपसर्गसे प्राप्त ब्रह्ममें इन्द्रिय हरण इन दो बातोंके होने पर ही माना जायेगा। तभी "परं दृष्ट्वा" यह पर दर्शन भी होगा। ब्रह्मदर्शनमें योग एवं भक्ति दोनों ही साधन हैं। वेदान्त शास्त्र समन्वयवादी है। समग्र साधनाओंका यहां आदर होता है। सभी साधन कुछ न कुछ साध्य सिद्ध करता ही है। योगसे ब्रह्माकार चित्तवृत्ति होती है। किंतु उस चित्तवृत्तिका स्थैर्य भक्ति भावनासे ही होगा। किसी कार्यके करनेमें प्रेम हो, रुचि हो, तभी वह कार्य सुचारु रूपसे हो सकता है।

अनेक देशोंमें यात्राकी। हजारों व्यक्तियोंसे परिचय हुआ। कईयोंने उत्तमोत्तम सहयोग दिया। कईयोंको सहकार दिया। किंतु

दीर्घकाल व्यतीत हुआ तो धीरे-धीरे सभी हृदयसे उतर गये। बहुतसे लोगोंको थोड़ा-थोड़ा याद करते हैं। बहुत लोगोंको पूरा ही भुला दिया है। किंतु माता-पिता भाईबन्धुओंको नहीं भूलते। श्रद्धेय गुरुको नहीं भूलते। क्यों ? इन सबके प्रति विशेष भावना है। अर्थात् ज्ञानको स्थायी रूप देनेवाली भावना है। आप योग करेंगे तो बुद्धि होगी, ज्ञान होगा। किन्तु वह ज्ञान भावनाके विना स्थायी नहीं हो सकता। अतएव युक्त आसीत् मत्परः इस प्रकार प्रथम दोनोंको समकक्षतया बताया। युक्त भी हो, मत्पर भी हो। युक्तताके बिना बुद्धि नहीं, कहने ही से अर्थतः मत्परताके बिना बुद्धि नहीं होगी, या बुद्धि स्थायी नहीं होगी यह बात सिद्ध होती है। अतः उतना अंश कहे विना ही यहां अन्य विशेष वक्तव्य कह रहे हैं। युक्तताके बिना भावना भी नहीं होगी।

भावना दर्शनार्थं या दर्शनके स्थायित्वार्थं करना ही है। परंतु वह भावना योगके बिना नहीं बनेगी। क्योंकि भगवान् ऐसे तो नहीं है कि आपका बेटा बनकर प्रत्यक्ष आते हों। यहां तो भगवानका चिन्तन करते-करते ही भावना उत्पन्न करनी पड़ेगी। बार-बार भगवत् ध्यान चिन्तन करते हैं तभी भावना पैदा होती है। श्रवण मननादिको भी हम योग कह आये हैं।

> शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः
> हृद्यन्तःस्थोह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्
> नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया
> भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी

बार-बार भगवत्कथा श्रवण करनेसे भगवान हृदयमें प्रवेश करते हैं। हृदयमें प्रवेश करनेका मतलब निरन्तर ध्यान विषय होते हैं। यह एक योग है। उससे अभद्र पाप नष्ट होते हैं। पाप प्रायः नष्ट होते है नित्य भगवत सेवनसे श्रवणमनन निदिध्यासनरूपी योग-

से तो भगवानमें नैष्ठिकी भक्तिको प्राप्त करते हैं। नैष्ठिकी भक्तिका अर्थ है नितरां स्थितिरूपी योगसे होनेवाली भक्ति जो अत्यन्त दृढ़ होती है।

न चाभावयतः शान्तिः। भावनाका फल है शान्ति। भगवत्-भावना हुई कि नहीं, इस बातकी पहचान कैसे करें? शान्तिसे। कार्यसे कारणका अनुमान होता है। धुआं दिखाई पड़ा तो करणका अनुमान करते हैं। कारण है अग्नि। कहीं कारणसे कार्यका अनुमान होता है। काला बादल दिखाई पड़ा तो अनुमान करते हैं वृष्टि होने वाली है। कहीं कार्यसे कारणका अनुमान और कहीं कारणसे कार्य-का अनुमान होता है। यहां पर शान्ति रूपी कार्यसे कारणका अनुमान् किया जाता है। भावना कारण है। क्यों अनुमान करना चाहिय? इसलिये कि आप कहीं धोखेमें न रह जाय। भगवानने कहा—मत्पर बनो, भावना करो। आपने दो-चार माला फेर लिया। फिर सोच लिया कि मैंने भक्ति भावना कर लिया, अब कृतकृत्य हो जाऊगा। यहां कारण अदृश्य हैं। कार्य दृश्य है। आपमें भावना है या नहीं, इसम प्रमाण शान्त है। यदि आपके मनमें शान्ति हो रही है तभी समझना कि मनमें भावना हो रही है।

मनमें अनेक प्रकारका अभाव खटकने लगता है तो उसकी पूर्त्ति-के लिय बेचैनी होती है। पूर्त्ति करनेक लिये बेचैनी और पूात न होने पर बेचैनी। यही बेचैनी अशान्ति है। भावना हानेपर चित्त भगवानकी ओर बढ़ता है। भगवान पूर्णात्मा है। जहां पूर्णताका दर्शन होने लगता है वहां फिर अभाव नहीं रह सकता। सन्त महापुरुष स्वान्तःस्थ पूर्णात्मास परिपूर्ण रहते हैं। ससारका अभाव उन्हें नहीं खटकता। क्योंकि वह तो बाधित है, उसस क्या पूर्णता और क्या अपूर्णता। मरुमरीचिका जलसे न मरु सरोवर अपूर्ण या पूर्ण होता है।

"पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यतां"

आचार्य कहते हैं—दृढ़ भावनासे पूर्णात्माका अंदर दर्शन करो। तो स्वयं पूर्णता होगी और जगत्को बाधित देखो। जिससे अपूर्णता अपने आप खतम होगी। तब—

द्रष्टव्यं जगतीषु दृष्टमखिलं मन्यव्यमेवं मतं
श्रोतव्यं निखिलं श्रुतं जगति चाप्याप्तव्यमाप्तं तथा
यस्योन्मीलतिलूनलोकविषयानन्ताभिलाषाततिः
प्रेमा क्षान्तसमस्तमोहमहिमा निर्वाणनिष्प्राणनः

जिसके हृदयमें भगवानके प्रति अनन्त अपार प्रेम उद्भूत हो जाता है, भगवद्भावनाभरित हृदयसे पूर्ण परमात्माका अवलोकन करने लगता है तब उसके लिये द्रष्टव्य कुछ भी बचा नहीं रहता। द्रष्टव्य सभी दृष्ट हो जाता है। माननीय भी कुछ नहीं रहता तथा श्रोतव्य भी नहीं रह जाता। वह कृतकृत्य हो जाता है। स्वयं पूर्ण हो जाता है। घडा जब आधा भरा रहता है तब छलकता है। पूर्ण होनेपर शान्त हो जाता है। इसी प्रकार पूर्ण परमात्मा प्राप्त होने पर अशान्ति नहीं रहती। घट पूर्ण हो तो भी छलकता नहीं. एकदम खाली हो तो भी छलकता नहीं। आधा-पौना भरा रहता है, तभी छलकताहै। वैसे यहां भी है।

'द्वावेतौ सुखमेधेते पुरुषौ प्राप्यवर्जितौ
यस्तु मूढतमो लोके यश्चपारे तमोगतः

या तो महामूढ़ हो, या फिर परिपूर्ण हो। दोनों ठीक है। बीच वाले बड़ा कोलाहल करते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी यही बात कही है—

"द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः"

यहां मूढ़तमकी बात नहीं है। क्योंकि बुद्धिका प्रकरण है—बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। तब अशांति मिटानेका तरीका शून्यता नहीं, पूर्णता ही होगी। भगवद्भक्ति होनेपर अभाव नहीं खटकता।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्

ऐसा भगवद्वचन है। चित्रकेतु, वृत्रासुर प्रसङ्गमें केवल चतुर्थ-पादमें अन्तर है—"समञ्जसत्वा विरहस्य काङ्क्षे" ऐसा पाठ है। पारमेष्ठ्यं ब्रह्मलोकको कहते हैं। उसकी भी अभिलाषा भक्तको नहीं होती। महेन्द्रधिष्ण्य इन्द्रलोकको कहते हैं। सर्वभौम सम्पूर्ण-भूमि राज्यको कहते हैं। रसाधिपत्य पाताललोक राज्यको कहते हैं। यहां पतत्प्रकर्ष क्रमेण वर्णन है। न पारमेष्ठ्यं यह सर्वोच्च है। उससे नीचे महेन्द्रधिष्ण्य है। उससे नीचे सार्वभौम और सबसे नीचे रसाधिपत्य है। ऐसा वर्णन क्यों किया ? पतत् प्रकर्ष तो वर्णन दोष माना गया है। नहीं। मनुष्यकी इच्छा अलाभमें पतत् प्रकर्षा होती है। एक सेठसे जाकर कहा -मंदिर, धर्मशाला बनवाना है, एक लाख रुपये दीजिये। सेठने कहा—एक लाख कौन देता है। कार्य-कर्त्ताने कहा—दो दस हजार ही दीजिये। वह भी नहीं कहा तो बोला, कमसे-कम हजार ही दीजिये, सौ ही दीजिये। यहां पतत्प्रकर्ष है। किन्तु दोष नहीं है। पारमेष्ठ्यको शायद दुर्लभ समझकर न चाहता हो तब कहा इन्द्रलोकको भी नहीं चाहता। इन्द्रलोक कर्म प्राप्य है। वह भी शतयज्ञ साध्य है, कठिन है, अतः उसकी भी चाह छोड दें तब कहा न सार्वभौमं। इस रीति यहां व्याख्या है। सारांश इतना ही है कि भगवद्भक्तिभावनासे पूर्ण हृदयवाला पुरुष किसी भी विषय लालसामें पड़कर अशान्त नहीं होता। यदि आपको विषयोंकी न्यूनताको लेकर अशान्तिका अनुभव हो रहा हो तो समझ लेना चाहिये कि मुझमें अभी भावना नहीं हुई है। हमें बहुत कुछ साधना करना अभी बाकी है।

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति"

ऐसा आगे बतायेंगे। तब यह कथन कैसा कि "न चाभावयतः शान्तिः" उत्तर है कि ज्ञानको स्थिर करनेके लिये ही भावना चाहिये। किसीको संगीत पर बहुत प्रेम है। संगीत सुनने पर मजा आती है। किन्तु विशेष ज्ञान न होनेसे पूरा आनन्द नहीं होता। वह संगीत ज्ञानके लिये खूब एकाग्रचित्त होकर प्रयत्न होता है। प्रथम-प्रथम हमें वेदशास्त्र पर बहुत प्रेम था। वेदोच्चारण सुननेमें बड़ा अच्छा लगता था। संस्कृत भाषा मीठी लगती थी। उसी भावनासे प्रेरित होकर अध्ययनमें लगा तो उसका ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान स्थिर हुआ। अगर भावना न होती तो हजार बुद्धिमान फिरते हैं, कहां उनकी अध्ययनमें प्रवृत्ति होनी है और ज्ञात होता है? इसी प्रकार परमेश्वर पर प्रेम होगा तो ही परमेश्वर-ज्ञानके लिये निरन्तर प्रयास करेगा। उसकी वृत्तियां दृढ़ हो जाती है तो भावना भावित चक्षुसे तत्त्व साक्षात्कार करता है। अतः ज्ञान सम्पादनार्थ, तथा संपादित ज्ञानके दृढ़तार्थ भावना परम आवश्यक है। भावना सहित ज्ञानसे परम शान्ति होती है। इस प्रकार 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्" और "न चाभावयतः शान्तिः" इन दोनों वचनोंकी उपपत्ति है। इन दोनों वचनोंसे यही सारांश निकलता है कि ज्ञान प्राप्तिके साधन रूप श्रवण मनन सत्सगादि नियमित रूपसे करो। प्रतिदिन श्रवण करते रहनेसे कुछ बातें आखिर चित्त पर टिक ही जायेगी। साथ ही भगवद्भावना उत्पन्न करनेके लिये नियमित पूजा-पाठ ध्यान आसनादि करो। और खूब प्रेमके साथ करो। श्रवण सत्सगादिसे ज्ञान प्राप्त होगा। ध्यान पूजादिसे भावना प्राप्त होगी। ये दो ही शान्ति प्राप्त होनेके मुख्य दो साधन हैं। किसी एकका तिरस्कार न करो। भक्त होकर ज्ञानका तिरस्कार न करो। ज्ञानी होकर भक्तिका तिरस्कार न करो। क्योंकि अब सभी साधन पथ पर हैं। सिद्ध होने पर अपने आप परिपक्वता आयेगी। कहनेकी भी आवश्यकता नहीं होगी।

आशान्तस्य कुतः सुखम् । कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनको शान्ति ही पसंद नहीं है। हाय-हाय करते-रहनेसे उनका दिन कटता है। दौड़-धूप किये बिना चैन नहीं पड़ती। दिन भर हो हल्ला हो तो मजा है। घरमें बच्चे हल्ला कर रहे हैं, लड़ रहे हैं, भिड़ रहे हैं। जहां काम करते हैं वहां मजदूर मालिकका झगड़ा चलता है। इसी-में दिन कट रहे हैं। उनसे कहा जाय शान्तिसे बैठो तो नहीं बैठ सकते। उनके प्रति भगवानका कहना है कि यह तो दिन काटनकी बात है। क्योंकि हृदयकी अशान्तिसे भारी बेचैनी है, उसको काटनेके लिये बाहरकी अशान्तिको साधन चुन रहे हैं। लेकिन इतनेसे भीतर-की अशान्ति कटती नहीं, नष्ट नहीं होती। सूर्यादय हुआ तो तारे खतम हुए ? खतम नहीं हुए, केवल दब गये। सूर्योस्त होने पर फिर प्रगट होंगे। एक आदमीको मैंने देखा कि क्रोध आता था तब गाली देता, मारपीट करता था, तो ही उसका क्राध शान्त होता था। अब कोई मनोविज्ञान वाला आकर कहें कि अंदरके विकारोंको दबाना नहीं चाहिये, बाहर निकालना ही उसका इलाज है तो यह यहां तक उचित होगा ? अंदरका विकार क्रोध है। उसको मारपीट करके निकालना चाहिये क्या ? यह गलत मनोविज्ञान है। बाह्य कोला-हलसे आन्तरिक विकार नष्ट नहीं होते। बाहरकी अशान्तिसे भीतर-की बेचैनी दब सकती है। किन्तु समय पर फिर उभरेगी। अतः अशान्तको कभी सुख नहीं मिल सकता। सुखके लिये, चैनके लिये अंदरसे शान्तिको संपादन करना ही उचित है ॥ १३ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।। २-६७ ।।

[विषयोंमें चरती हुई इन्द्रियोंके मध्यमें जिसके पीछे मन लग जाता है वह इस साधकको प्रज्ञाको हर लेता है, जैसे वायु जलमें नावको दर ले जाता है]

"यदा संहरते" में संहरणके अंश द्वयकी आवश्यकताको दो श्लोकोंमें वर्णन कर निकृष्ट साधना स्वरूप "तानि सर्वाणि संयम्य" इस श्लोकमें बता दिया था। संयमन क्यों करना ? युक्तता और मत्परता न हो तो क्या हानि, इन दोनों बातोंको व्यतिरक मुखसे "ध्यायतो विषयान्" से और "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य" इत्यादिसे बताया। अब इस प्रश्नका, कि "सर्वाणि इन्द्रियाणि"में "सर्वाणि" क्यों कहा गया ? 'कूर्मोऽगानीव सर्वशः यहां स्पर्शः क्यों कहा ? कुछ तो छूट होनी चाहिये, सप्ताहमें एक दिन मजदूरोंको छुट्टी होती है, सालभरमें होलीके दिन कुछ भी करनेकी छूट है, उस रोज कोई गाली दे तो भी लोग बुरा नहीं मानते, विवाहके समय छूट है, बुरी-बुरी गालियां भी देते हैं तो भी बुरा नहीं मानते, ऐसे इन्द्रियोंको भी कभी छूट है या नहीं ? एकाध इन्द्रियको छूट दी जा सकती है या नहीं, उत्तर भगवान दे रहे हैं—"इन्द्रियाणां हि" इत्यादि नौकरी मजदूरी आदिके लिये छुट्टी होती है। किन्तु साधक को छुट्टी नहीं है। छूट भी नहीं है। यही इस श्लोकमें कहने जा रहे हैं।

इन्द्रियाणां हि चरताम्। भक्षण अर्थ में चर धातुका मुख्य प्रयोग पशुओंके साथ होता है। "**चरगतिभक्षणयोः**" ऐसा धातु पाठ है। चर धातुका गमन अर्थ भी है, भक्षण अर्थ भी है। किन्तु भक्षण

अर्थमें मनुष्यके साथ प्रयोग नहीं होता है। "गौग्रासं चरति" प्रयोग होता है। 'देवदत्त ओदनं चरति' प्रयोग नहीं होता। हिंदीमें भी प्रयोग समान है। गाय घास चर रही है, ऐमा प्रयोग होता है। रामलाल रोटी चर रहा है, ऐसा प्रयोग नहीं होता। यहां भगवानने इन्द्रियोंके साथ चर धातुका प्रयोग किया है। यहां केवल विचरण अर्थ नहीं है, किन्तु भक्षण या आहार अर्थ है। विषयोंका आहार करती हुई इन्द्रियोंके मध्यमेंसे ऐमा यहां शब्दार्थ है। तव "आहरतां" प्रयोग ही क्यों नहीं किया ? चरतां प्रयोग क्यों किया ? इसलिये कि यहां गौ की लुप्तोपमा विवक्षित है। उपमा लुप्त है। किन्तु कार्यसे उपमा प्रतीत होती है। कहीं-कहीं सभ्य तरीकेसे गाली देनेके लिये लुप्तोपमाका प्रयोग करते हैं। एक आदमी जोर-जोरसे चिल्ला रहा था, गुस्सा कर रहा था। तो दूसरे ने कहा—इतना क्यों भोंकते हो ? यहां उपमा लुप्त है। अर्थ बडा भद्दा है। किसकी उपमा है ? क्या रूपक है ? तुम कुत्ते हो ऐसा नहीं कहा। उसके बिनाही वह अर्थ आ गया है। वैसे यहां चरतां कहनेसे अर्थ आया—ये इन्द्रियां गाय है या पशु है। फिर संस्कृतमें जो शब्दका इन्द्रियां भी अर्थ है। गोचर शब्द भी प्रसिद्ध है दृष्टि गोचर श्रोत्र गोचर आदि प्रयोग होता है। गोचर भूमि माने गायोंको चरनेकी भूमि। और गोचर माने इन्द्रिय विषय। तात्पर्य यह है कि चरतां से पशुसादृश्य ध्वनित करना चाहते हैं भगवान।

इन्द्रियोंमें क्या-क्या पशुसादृश्य है, गो सादृश्य है ?। यह एक है कि गायें जब चरती है तो एक जगहकी घास खतमकर दूसरी जगह नहीं जाती। थोड़ा इधर खाया थोड़ा उधर खाया, चलती रहती है और खाती रहती है। वैसे ये इन्द्रियां भी एक विषय पर टिकी नहीं रहती। एकसे दूसरे विषय पर छलांग मारती रहती है। चलती फिरती रहती है। अत एव अच्छे बुरे विषय आते ही रहते हैं। फंसनेके लिये काफी गुंजाईश रहती है।

गो सादृश्य दूसरा यह है कि गाय घास खानेके बाद जुगाली रहती हैं। दिनमें मोटे तोरसे जो मिल गया सो खाया, पेट भरा। उसके बाद सायंकाल गोशालामें पहुंच जाती है, घर पहुंच जाती है तो उसकी जुगाली शुरु होती है। रात भर और काम क्या? जुगाली कर खाये हुए को वापिस मुंहमें लेकर चबाकर मेहीन करती हैं, रस रक्त योग्य बनाती हैं। इन्द्रियोंका भी यह काम है। चलते समय एक सुन्दर रूप दिखाई दिया। उसे अंदर ले लिया फिर बादमें घरमें जाकर जुगाली करना प्रारंभ करेगी। कैसा सुन्दर रूप था, कैसा अच्छा था। मानों कि आंखोके सामने वह रूप दुबारा आ गया हो वैसे देखने लगते हैं। अपने सुदर संगीत सुना। सुननेके लिये और भी क्या-क्या सुनते हैं। किन्तु घरमे जाकर सुन्दर संगीत की जुगाली कान करत है। कैसा बढ़िया स्वर, कैसा कंठ, कैसी आवाज कोई जरूरी नही है कि अच्छी चीजोकी ही जुगाली हो। कहीं आपने एक्सिडेंट दखा, किसी आदमी पर गाड़ी चढ़ गयी, टांग पिस गयी। बहुतस लोग तो वही बेहोश हो जाते हैं। एक महात्माको हमने देखा कि इंजेक्शन् (बड़ा) देते हुए देखा तो बेहोश हो गये। एक्सिडेंटको फिर जब-जब याद करते है तब-तब कांपने लगते हैं। वही-वहीं दृश्य सामने नाचने लगता है। वैसे ही जैसे कि प्रथम दिन देखा था। कोई गाली दे, अपशब्द कहे, तिरस्कार वचन कहे तो उसकी जुगाली चलती है। बार-बार शब्द कानमे गुंजने लगता है। बार-बार उसी को लेकर गुस्सा आता है। ऐसा शब्द उसने मुझे क्यों कहा? यही चित्तस्वरूपानुकार है। चित्तमें वह दृश्य, शब्द लीन होते हैं। इन्द्रियोका पेट चित्त है। वहां से बार-बार बाहर निकालकर ये इन्द्रियां जुगाली करती रहती हैं। पुनरनुभव सा करती रहती हैं। यह चित्त भी इन्द्रिय ही है मनको भी बहुतोंने इन्द्रिय माना है। मनमे आई बातोंको वह प्रकृति रूप पेटमें भर देता है। आज सो गये तो सुषुप्ति कालमें मनमें कोई बात नहीं रही तो इसका मतलब यह

नही है कि बात समाप्त हो गयी। बात केवल पेटमें चली गयी। दूसरे दिन उठते ही वह फिर मनमें आ जाती है। फिर जरूरत पड़ने पर वह इन्द्रियोंमें भी जाती है। अत एव इन इन्द्रिय रूपी गाय बैलोंसे अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। यह सूचित करनेके लिये "चरतां" कहा।

सावधानी किस प्रकार? यह पहले ही आ चुका है—राग-द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरनं" यहां पर भी चरन् प्रयोग है। इन्द्रियोंके विषय चरणका निषेध नहीं किया जा सकता। परंतु विचारणीय विषय इतना ही है- कैसे करना चाहिये। हम पहले ही बता आये हैं कि विषयोंके सामने केवल दर्पणवत् रहना चाहिये। नेगेटिवके समान नहीं। दर्पणके सामने वस्तु आयी तो उसकी छांया दर्पणपर पड़ती है। किन्तु वह उसे पकड़ नहीं रखता। इसके विपरीत नेगेटिव पर वस्तुकी छाया आ जाती है तो वह उसे पकड़ रखता है। क्यों नेगेटिव पकड़ रखता है, दर्पण नहीं? इसका उत्तर दिया था— दर्पण पर रसायन नहीं है, नेगेटिव पर रसायन है। इसी प्रकार इन्द्रिय एवं मन पर भी ध्यान रखना पड़ेगा। कहीं इस पर चिपकानेवाला रसायन पैदा न हो जाय। वह रसायन मुख्य रूपसे राग-द्वेष है। अन्य आचार्योंने और भी कईयोंका नाम गिनाया है।

"कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः"

कामादि सभी रसायन है। इस सबसे विषयकी छाया चिपकती है। श्रीमधुसूदन सरस्वती स्वामीने छाया मुद्रणकी प्रक्रिया अलग बतायी है। ये राग-द्वेषादि केवल गोंद जैसे नहीं। इनसे प्रथम चित्त पिघलता है। तब विषयकी छाया आती है तो चित्त पर वह चिपक जाती है या मुद्रित होती है।

"चित्तद्रव्यं तु जतुवत् स्वभावात्कठिनात्मकम्
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते

कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः
तपकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्"

ऐसा मधुसुदन स्वामीने भक्ति रसायनमें कहा है। "तापकाः" यह रूपक कथन मात्र है। द्रवीभावमें तापक ही कारण हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। मिट्टीमें पानी पड़ता है तो भी द्रवीभूत होता है। उसमें हाथ पांवकी निशानी पड़ती है। फिर मिट्टी गरमीमें सूख जाती है तो छाप पक्की रह जाती। सिमेंटमें पानी पड़ा और जैसी छाप पड़ी वैसी ही छाप सूखने पर भी रह जाती है। जो रंग पड़े वह रंग भी रह जाता है। क्रोधादि द्रवत्वकारण तापकरूपमें हो सकते हैं, किन्तु स्नेह भक्यादि शीतल है। चित्तके द्रवी भाव मात्रमे तात्पर्य है। क्रोधीके हृदयमें शत्रुका चित्त हमेशा झलकता है। कामीके हृदयमें कामिनीका चित्र। भीरूके हृदयमें भयावह वस्तुओंका चित्र।

ये काम क्रोधादि द्रावक रसायन सर्वथा खराब नहीं है। विषय संनिधि में ये खराव हैं। किन्तु भगवत्संनिधिमें ये सभी उपकारी सिद्ध होते हैं।

गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो

ऐसा श्रीमद्भागतमें नारदजी युधिष्ठिरको कह रहे हैं। गोपिकाएं भगवानको कान्ताभावमें भजती थीं। उनके हृदयमें काम था। कामसे उनके हृदय द्रवीभूत हुए। श्री कृष्ण छाया उनके हृदयों पर अंकित हुई। कंस श्री कृष्णसे भयभीत था। उसको मृत्युरूपमें श्री कृष्ण दीखते थे। भयके द्रवीभूत चित्तमें श्रीकृष्ण अंकित हुए। इसी प्रकार जीवनभर शिशुपालने द्वेष किया, क्योंकि रुक्मिणीका विवाह शिशुपालसे होनेवाला था। शिशुपालने रुक्मिणी हरणको आखिर तक इसी नजरसे देखाकि कृष्णने मेरी पत्नी को छीना। भक्ति

व्याख्यामें इन सबका विस्तृत वर्णन है। यहां हमने दिग्दर्शन मात्र थोड़ा कराया। प्रकृतमें हमें विषय संनिधिमें ही विचार करना है। इन्द्रियोंसे आप विषयोंका अनुभव भले करो, किन्तु यह प्रथम देखो कि हमारे अन्दर द्रावक पदार्थ तो नहीं है। यदि है तो बहुत अधिक सावधानी बरतनी होगी।

आंखोंका काम है देखना। आप बाहर जायेंगे तो स्त्री भी दिखाई पड़ेगी पुरुष भी दिखाई पड़ेगा। लड़की भी, लड़के भी, जवान भी युवति भी। परन्तु यह साथमें देखो कि मेरे चित्तमें द्रावक कामादि तो नहीं है। यदि है तो ऐसे स्थानोंमें मत जाओ। जिससे चित्त पर छाप पड़ती हो। अजामिलकी कथामें यही बात आयी है। अजामिल वैसे तो विवाहित था। जवान था। घरमें आयी हुई कन्या अधिक प्रौढ़ नही। उसी बीच वह जंगलमें लकड़ी लाने गया। तो रास्तेमें शूद्र पुरुष एवं वेश्याको देखा। अन्दर काम था तो उस तरफ दृष्टि न डालकर शीघ्र चले आना चाहिये था किन्तु अजामिलने वैसा नहीं किया। सूक्ष्म दृष्टिसे उनकी चेष्टाओंको देखने लगा। जैसे-जैसे सूक्ष्म नजरसे देखता गया वैसे-वैसे चित्त हृदय पर अंकित होता गया। अन्तमें वह बुरी तरहसे फंसा। आप निरीक्षण करो कि मेरे मनमें क्रोध रूपी रसायन है या नहीं ? यदि है तो आप शत्रुके घरके पाससे मत जाओ। जायेंगे तो क्रोध होगा। झगड़ा लड़ाई होती। अशान्ति होगी। यदि आपके मनमें क्रोध नहीं है तो कहीसे भी आप जाईये। वह गाली दे तो सुनते जाईये। गाली ऐसी तो है नहीं कि आपके शरीर पर वह चिपक जाय। हां, मार-पीटकी संभावना हो तो जाना नहीं उधर क्योंकि मारकी निशानी कोई दूसरा देख लेगा। गालीकी निशानी दिखाई नहीं पड़ती। मारकी निशानी दिखाई पड़ती है। अत दुनियांमे जीनेके लिये ऐसी उदारता मत दिखाना। क्योंकि यह दुनिया है। दिखावेकी। चाहे आप गृहस्थ हो चाहे विरक्त। जहां

दिखावे की जरूरत पड़ती है, वहां विरक्ति नहीं बरतो। जहां विरक्तिसे काम चल जाय वहां दिखावा न करो।

एक बार मैं यात्रामें निकला था। मेरे साथ एक दूसरे भी संत थे। बड़े प्रसिद्ध विद्वान थे। आपके यहां मैं जैसा हूं वैसा हूं। किन्तु बहुत ऐसी भी जगह है जहांके लोग हमको सर्वोच्च विद्वान्के रूपमें भी देखते हैं। एक आश्रममें गये। बाहर बरामदेमें आसन रखा। कोई पहचानता नहीं था। बाहर भिखारियोंके समान भोजन दिया। हमने कहा—कौन देखता है, खा लो। भोजन किया। विश्राम किया। वहांके एक महात्मा को थोड़ा संशम हुआ। उसने पूछा, आप लोग कहांके हैं ? हमने कहा, हम लोग ऐसे ही फिरते हैं। "बहता पानी, फिरता संत। विश्राम करके आश्रमसे बाहर निकले तब तक उस पहलेवालेने दूसरेको अपना संशम बताया। दोनों दौड़-दौड़कर आये और मेरा नाम लेकर पूछा, आप वे ही हैं न ? इतनेमें हम टेक्सीमें बैठ चुके थे। झूठ तो बोलना नहीं था। हां, कह दिया। उन्होंने टेक्सी रोकनेकी कोशिशकी। तब तक हम आगे निकले। (यह अहमदा-बादकी घटना है)। उस यात्रामें हम ऐसे ही बहुत घूमे। उसमें सब सब जगह अनजान बने रहे। उन लोगोंने मुझे भिखारी समझा और फटकारा तो हमारा क्या बिगडता था ? किन्तु जानकार स्थानमें पहुंचते हैं तो अपने पूरे स्वरूपमें रहना पड़ता है।

यदि आपके मनमें भय है तो जंगल मार्गसे मत जाओ। घोर अंधकारमें मत भटको। सावधान रहो। क्योंकि भयावह दृश्य दिखाई पड़ा तो वही बार-बार नजरमें आयेगा। सपनेमें भी वही दृश्य दिखाई देगा। भयसे चित्तमें अस्थिरता होगी। यदि आपके मनमें भय नामकी चीज नहीं तो रातको श्मशानमें पड़े रहो तो भी कुछ नहीं होगा। न आपको भूत दिखाई पड़ेगा और न प्रेत। अरण्यमें गुफाओंमें जाकर रहो। एकांतमें रहो। गंगा किनारे एकान्तमें एकाकी रहकर जप करो।

"सदा पुण्येऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रजपतः"

भगवान शंकर अभय प्राप्त हैं। इसलिये "श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा" हो रहे हैं। अभय ही तो मोक्ष है। देखो मनमें स्नेह है या नहीं ? यदि स्नेह है तो बहुत अधिक दारपुत्रादिमें मत रहो। यह स्थितप्रज्ञ बननेका साधन बताया जा रहा है। यह स्मरणमें रखें। दारपुत्रोमें मत रहो, ऐसा उपदेश नहीं दे रहे हैं। स्थितप्रज्ञ होना हो तो और मनमें स्नेह मोहका साम्राज्य हो रहा हो तो अधिकसे अधिक इन सबसे बचे रहो। यदि मनमें मोह नहीं है तो राजा जनकके समान पूरे वैभवमें रहो, कोई मना नहीं करता हर्ष और शोककी ओर देखो। धन पुत्रादि प्राप्तिमें हर्ष होता है, इनके वियोगमें शोक होता है तो इनकी प्राप्तिमें विमुख रहना चाहिये। हर्ष शोक न होता हो तो आने दो धन पुत्रादिको, जानेवालेको जाने दो।

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पंडितम् ॥

हर्ष शोकादि तो मूढोंके लिये हैं। पण्डितोंके लिये नहीं। और इस प्रकारके अनेक भाव हैं जो चित्तके द्रावक हैं। द्रावक यदि हैं तो हमेशा सजग रहना, द्रावक अगर न हो तो स्वयं नित्य सजग है।

यन्मनोऽनुविधियते। "राग-द्वेष वियुक्तैस्तु चरन्" यह पहले कहा गया। राग-द्वेषका अर्थ कामक्रोध भय स्नेह हर्षशोकादि सभी द्रावक तत्त्व है, ऐसा बताया। इन द्रावकोंके न होने पर विषय चरणमें कोई हानि नहीं। इसके विपरीत मन उसका अनुविधान करेगा। 'अनुविधीयते' का अर्थ है— अनुविधेयो भवति। विधेयका अर्थ संस्कृतमें नम्र होना है।

"विधेयो विनयग्राही"

ऐसा कोशमें लिखा है। पत्रके अन्तमें शिष्य पुत्रादि लिखते हैं— इति भवतामनुधेयः अमुकः। वशंवद, अधीन, विनयी आदि अर्थोमें यह शब्द है। यहां 'अनुविधीयते' का अर्थ है जिस इन्द्रियके अधीन हो। पराधीन हो। इन्द्रियों का काम चरना है उसके पीछे मन दासके समान पहुँचा और कहने लगा, इसे थोड़ा और मुझे चखने दो। या यों कहिये जिस इन्द्रिय विषयको लेकर मन छायाग्राही हो जाता है, उससे अत्यन्त सावधान रहना।

तदस्य हरति प्रज्ञाम्। यहां तत् पदसे मन लिया जाता है। यत् का इन्द्रिय हो तो 'तत्' से मन कैसे लिया जाय? उत्तर है, वहां भी यादृश अर्थमें यत्पद है। "इन्द्रियाणां चरतां मध्ये इन्द्रियाविशेष-विषयमुद्रितयादृशं मनोऽनुविधीयते तादृशं मनः अस्य प्रज्ञां हरति" ऐसा अन्वय है। वह मन प्रज्ञाका हरण करता है। मनुस्मृतिमें इसी ढंगका श्लोक आता है। उसमें 'एक' पद अधिक है।

इन्द्रियाणां नु सर्वेषां यद्येकं क्षुरतीन्द्रियम्
तदस्य हरति प्रज्ञां हृतेः पादादिवोदकम्

एक भी क्षरित हुई, मतको विषयकी ओर ढकेल दिया तो पूरी प्रज्ञा खलास हो जाती है। अर्थात् धीरे-धीरे सभी इन्द्रियां फिर क्षरित होने लगती हैं, मन सर्व विषयानुविधेय होने लगता है। (१) **ऋष्य श्रृङ्गकी** कथा हम पहले भी सुना चुके हैं। ऋष्यश्रृङ्गकी प्रथम एक ही इन्द्रिय क्षरित हुई थी। कौन सी? श्रोत्रेन्द्रिय। ऋष्य-श्रृङ्ग तपस्वी थे। ब्रह्मदर्शी थे। पिता विभाण्डक ऋषिने उन्हें योगी ज्ञानी सब कुछ बना दिया था। किन्तु एक श्रोत्रेन्द्रियमें उनकी वासना बनी रही। विभाण्डक ऋषिने बहुत कुछ समझा रखा था। किसीका स्पर्श न करना, किसीकी दी वस्तु नहीं खाना, इधर-उधर भटककर देखना नहीं इत्यादि। परन्तु यह समझना भूल गये कि—"**ग्राम्यगीतं न श्रृणुयात्**" क्योंकि जंगलका मामला था। वहां ग्राम्यगीतकी

सम्भावना ही नहीं थी। "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" निषेध तो प्राप्ति होने पर किया जाता है। परन्तु इधर दैवका विधान कुछ और ही हुआ। रामपादकी भेजी हुई गायिकाओंने गीत सुनाना शुरू किया। इधर वे मृगी सुत तो थे ही। मृगीका गीत संस्कार जगा और गीत सुनने लगे। गीत स्वर मोहित होकर पिताजीके सारे उपदेशोंका पार कर गये। उन गायिकाओंसे भेंट की, उनकी मिठाईयां खायीं। यह तो थोड़ी बात हुई। राजा रोमपादके राज्यमें गये, उनकी पुत्रीसे विवाह भी किया। अब क्या बचा? एक इन्द्रियकी कमजोरीके पीछे सभी इन्द्रियां क्षरित हो गयीं।

(२) दूसरा भरतका उदाहरण है। उनकी स्पर्शेन्द्रिय क्षरित हुई। गंडकी नदीमें पड़े हरिण पर दया करना तो सामान्य बात है। उसको गोदमें लिया तो स्पर्श सुखका अनुभव हुआ। मृगचर्म अत्यंत प्रसिद्ध है। मरे हुए मृगका भी चर्म बहुत मुलायम होता है। उसके बाल बहुत मुलायम होते हैं और ठढोम बहुत गरम होते हैं। गंडकी नदीके किनारे ठंडी तो लगती ही रही। वहां एक मुलायम गरम रोम तो मुलायम कंबलके मुकाबले भी अधिक सुखदायी मालूम पड़े। उसको भरतने गोदमें लिया तो स्पर्शनेन्द्रियका राग उद्भूत हो गया। अपने औरत पुत्रादिके स्पर्शमें भी उनको इतना आनंद शायद नहीं मिला था। आजकलके लोग हरिणके बदले कुत्तोंको गोदमें उठाते हैं। परन्तु यह शास्त्र प्रतिषिद्ध है। हरिण पवित्र जानवर होता है। कुत्ता अपवित्र है। क्यों शास्त्रकारोंने कुत्तेका तिरस्कार किया? वह बड़ा स्वामीभक्त होता है? होता है अवश्य; और ऋषियोंने कुत्तोंका तिरस्कार भी नहीं किया। परतु जिसका जो स्थान है, वही उसको देना चाहिये। पञ्च महायज्ञमें ऋषियोंने कुत्तोंको स्थान दिया है। इससे बढ़कर और क्या आदर होना चाहिये। भूत यज्ञमें श्वानको ग्रास देनेका विधान है। गोग्रासके साथ श्वानग्रास भी लिखा है। ऋषियोंने महत्त्वपूर्ण यज्ञमें कुत्तोंको

स्थान दिया। परंतु कहा—उसे छुओ मत। यदि आप आधुनिक जमानेमें यह कहते हैं कि कुत्तेका स्पर्श अवश्यंभावी है तो कमसे-कम पूजा रूममें कुत्तेको मत ले जाओ। पूजामें पूर्व कुत्तेका स्पर्श मत करो। कुत्तेके मरने पर उसकी चमड़ी उपयोगमें नहीं लायी जाती। वैज्ञानिक दृष्टिसे कुत्तेके चर्ममें रोगाणु रहते हैं। अस्तु। प्रकृतमें हम बता रहे थे कि भरत हरिण स्पर्शमें मुग्ध हुए। धीरे-धीरे उसके रूपमें मोहित हुए। उसकी आवाज अच्छी लगने लगी। उसकी गंध भी पसंद आने लगी। बच्चेके समान उसे भी चूमना शुरू किया। मतलब एक विषयसे सभी विषयोंमें फैलाव हो गया।

(३) तीसरा उदाहरण अनेक ऋषि मुनियोंका है। अजामिलका जो उदाहरण अभी बताया वह प्रथम रूपमोहको लेकर ही है। वह दासी बहुत रूपवती थी। अन्य दृश्य सभी उद्दीपक थे। बड़े-बड़े तपस्वियोंको गिरानेका प्रयास इन्द्रने किया तो अधिकतर अप्सराओंके रूपके ही सहारे किया। विश्वामित्र तपस्या कर रहे थे तो तपमें विघ्न अप्सराके रूपसे किया।

"विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः
तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैवव मोहंगताः

ऐसा श्लोक भी प्रसिद्ध है। अपना परीक्षण करते रहो। मुझमें रूपमोह है या नहीं। रूप मोह है तो उसके द्वारा पांचों विषयोंमें धीरे-धीरे मोह हो जायेगा। विश्वामित्र, पराशर आदि दृष्टान्त सुनकर निराश होनकी जरूरत नहीं है। सभी एक ही प्रकारकी प्रकृतिके नहीं होते। विश्वामित्रादि रूप मोहित हुए, कोई रूपमोहित नहीं शब्द मोहित, दूसरा स्पर्शमोहित, यह तो प्रकृतिकी बात है। देखना यह है कि हमारी इन्द्रियोंमें कौन-सी इन्द्रिय क्षरित होने योग्य है।

(४) रस मोहितका उदाहरण आजके सभी है। किसी बीमारीसे रसनेन्द्रिय कमजोर पड़ गयी हो तो अलग बात है। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें बताया—

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारामनोषिणः
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते

यह श्लोक "विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः" के बराबर दीखता है। किन्तु विषय दोनोंका भिन्न है। यहां रसनेन्द्रियको जीतनेका प्रकरण है। अत एव आगे—"जितं सर्वं जिते रसे" बताया। रसनेन्द्रियको जीतो सबको जीत जाओगे। अन्य इन्द्रियोंमें पोषण भी आखिर रसनेन्द्रिय द्वारा ही प्राप्त होता है। सात्विक अन्न ग्रहण करते रहेंगे तो अपने आप शरीरेन्द्रिय मन आदिमें सात्त्विकता आयेगी। किन्तु बाजारकी चार पकौड़ीकी सुगन्ध आती है तो जीभ ललचाने लगती है। एक सद्गृहस्थ जा रहा था। उसने एक भिखारी-को देखा कि वह अखाद्य भक्षण कर रहा था। उसने कहा—

भिक्षो मांसनिषेवणं किमुचितं किं तेन मद्यं विना
मद्यं चापि तव प्रियं कथमहो वाराङ्गनाभिर्विना
वारस्त्रीरतये कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतरतस्य हन्तभवतो भ्रष्टस्य का वा गतिः

कोई काश्मीरी सन्त था। या बंगाली संत। उनका पूर्व-संस्कार कभी-कभी जगता है। और कई ढोंगी भी होते हैं, भिखारी भी होते हैं, रामेश्वरं, बदरीनारायण जानेका नाम लेंगे और सौ-पचास आपसे ऐंठ लेंगे। एक बंगाली महात्मा हरिद्वार पहुंचे। हरकी पैड़ीमें लबी-लंबी मछली देखकर उनके मुंहमे पानी आने लगा। सब बंगाली संतकी बात नहीं है। पूर्व-संस्कार जिसका जगा उसकी बात कह रहे हैं। बंगाली संतोंमें श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द जैसे भी अवतारी पुरुष हुए हैं। हां, तो एक भिक्षुक मांस सेवन कर रहा था तो सद्गृहस्थने कहा, हे भिक्षो, यह उचित है क्या ? भिक्षुने कहा—"नमांस भक्षणे दोषो" ऐसा मनुने कहा है। अतः इसमें क्या हर्जा है। तब सद्गृहस्थने—"किं तेन मद्यं विना" मांस भक्षण करोगे

तो धीरे-धीरे मद्य सेवन भी करोगे। खानेके साथ पीना भी होता है। भिक्षुने कहा—"न मांसभक्षणे" के बादमें—"न मद्ये" ऐसा मनुने लिखा है। मद्यमें भी कोई दोष नहीं है। सद्गृहस्थने कहा—ये दोनों होंगे तब "मद्यं चापि प्रियं कथमहोवाराङ्गनाभिर्विना" मद्य सेवनके बाद तुम्हारा ब्रह्मचर्य कहां रहेगा? फिर साधु कैसा? भिक्षुने कहा—क्या ऋषि-मुनि साधु नहीं थे? वहां भी वाराङ्गना आती थी। उर्वशी, मेनका आदि अप्सरायें वाराङ्गना ही तो थीं। 'न मद्ये' के बाद मनुने लिखा है—"न च मैथुने" सद्गृहस्थने कहा, हे महात्मा! अप्सराओंकी बात छोड़ो। वारस्त्र रतये कुतस्तव धनं? इधर वारस्त्रीके लिये धन कहां से लाओगे? जुआ खेलकर या चोरीसे। ऋषियोंको धनकी जरूरत नहीं थी। ये दोनों शुरू हुई तो फिर भ्रष्ट हुए, तुम्हारी क्या गति होगी? मनुस्मृतिमें यह श्लोक मांसादि भक्षियोंने प्रक्षिप्त किया।

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"

इसके मनुप्रोक्त श्लोक होनेमें प्रमाण नहीं है। इस प्रकार इन्द्रिय क्षरणसे पतन क्रम सर्वत्र स्थित। पांचवीं गन्धका उदाहरण भी इसीके साथ समझना चाहिये। प्याज की गंध से चाट खाने की इच्छा होने लगती है। उसका भी पूर्ववत् परिणाम है।

तदस्य हरति प्रज्ञाम्। मन यदि इन्द्रिय गामी हुआ तो बुद्धिहरण होगा। हम पहले कह आये हैं, यही भोग प्रवृत्ति है। और मन यदि बुद्ध्यनुगामी होगा तब इन्द्रियां चित्त स्वरूपानुकारी होंगी यही प्रत्याहार है, योगका प्रारंभ है।

वायुर्नावमिवाम्भसि। प्रज्ञा ही नाव है। यह संसार तो सागर है। इन्द्रिय विषय सागरोपम है। खारा है। सुख रहित है। उसे पार करनेकी नाव प्रज्ञा ही है। उसे स्थित करना चाहिये। नाव

डोलने लगे तो स्थिति डांवाडोल होने लगती है। यह मन वायुके समान है। झंझावातमें कहीं नाव पड़ गयी तो वह सागरमें अवश्य डूबेगी। वैसे यह प्रज्ञा भी विषयोंमें फंसकर भोगाधीन होकर नष्ट होगी। कूर्मदृष्टान्तके समान नांव दृष्टान्त भी महत्त्व पूर्ण है। सागरमें प्रज्ञारूपी नांव चल रही है। संसारमें प्रज्ञा रहे प्रज्ञा में संसार नहीं। जैसे पानीमें नाव रहे, नांवमें पानी नहीं। मन वायु समान चञ्चल है। 'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करं" ऐसा वायु दृष्टान्त मनके लिये आगे आने वाला ही है। संक्षिप्त इशारा इतना ही कर हम व्याख्या समाप्त करते हैं ॥ १४ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-६८॥

[इसलिये हे अर्जुन जिसकी समस्त इन्द्रियां विषयोंसे हटा दी गयी है, वही स्थितप्रज्ञ है ।]

स्थितप्रज्ञकी चार भूमिकाओंका वर्णन किया । पहली दूसरी ऐसे क्रमसे नहीं किन्तु 'प्रजहाति यदा कामान्' से क्रमशः सातवीं, छठी, पांचवीं और चौथी भूमिकाओंका वर्णन किया । चौथी भूमिका साधना प्रधान है । "यदा संहरते चायं" में पूरा साधन वर्णन है । दा यद्यपि उन साधनोंसे सिद्ध भूमिका ही स्थितप्रज्ञता है, तथापि साधन वर्णन स्पष्ट है । दो साधन बताये गये— एक इन्द्रियोंका विषयोंसे व्यावर्त्तन और दूसरा परमात्मामें स्थापन । इन दोनोंकी क्या आवश्यकता ? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रथम तीन श्लोक लिखे । फिर उसीके स्पष्टीकरणार्थ बादमें सात श्लोक आये । उसीका यह उपसंहार श्लोक है—तस्माद्यस्य । 'यदा संहरते चायं' श्लोकका और 'तस्माद्यस्य महाबाहो' इस श्लोकका उत्तरार्ध एक ही है । पूर्वार्धमें ही थोड़ा फरक है । वह भी अर्थतः फरक विशेष नहीं दीखता । पूर्वमें कूर्मोऽङ्गानीव ऐसा एक दृष्टान्त अधिक है । यहां उस जगहकी पूर्त्ति "महाबाहो" इस संबोधनसे कर लिया है । पहले "संहरते" आया था उसके स्थान पर अभी "निगृहीतानि" शब्द आया । संहार और निग्रह एक ही माना जाता है । तब दोनों श्लोकोंमें विषयकी दृष्टिसे क्या ज्यादा है ? यही यहां देखना है ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि । "संहरते" यह वर्त्तमान प्रयोग है और "निगृहीतानि" यह भूतकालका प्रयोग है इससे लगता

है कि यदा संहरते साधनावस्था है और निगृहीतानि यह सिद्धावस्था है। उपक्रम और उपसंहारमें यह भेद नहीं है, किंतु यह सूचित करना है कि संहरण क्रिया निगृह पर्यन्त होना चाहिये तभी वह सिद्ध लक्षण होगा। चित्तके बारेमें बताया है—

आमूलं भुवि नामितापि महता यत्नेन शाखावतां
शाखा क्षिप्रतरं कराद्विचलिता स्वस्थानमाक्रामति
इत्थं मूलमवापितापि च मतिर्ब्रह्म प्रमोदास्पदं
व्युत्क्त्वा धावति सर्वेणव गलितं संसारजीर्णद्रवणम्

मनकी स्थिति बड़ी विलक्षण है। जैसी डाली है। वृक्षकी डालीको पकड़कर झुका लो और मूल तक ठेढी करके लावो। परंतु जहां छोड़ दिया वहां फिरसे वह डाली पहलेके समान अपने स्थान पर पहुंच जाती है। जितना देर तक पकड़कर रखो उतनी देर तक झुकी रहेगी। किन्तु छोड़ते ही पूर्व स्थान पर पहुंचेगी। वैसी ही यह मति भी है। मति माने मन यह संसार भी एक वृक्ष है। इसका मूल्य है ब्रह्म। साधारण वृक्षमें और समार वृक्षमें इतना ही फरक है कि साधारण वृक्षका मूल नीचे है और इस वृक्षका—

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं"

ऊपर मूल नीचे शाखा है। इस संसार वृक्षकी "अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः" ऊपर-नीचे फैली शाखायें हैं। महदहङ्कारादि सभी विकार शाखा है। उन शाखाओंमें मन और इन्द्रियां भी आती हैं। इनको मूलकी ओर झुकना है। किन्तु ध्यानमें घड़ी-आध-घड़ी इन्हें झुकाकर रखते है तो झुकी रहती हैं। किन्तु जहां छोड़ा वहीं अपने स्थान पर पुनः पहुंच जाती हैं। वृक्षकी डालियोंमें स्थिति स्थापक संस्कार रहता है। वैसे मन इन्द्रियोंमें भी एक प्रकारका सूक्ष्मतर स्थिति स्थापक सस्कार रहता है। जिससे ब्रह्मसे छूटते ही ससारमें आ खड़े हो जाते है। इसके लिये इसीमें दूसरा दृष्टांत मक्खियोंका

है। कहीं घाव हुआ तो मक्खियोंको कितने ही हटाओ, वापिस उसीपर आ बैठती हैं। दोपहरको विश्राम करते समय अगर मक्खियां वहां हो, तो कितने ही हटाओ, फिर-फिर मुड़कर नाक पर आकर बैठती हैं। संसार तो जीर्णव्रण है। उस पर मक्खियोंके समान इन्द्रियां और मन बार-बार जा बैठते हैं।

वृक्षकी शाखाको मूलकी ओर झुकाना हो तो एक बार झुकानेसे नहीं होगा। उसे मूलके साथ जोड़कर बांध रखो। एक साल दो सालमें उसका स्थितिस्थापक संस्कार खतम होगा। तब शाखा झुकी ही पड़ी रहेगी। इसी प्रकार इन्द्रिय एवं मनको ब्रह्ममें ले जाकर वहां बांध रखना होगा। जिसमे संसारमें दौड़नेका स्थिति स्थापक संस्कार खलास हो जाय। बांधना क्या है? बांधना माने नियम बन्धनमें रखना। चौबीस घंटा बांध नहीं रख सकते तो नियम बनाओ। ध्यानका नियम, पूजाका नियम, सत्संगका नियम, चर्चाका नियम, ये सभी ब्रह्मबन्धन ही है। यही वेदान्तमें ब्रह्म सम्बन्ध है। वैष्णव कहते हैं ब्रह्म सम्बन्ध लिया। ब्रह्म सम्बन्ध किया जाता है की लिया जाता है। ब्रह्मके साथ बन्धन करो, जोड़ो तो ब्रह्म सम्बन्ध होगा। यही निगृहीतानिका अर्थ है। नितरां गृहीतानि—खूब अच्छी तरह गृहीत करना अर्थात् पकड़ रखना, बांध रखना यही निग्रहण है।

महाबाहो। यह सम्बोधन यहां अर्थ विशेष ध्वनित करनेके लिये है। एक वाच्यार्थ होता है, दूसरा लक्ष्यार्थ, तीसरा व्यङ्ग्यार्थ होता है और चौथा ध्वन्यार्थ होता है। एक संतसे पूछा—आपकी कुटिया कहां है? उसने कहा, मेरा आश्रम दिल्लीमें है। और आपका? उत्तर दिया—मम गङ्गायां कुटी। गंगामें कुटिया तो हो नहीं सकती। अतः वाच्चार्थ छोड़ दिया। गंगा किनारे कुटिया है, यह लक्ष्यार्थ हुआ। लेकिन गङ्गा तटे कुटी न कहकर गंगामे कुटिया क्यों

कहा ? इसलिये कि वहां अभिव्यंङ्ग्य अर्थ है। शीतलत्व पावनत्वादि खैर दिल्ली भी यमुना किनारे है। परंतु व्यङ्ग्यार्थ यह है कि संत लोग प्रायः गंगा किनारे रहते हैं। गंगाका महत्त्व यमुनासे अधिक है। भगवान कृष्ण वहां खेले, अतः वैष्णवोंके लिये मान्य है। किन्तु गंगा वैष्णव और शैव दोनोंको मान्य है। "निम्नगानां यथा गङ्गा" यह सर्वसम्मत है। क्योंकि वह विष्णुपदी है। वामन भगवानके नख स्पर्शसे वह प्रकट हुई थी। ब्रह्माजीने उसे कमण्डलमें धारण किया था और पृथिवी पर आते समय शंकर भगवानने मस्तक पर धारण किया था। हरिद्वार उत्तर काशी आदि स्थानोंमें बड़े-बड़े संत रहते हैं। गङ्गायां कुटी कहकर वह संत अपनी कुटियाका अधिक महिमा संत सेवनीयता, नित्य पवित्र आदि ध्वनित करना चाहते हैं। इसको ध्वन्यार्थ कहते हैं। महाबाहुका वाच्यार्थ है लम्बी भुजावाला। घुटने तक बाहु किसी-किसीकी होती है। उसको आजानबाहु भी कहते हैं। अर्जुन आजानबाहु था। परंतु इस वाच्यार्थके साथ अजहत् लक्षणासे कुछ लक्ष्यार्थ भी लिया जाता है। युद्धस्थलमें महाबाहुका अर्थ लक्षण या वीर होता है। कसकर अस्त्र-शस्त्र वही प्रयोग कर सकता है। इसलिये लक्षणया वीर अर्थ लिया जाता है। यहां व्यङ्ग्यार्थ होता है युद्धमें शत्रुओंको पराजित करना, विजय श्री प्राप्न करना आदि। परंतु स्थितप्रज्ञमें इन सब अर्थोंका कोई महत्त्व नहीं। अतः ध्वन्यार्थ लिया जायेगा। ध्वन्यार्थ क्या है ? इसे पुराण कथा द्वारासे समझिये।

कण्वाश्रममें शकुन्तलाको दुष्यन्तने स्वीकार किया था। वह गर्भवती हो गयी थी। उसे कण्वऋषिने पतिगृहमें भेजा। किन्तु राजा दुष्यन्त किसी श्रापके कारण शकुन्तलाको भूल गये। उसे स्वीकार नहीं किया। वह वहांसे जंगल चली गयी। मेनका पुत्री होनेसे अप्सराने उसकी सहायता की। उसके संरक्षणार्थ एक महेलीके रूपमें स्त्री दी। जंगलमें ही भरतका जन्म हुआ। शाप निवृत्ति हुई

तो दुष्यन्तको शकुन्तलाका स्मरण हुआ। वे बहुत दुःखी हुए। हाय ! हमने क्या किया। किन्तु शकुन्तलाकी खोज करने पर भी पता न चला। एक दिन मृगयार्थ राजा जंगलमें गये हुए थे। सैकड़ों माईल दूर निकल चुके थे। वहां कुछ ऋषियोंका आश्रम देखा। एक आश्रम के पास एक बच्चा खेल रहा था। वह विलक्षण बालक था। शेरोंके बच्चोंको पकड़कर लाया था। शेरनी दूर खड़ी हुई घूर रही थी। उसकी धाई घबराई हुई बोल रही थी, छोड़ उस बच्चेको। घरमें बिल्लीके बच्चे हैं, उनके साथ खेल। वह शेरनी खानेके लिये खड़ी है। बच्चा बालता है—हां-हां इतनेमें डर जाऊंगा। शेरके बच्चेका मुंह खालकर बोलता है—'दन्तांस्ते गणयिष्ये'। तेरे दांत कितने हैं, गिनूं। गिनती ता आती नहीं थी। एक दो पांच तीन ऐसा गिनती करने लगा। दुष्यन्तको आश्चर्य हुआ, यह कैसा वीर बालक है ? मेरा भी बेटा होता तो इतनी ऊमरका होता। राजा नजदीक पहुंचे और बोले—बेटा क्या करता है ? अविनय क्यों ? बालकने कहा— तुम मुझे बेटा क्यों कहते हो ? मैं तुम्हारा बेटा नहीं हूं। पूछा— तू किसका बेटा है ? बालकने कहा मैं राजा दुष्यन्तका बेटा हूं। फिर क्या था। मानो राजाका मनोरथ परिपूर्ण हा गया। वहीं शकुन्तलासे पुनः मिलाप हुआ। बालकका नामकरण किया 'सर्व-दमन' सबका दमन करने वाला।

कालान्तरमें यही सर्वदमन 'भरत' नामसे प्रसिद्ध हुआ। बहुत जगह बताया है कि इनके नामसे ही देशका नाम 'भारत' पड़ा। कुछ लोग कहते हैं ऋषभदेव पुत्र भरतके नामसे भारत नाम पड़ा। जैसा भी हो। भरत बड़ा शूरवीर था। भारतवर्षका अखंड राज्य भरतने किया। समस्त शत्रुओंको भरतने जीत लिया। भरतके मनमें विचार आया-मेरा नाम अब बदल देना चहिये। सर्व दमन स्थानपर उन्होंने "सर्वजित्" कर दिया। पूरे भारतमें सर्वजित् नाम फैल गया। सब लोग सर्वजित् कहने लगे। लेकिन माता शकुन्तला सर्वदमन ही

कहती थी। भरतने कहा- मां! सब लोग मुझे सर्वजित् कहते हैं, अकेली तूं ही सर्वदमन कहती है। तू भी सर्वजित कहाकर। शकुन्तला ने कहा-बेटा, मैं अब बूढी हो गयी हूं। मेरी जबान पर इतने सालोंसे जो नाम चढ़ा वह कैसे उतरेगा। थोड़े दिनोंकी मेहमान हूं। आगे तुझे कोई इस नामसे नहीं पुकारेगा। भरतने कहा-यह सब तुम्हारी बहाने बाजी है। तूं मेरा तिरस्कार करती है। मेरी वीरता का आदर नहीं करती है। इस प्रकार परस्पर विवादमें लम्बा समय बीत गया, क्योंकि बीचमें शकुन्तला चुप हो जाती थी। एक बार फिर शकुन्तला ने सर्वदमन करके पुकारा तो भरत क्रुद्ध हो उठा। भरतने डांटकर कहा-क्यों तू मेरा जान बुझकर तिरस्कार करती है? आजसे राजाज्ञाका पालन तुमको भी करना पड़ेगा।

शकुन्तला बोली-अच्छा राजाज्ञाका पालन करूंगी, किन्तु मुझे पहले यह बताओ कि नाम परिवर्त्तनकी आवश्यकता क्यों पड़ी। सर्व दमन छोड़कर सर्वजित करनेका क्या मतलब है यह समझावो। राजाज्ञा सहेतुक होना चाहिये। भरतने कहा-सर्वदमन तो मैं बचपनसे था। सबका दमन करनेवाला मैं था। अब मैं सबका दमन कर चुका हूं। सबको मैं जीत चुका हूं। सर्वजित् का अर्थ सर्वजितवान् सर्व-जित्। जो सबको जीत चुका हो वह सर्वजित्। शकुन्तलाने पूछा-तो क्या तूंने सबको जीत लिया? भरतने कहा-हां, समस्त राजाओंको मैं जीत गया। शकुन्तलान कहा-सर्व शब्दका अर्थ केवल राजा ही है या जीतने योग्य सभी? भरतने कहा-जीतने योग्य सभी लिये जायेंगे। ऐसी ही शब्द शक्ति है। तब तो तूं अपना मिथ्या नाम सर्व-जित् क्यों रख रहा है। बाहरके शत्रुओंको तूंने जीता। लेकिन भीतरके शत्रु काम क्रोधाधिको तूने जीता? क्रोध तो महान शत्रु है। और तू अपनी मां पर क्रोध कर रहा है। तू सर्वजित् कैसे बना? शकुन्तलाकी बात तीरके समान भरतके हृदय पर चुभी। आन्तरिक शत्रुओंको जीतनेका उन्होंने बड़ा तप किया। किन्तु सफलता नहीं

मिली । ऋषभदेव पुत्र भरत भी आन्तरिक शत्रुओंको नहीं जीत सके, हरिण मोहने उन्हें भी पछाड़ा था । इस भरतका भी औरस पुत्रवंश आगे नहीं चल सका था ।

इस विवेचनसे 'सहरते' इस वर्त्तमान प्रयोग और निगृहीतानि इस भूत प्रयोगका अन्तर स्पष्ट हो गया होगा । भरत बचपनमें भी सर्वदमन सर्वान् दमयति ऐसे वर्त्तमान प्रयोग योग्य ही रहे । किन्तु अन्ततक सर्वजित् ऐसे भूत प्रयोग योग्य नहीं रहे । महाबाहु शब्दसे ध्वन्यार्थ यही निकलता है कि तुम बाहरसे महाबाहु-सर्वजित् बने हो, भीतरसे सर्वदमन सर्वजित बनो । भीतरके ये शत्रु बाह्यशत्रुओंसे अत्यन्त भयंकर है । बाह्य शत्रु तो आखिर तक एक बार मारेंगे किन्तु भीतरके शत्रु हजारों बार । श्रुति कहती है—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"

जो नानात्वदर्शी है, भेद बुद्धिवाले हैं फलतः भेद बुद्धि परिणाम स्वरूप भय, लोभ-क्रोधादि दोष-दूषित हृदय हैं, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होगा । मृत्यु हुई तो फिर मृत्यु होगी । बीचमें जन्म तो अविनाभावी होकर आयेगा । यहां पर दो मृत्यु अर्थ नहीं है, अनन्त मृत्यु अर्थ है । क्योंकि द्वितीय मृत्यु भी मृत्यु है । उसके बाद फिर मृत्यु होना है । वह मृत्यु होनेके बादमें भी फिर मृत्यु होना है । यह तो गणेशकी शादी जैसी बात है । गणेशके बारेमें अनेक प्रकारकी कथायें हैं । उनमें एक कथा यह भी है कि गणेशजीने शिव पार्वतीसे पूछा— मेरी शादी कब होगी ? शिव पार्वतीने कहा—कल होगी । गणेशजीने कहा लिखकर दो । क्योंकि आप लाग बार-बार टालते हैं । शंकरजीने लिखकर दिया—कल तुम्हारी शादी होगी । दूसरे दिन गणेशजीने कहा—आज शादी करो । शंकरजीने पूछा क्या लिखकर दिया— कल शादी होगी । तो कल आवो आज कैसे ? यह कल कब आयेगा बताईये ? वहां कल तो अनन्त काल हो गया । वैसे "मृत्योः स मृत्युं" का भी अनन्त मृत्यु अर्थ है । आन्तरिक शत्रु जब तक है तब

तक मरण होते ही रहेंगे। ये बड़े खतरनाक हैं। इन समस्त इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयास करते रहनेवाला स्थितप्रज्ञ नहीं, किन्तु इन सबको जो जीत चुका है वह स्थितप्रज्ञ है। एतदर्थं "निगृहितानि" ऐसा भूत प्रयोग किया गया।

यहां व्याकरणकी दृष्टिसे एक अति विलक्षण अर्थ निकलता है। "निगृहीत" यह शब्द 'त' प्रत्ययान्त है। 'त' प्रत्ययको निष्ठा प्रत्यय भी कहते हैं। उसके योग कर्त्तामें तृतीया विभक्ति होनी चाहिये। पाणिनीय व्याकरण सूत्र है—

"न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्"

कई स्थान है, जिनमें कर्त्तामें षष्ठी नहीं होती। तब यहां प्रयोग होना चाहिये। 'तस्माद्येन महाबाहो निगृहितानि सर्वशः'। यदि कहें कि इन्द्रियके योगमें षष्ठी भी होती है। इसका भी उत्तर व्याकरणमें दिया कि कारक विभक्ति बलवान् है। अध्याहार करके व्याख्या करना उत्तम नहीं होता। इस वैयाकरण प्रश्नका उत्तर है—एक कर्त्तरि प्रत्यय होता है, दूसरा कर्मणि प्रत्यय होता है। और तीसरा कर्म कर्त्तरि प्रयोग होता है। यहां निगृहितानि यह कर्मकर्त्तरि प्रयोग है। निगृहीत किया अर्थ नहीं, निगृहीत हुई अर्थ है। इसका गूढ़ार्थ यह कि आपने डालीको पकड़कर झुकाया। आपका प्रयत्न जब तक होगा तब तक वह झुकी पड़ी रहेगी। किन्तु कालान्तरमें बांधकर रखनेसे अपने आप झुक जाती है। फिर झुकानेका प्रयास करनेकी जरूरत नहीं होगी। इन्द्रियोंका निग्रह हुआ। किन्तु अब यह विचार करना है, आपके पुरुषार्थके बलसे निगृहीत होकर पड़ी है या स्वाभाविक स्वयमेव निगृहीत हुई हैं। बस यही सिद्धमें और साधकमें फरक है। साधक साधनाके द्वारा इन्द्रियोंको निगृहीत किये हुए है। परन्तु सिद्धोंकी तो इन्द्रियां अपने आप निगृहीत पड़ी हैं।

इस समय आपको इन्द्रियां एवं मनको ब्रह्ममें ले जानेके लिये भारी प्रयत्न करनेकी जरूरत है। परंतु एक समय वह आयेगा कि ब्रह्ममें तो स्वयमेव इन्द्रियां एवं मन पड़े हैं। संसारमें लानेके लिये

उनको बड़ा प्रयत्न करना पड़ा है। अर्थात् यद्यपि यह चौथी भूमिकाके स्थितप्रज्ञका ही वर्णन चल रहा था, किन्तु उपसंहार समयमें उसे छठी भूमिकामें लाकर रख दिया। चौथी भूमिकामें 'संहरते' यह वर्त्तमानमें कर्त्तरि प्रयोग किया। 'संहरते चायं' कर्त्तरि प्रयोग स्पष्ट है। किन्तु यस्येन्द्रियाणि निगृहीतानि कहते हुए कर्म कर्त्तरि प्रयोग किया। षष्ठी भूमिकामें बताया गया है कि ब्रह्मविद्वरीयान् महापुरुष हमेशा ब्रह्ममें ही लीन रहता है। आवश्यक कोई कार्य हुआ तो बड़ी मुश्किलसे ब्रह्म चिन्तनसे संसार कार्यमें उतरता है।

ब्रह्मध्यान दो प्रकारसे होता है, ससहाय तथा असहाय। बड़े-बड़े संत महापुरुष हैं, वे शास्त्र चिन्तन करते रहते हैं। वही उनका ब्रह्मचिन्तन है। यह ससहाय ब्रह्मचिन्तन है। असहाय चिन्तनमें ग्रन्थोंकी जरूरत नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें बताया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः

आत्मामें निरन्तर उनका आराम होता है। बिस्तरे पर शरीरका आराम जिस प्रकार होता है वैसे उनका आराम आत्मामें होता है। अतः वे आत्माराम होते हैं। आत्माराम कैसे बने?—मुनयः। मुनि बननेसे। मननसे। अतएव आत्मारामका अर्थ है, निदिध्यासन—परायण। वह भी कैसे—निर्ग्रन्थाः। निःशेषो ग्रन्थो येषां ते, निर्गतो ग्रन्थो येभ्यस्ते, निर्गता ग्रन्था ग्रन्थयो येभ्यास्ते, इन तीन विग्रहोंमें निर्ग्रन्थ शब्द है। इसी प्रकारका प्रयोग उपनिषद्में है—

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्
बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः
अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः

पहले वेद शास्त्रात्मक ग्रन्थोंका अध्ययन करके पाण्डित्यको प्राप्त करते हैं। ये ही निर्ग्रन्थ है। इसके बादमें समग्र ग्रन्थोंका परित्याग करते हैं, ये भी निर्ग्रन्थ है।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ।।

इस प्रकार ग्रन्थाध्ययनकर ग्रन्थोंका त्यागविधान है। ग्रन्थाभ्यास परायणभी ग्रन्थजनित ज्ञानमें ऐसे तल्लीन होते हैं कि बड़ी मुश्किलसे उन्हें व्यवहारमें आना पड़ता है। केवल शास्त्र वासनासे नहीं, किन्तु ज्ञान-विज्ञान तत्परता उनमें रहती है। यह सालम्बन हुआ। निरालम्बनमें 'निर्गता ग्रन्था येभ्यः'। ग्रन्थ त्याग हो गया, स्वयं स्वात्म चिंतन चल रहा है। ये दोनों स्थितियोंमें "निगृहितानि" पद है। इन्द्रियां निगृहीत हो गयी हैं। अति कठिनाईमें उन्हें व्यवहारमें उतारना पड़ता है। हां, संतोका स्वरूप अलग-अलग होता है। उत्तर काशीमें एक संत थे। कोई उनके पासमें जाता तो अन्य बातें नहीं, वेदान्त चर्चा शुरू करते और घंटो तक बोलते रहते थे। खाना-पीना सब वे भूल ही जाते थे। श्री रामकृष्ण परमहंस भी ऐसे थे। भक्त लोग आ गये तो ब्रह्मचर्चा इतनी लंबी होती थी उसी चर्चा को लेकर अनेक पुस्तकें बन गयी। ब्रह्मचर्चा समाप्त हुई तो भजन बोलते। कोई न रहा तो चिन्तन मग्न रहते थे। यही 'निगृहितानि, का लक्षण है।

सर्वशः। यह सर्वशः पद उभयान्वयी है। 'सर्वाणि इन्द्रियाणि सर्वेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यः'। क्यों इसकी पुनरावृत्ति की जा रही है? इसलिये कि यह अंश भूल न जाय। यह महत्त्व पूर्व शब्द है। इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। अधिक ध्यान देने पर अर्थ भी अधिक निकलेगा। इन्द्रियां कौन? विषय कौन? शब्दस्पर्शरूपरस गंध ये पांच विषय और उनकी श्रोत्रादि पांच इन्द्रियां। नही। तब पञ्चश लिख देते। 'तानि सर्वाणि संयम्य' की जगह 'तानि पञ्चापि संयम्य' कह सकते थे। अतः कुछ आगे बढ़ो। दसों इन्द्रियां अर्थ करो। दश इन्द्रियोंका संयमन करना है। श्रोत्रका विषय शब्द है। वाक्‌का विषय भी शब्द है। श्रोत्रसे सुना जाता है। वाक्‌से कहा

जाता है। दोनोंमें संयम चाहिये। अनर्गल शब्द सुनो मत और बोलो भी मत। इस प्रकार अन्य इन्द्रियोंका भी समझो। फिर सूक्ष्म निरीक्षण करने पर मालूम होगा कि एक इन्द्रिय और है। वह कौनसा? "इन्द्रियाणि दशैकं च" ऐसा आगे बतायेंगे। ग्यारहवी—इन्द्रिय मन है। मनका विषय क्या है? संकल्प विकल्प कहोगे? यह तो क्रिया है। चक्षुका विषय देखना नहीं है। चक्षुका विषय रूप है। देखना तो क्रिया है। वैसे सोचना विकल्प करना आदि क्रिया है। ठीक है। किन्तु जो विकल्पार्थ मन पर आता है, वह विषय है। विकल्प संकल्पादि किसी विषय ही का होगा। वह विषय बाह्य तो नहीं है। क्यों कि मन बाहर जाता नहीं है। मानसिक शब्द स्पर्शादि सभी मनके विषय हैं। मनके मुख्य विषय है, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि। मान-अपमानादि केवल मानस विषय है। एक हमारे महात्मा हैं। वे संस्कृतके पुराने-पुराने शब्दोंका प्रयोग करते हैं। उन्होंने एक बार संस्कृतमें पत्र लिखा, तो लिखा 'भवान् पशु वर्तते'। पशुका अर्थ है 'सम्यक्' अच्छे लेकिन पढ़नेवालेने देखा, यह मुझे पशु लिख रहा है। बड़ा नाराज हो गया। लड़नेके लिये तैयार हुआ। मनकी कल्पना है यह मान और अपमान। ऊपर बैठने पर मान नीचे बैठाने पर छोटा, यह मनकी भावना है। तब मकानके ऊपर पाईप पर या टेलीविजन एरियर पर बैठनेवाला कौआ सबसे बड़ा माननीय होगा। नीतिकार इसीको लेकर बोल गये—

"प्रसादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते"

मान किसमें? अपमान किसमें? यह केवल रिवाजोंके आधार पर मनकी कल्पनामात्र है। रिवाजोंकी रक्षा होनी चाहिये। व्यवहारमें मान और अपमान दोनोंका महत्त्व है। परंतु स्थितप्रज्ञता कालमें इन सबका कोई मूल्य नहीं रहता ॥ १५ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ २--६९ ॥

[संपूर्ण भूतोंके लिये जो रात्रि है उसमें संयमी जागता है । जिसमें सभी भूत प्राणी जागते हैं, तत्त्वज्ञानी मुनिके लिये वह रात्रि है ।]

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते" इस श्लोकमें निष्काम कर्मसे बुद्धिशरणान्वेषण करने पर स्थितप्रज्ञता प्राप्त होगी यह बतलाया । समाधावचला बुद्धि ही स्थितप्रज्ञता है जो योगमवाप्स्यसि से बताये गये योगमें पर्यवसायी है । योग माने विवेक प्रज्ञा-ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार । उस स्थितप्रज्ञका लक्षण क्या है, उसकी बोल-चाल आदि कैसा, इस प्रकार अर्जुनने प्रश्न किया तो भूमिका भेदसे चार श्लोकोंमें मुख्य चार लक्षण बताये । उसमें अवान्तर लक्षण विभाग भी आ गया है सो यथास्थान बता भी दिया गया । इनमे चौथा श्लोक 'यदा संहरते चाय' यह साधन प्रधान था । अतएव उसका वर्णन बहुत लम्बा चला । अब साधन साध्य उभयको लेकर स्थितप्रज्ञका वर्णनीय स्वरूप वर्णन करते हैं—या निशा० । निशा माने रात्रि ।

"निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा"

ऐसा कोशमें पर्याय दिया गया है । नशा अलग चीज है, निशा अलग है । मदिरा पीने पर जो चढ़ता है उसको नशा कहते हैं । वहाँ 'न' में इ नहीं है सब प्राणियोंकी जो रात है उसमें संयमी योगी पुरुष जागता है और सब प्राणी जिस रातमें जगे रहते हैं, वह योगी ब्रह्मदर्शी मुनिके लिये रात है ।

यह श्लोक पढ़कर बहुतसे लोग ऐसा समझने लगे कि योगी लोग रातभर जगकर भजन करते हैं और दिनमें सोते हैं । खाली समझना

ही नहीं, कुछ सन्त ऐसे ही करते भी थे। एक मेरे परिचित सन्त थे। बड़े उपासक थे। वे रातको दस साढ़े दस बजे भजनमें बैठते थे। और सुबह तीन साढ़े तीन बजे तक ध्यान पूजा करते थे। एक सन्त दिनमें बहुत सोते थे। किसीने उनसे पूछा कि आप इतना दिनमें क्यों सोते हैं ? तो उन्होंने गीताका यही श्लोक बताया। और बोले—गीता-में योगीके लिये सोनेको बताया है। उनसे पूछा—रातमें जगते हो क्या ? वे बोले—यह पूछनेका तुम्हें कोई मतलब नहीं।

इस श्लोकका सामान्य अर्थ यही किया जाता है—जिस ब्रह्मके बारेमें लोग अंधेरेमें पड़े हुए हैं, सोये हुए हैं, उसमें संयमी पुरुष जागृत हैं। उस ब्रह्मके प्रकाशमें विचर रहे हैं। और जिस संसारमें संसारी लोग जगे हुए हैं, उसमें सन्त लोग सोये हैं। उन्हें संसारके बारेमें अधिक जानकारी रखनेकी कोई जरूरत नहीं है। कुछ जानकारी रखी भी तो नगण्य कोई उसको महत्त्व नहीं देता। आजकल लोग व्यावहारिक सन्तोंको बहुत महत्त्व देते हैं। दिनभर व्यवहारकी बातें करें गप्पे मारें वे सन्त संसारियोंको अच्छे लगते हैं। हमारे जैसे लोग भक्तोंको प्रसन्न करनेमें असफल हो जाते हैं। किन्तु संसारियोंको प्रसन्न करनेमें सफल हो या असफल, अपने लक्ष्यकी ओर बढ़नेमें असफल तो नहीं है।

यह भी सामान्य अर्थ हुआ। इस पर एक प्रश्न उठा कि निशा शब्दका अर्थ रात्रि है तो रात्रि शब्दका ही प्रयोग क्यों नहीं किया—"या रात्रिः सर्वभूतानां" ऐसा यहां पढ़ते, और "सा रात्रिः पश्यतो मुनेः" ऐसा अन्तिम चरण पढ़ते। तो जल्दी समझमें आ जाता। इसीसे अवगत होता है कि यहां अवयवार्थ विवक्षित है। 'निशा' यह एक अखंड शब्द नहीं है। 'नि' उपसर्ग है। 'शा' धातु है। "शो तनूकरणे" ऐसा धातु पाठमें आता है। नि का अर्थ है 'नितरां' माने अत्यन्त। तनूकरणका अर्थ पतला करना, हल्का बनाना। नहींके बराबर करना।

नितरां श्यति प्रवृत्तिनिवृत्ती इति निशा
नितरां शीयेते वा प्रवृत्तिनिवृत्ती यत्र सा निशा

किसका तनूकरण है ? प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयत्नोका। घोर रात्रिमें, घोर अन्धकारमें चलना, फिरना, देखना, खाना-पीना आदि प्रयत्न नहीं होते। निशासे प्रथम लौकिक चार अर्थ लो। निशा माने अन्धकार। निशा माने रात। निशा माने निद्रा और निशा माने सुषुप्ति। अंधेरा हो गया तो लिखना-पढ़ना बन्द। रात हुई तो चलना-फिरना भी बन्द। सो गये ता देखना-सुनना बोलना आदि भी बन्द और सुषुप्ति आ गयी तो सोचना-समझना भी वन्द। अर्थात् निशाकी जितनी गहराई है, उतना ही प्रयत्न बन्द होता जाता है। वैसे प्रकृतमें ब्रह्मके बारेमें प्रयत्नकी न्यूनता और अभाव ही "सर्वं भूतानां निशा" है।

किन-किन प्रयत्नोंका अभाव ? इस बातको समझनेके लिये प्रथम प्रयत्नके दो विभाग समझना चाहिये। (१) एक प्रवृत्ति रूपी प्रयत्न है और (२) निवृत्ति रूपी प्रयत्न है। चाहे वह धर्म हो चाहें अधर्म चाहे सामान्य। भाष्यकार धर्मके बारेमें कहते हैं— द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च। प्रवृत्ति लक्षण तथा निवृत्ति लक्षण दो धर्म है। ऐसे ही अधर्म भी है। जो आगे स्पष्ट होगा। तीसरा सामान्य कर्म है। वह भी प्रवृत्ति रूप और निवृत्ति रूप है। आप पूछेंगे - प्रवृत्तिमें प्रयत्न चाहिये। निवृत्तिके लिये प्रयत्नकी क्या जरूरत है ? निवृत्तिका अर्थ है चुप चाप होना। उत्तर है कि निवृत्ति के लिये भी प्रयत्न चाहिये। आदमी दौड़ता जा रहा है। एकदम रुकना चाहे तो रुक नहीं सकता, उसके लिये ताकत लगानी पड़ेगी। गाड़ी सौ किलोमीटर तेजासे भागती जा रही है। एकाएक रोक दे तो उलट जायगी। ट्रेन तो रोकने पर एक माईल आगे जाकर रुकती है। महिम्न स्तोत्रमें रावणकी कथा कहते हुए बताया है—

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृतरणकण्डूपरवशान्

रावणने तीनों भुवनोंको आयासके बिना ही जीत लिया था। उसके बाद युद्ध करनेके लिये कोई प्रतिपक्षी नहीं था तो चुपचाप बैठना कठिन हो गया। कहते हैं रावणके हाथमें लड़नेकी खुजली-सी हो गयी थी। वाणासुरकी कथामें भी यही बात आती है। भगवान शंकरके वर प्रसादसे वाणासुरको दो हजार हाथ प्राप्त हो गये थे। वाणासुरने सारे विश्वको जीत लिया। कोई प्रतिपक्षी संसारमें नहीं रहा। एक बार वाणासुर शंकरभगवानके पास बैठा था। बडी नम्रता-के साथ दो हजार हाथोंसे उसने शङ्करजीको प्रणाम किया। फिर उसने कहा, भगवन् ! आपने मुझे दो हजार हाथ देकर बड़ी कृपा की। परन्तु आजकल प्रतिपक्षीके अभावमें मुझे बोझ सा लगने लगा है। किसीसे लड़े बिना चैन नहीं पड़ती। तो और कोई मैदानमें उतरना नहीं आप दूसरी बार कृपा करें कि मैं आप ही से थोड़ा लड़ लूं। शङ्कर भगवानको क्रोध आया। कहा घबराना नहीं मेरे सदृश दूसरा तुमसे लड़ेगा और इन हाथोंके बोझको उतार देगा। ऊषा विवाह प्रसङ्गमे भगवान कृष्णके साथ वाणासुरका युद्ध प्रसङ्ग आया। तात्पर्य यही कि निवृत्तिसे बैठना कोई सरल बात नहीं है। ये सब पौराणिक बातें हो गयी। आप अपने आप पर विचार करो। क्या आप चुपचाप बैठ सकते हैं। किसी बच्चेसे खेलना आसान है। लेकिन बच्चोंको चुप करना आसान नहीं है। इन्द्रियोंमें वेग रहता है। कर्म वेग।

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"

बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता। रहना हो तो बहुत भारी अभ्यास तदर्थ करना पड़ता है। अतः निवृत्तिमें प्रयत्न पड़ता ही है।

निद्राकालमें कोई भी प्रयत्न नहीं होता। किसी प्रवृत्तिका भी प्रयत्न नहीं, किसी निवृत्तिका भी प्रयत्न नहीं। सुषुप्त पुरुष केवल श्वास खींचता रहता है। उसमें भी प्रयत्न होता है या नहीं ? नहीं। क्यों कि सुषुप्तिमें कोई ज्ञान ही नहीं रहता। "जानाति इच्छति यतते"

ऐसा नियम है। प्रयत्नके लिये इच्छा चाहिये। इच्छाके लिये ज्ञान चाहिये। सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं होता। "नाहं किंचिदवेदिषं" ऐसा उठने पर वह बोलता है। मैं वेखबर सोया। तब इच्छा कैसे होगी। तो प्रयत्न कैसे होगा? श्वासोच्छ्वास फिर किस प्रकार? यहां नैयायिकों-का कहना है कि जीवनादृष्ट ही उसमें कारण है। आपको जीना है। जीनेका अदृष्ट लेकर आप पैदा हुए हैं। उसी अदृष्टसे श्वासोच्छ्वास चलता है। क्या आप उसके लिये कोई मेहनत करते हैं? बौद्ध लोग सुषुप्तिमें भी ज्ञानधारा मानते हैं। उसको आलय-विज्ञान कहते हैं। तदनुसार अति सूक्ष्म इच्छा और अति सूक्ष्म प्रयत्न भी हो सकता है। फिर भी आलय होनेके कारण स्थूल तो नहीं ही। तनूकरण ज्ञान इच्छा और कृतिका निश्चित है। आलयका अर्थ है—आलीयन्ते स्थुला: परार्था वृत्तयो वा यत्र। जहां स्थूल कुछ नहीं रहता। कोई भी मत मानो किन्तु प्रयत्न तनूकरण तो है ही, अत: निशा कहा गया और आलय-ज्ञान सूक्ष्म है तो उससे स्थूल प्राण क्रिया हो भी कैसे? अत: अदृष्ट ही मुख्य हेतु है।

सर्व भूतानां निशा। सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप प्रयत्न कहां शिथिल होता है असलमें? सुषुप्तिकी बात छोडो। ब्रह्मके विषयमें प्रयत्न नहीं है। है तो भी नहीं के बराबर। सन्त महापुरुष भक्तादिका ब्रह्म विषयमें प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। किन्तु संसारी उस विषयमें प्रयत्न शून्य रहते हैं। न प्रवृत्ति होती और न निवृत्ति। कौनसी प्रवृत्ति-निवृत्ति? कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय एवं अन्त:करणकी ब्रह्म विषयमें प्रवृत्ति और निवृत्ति होनी चाहिये। सो संसारियोंकी नहीं होती। प्रथम हम कर्मेन्द्रियोंकी क्या प्रवृत्ति होनी चाहिये और क्या निवृत्ति होनी चाहिये, जो संसारियोंमें नहीं होती, सो देखें। १) वागिन्द्रियकी प्रवृत्ति ब्रह्ममें क्या है? ब्रह्मचर्चा। काशी, उत्तर काशी आदि स्थानोंमें ऐसे सन्त मिलते हैं, जो केवल ब्रह्मचर्चा करते रहते

हैं। शास्त्र चर्चा करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् यहीं से प्रारम्भ होते हैं।

"ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः"

इत्यादि। ब्रह्मवादी ऐसे हैं कि कुछ चर्चा करना है तो कुछ न कुछ प्रश्न शुरू करते हैं।

"जानन्नपि च मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्"

रहस्य जानते हुए भी अनजानके समान प्रश्न उठाते हैं और चुपचाप सुनते रहते हैं। देखते हैं कि कोई नयी बात मिलती है कि नहीं? इस प्रकार ब्रह्मचर्या करना, नवीन बातोंको समझना यही ब्रह्मविषयक वाक् प्रवृत्ति है। कीर्त्तन संकीर्त्तन नाम जपादि सभी वाक् प्रवृत्ति है। वागिन्द्रियकी निवृत्ति क्या है? संसार चर्चा हुई तो मौन। स्तुतिनिन्दाकी बातमें मौन। संसार चर्चामें निश्चित कुछ न कुछ किसी न किसीकी स्तुति या निन्दा आयेगी। स्तुति निन्दा नहीं तो काम क्रोध-लोभकी बात होगी। व्यवहारमें आवश्यक चर्चायें होती हैं। लेकिन वह कितनी देर तक होगी? अमेरिकाके राष्ट्रपति आवे चाहे ब्रिटेनके प्रधानमंत्री। वार्त्ता तो दिनमें दो घंटा होगी, तीन घंटा होगी। कामकी बात तो थोड़ेमें ही समाप्त होनी है। किंतु भूमिका और उपसंहार इतना अधिक होता है कि उसके बीच-में असली बात तो बहुत थोड़ी होती है। इस अति चर्चासे उपरति ब्रह्मविषयक वाङ् निवृत्ति है। परन्तु इस बारेमें लोग सोये हुए हैं। ब्रह्म चर्चाके लिये फुर्सत मिलती नहीं और व्यर्थ चर्चासे कोई निवृत्ति नहीं होता। इसलिये वागिन्द्रियके लिये ब्रह्म निशोपम हो गया।

(२) दूसरी कर्मेन्द्रिय पाणि है। यद्यपि ब्रह्मको न कोई पकड़ता और न कोई पकड़नेसे उपरत होता है। तथापि यही प्रवृति-निवृत्ति नहीं है।

"करौ च तन्मन्दिरमार्जनादिषु"

आप अपने हाथसे कुछ पवित्र कार्य कर सकते हैं, जिससे ब्रह्म प्राप्तिमें सहायता मिलती है। यही प्रवृत्ति है ओर कुछ बुरे कार्यसे बच सकते हैं जो ब्रह्मप्राप्तिमें बाध है। लोग कहते हैं कि अपने हाथसे कुछ देकर जाओ। कंजूस बड़ा दानी होता है। मरते समय दुनिया भरकी कमाई दूसरेको देकर जाता है। साथमें नहीं ले जाता। परन्तु विशेषता है कि जीवित अवस्था में कुछ करोगे तो उसका फल मिलेगा, कंजूस मर गया, सब दे गया तो उस दानका कोई फल है ? कोई फल नहीं। अर्थात् बड़ा निष्काम दान हुआ कि नहीं ? बिल्कुल निष्काम दान। बताओ अब उससे बढ़कर कौन दानी होगा ? किन्तु याद रखो, यह निष्काम दान नहीं है, किन्तु निष्फल दान है। दान-का फल पुनर्धन प्राप्ति न सही, किन्तु अन्तःकरण शुद्धि पापनिवृत्ति आदि तो होना चाहिये। वह भी तो नहीं होता ? अपने हाथसे कुछ सेवा करो। अपने हाथसे कुछ दान दो।

"विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन"

ऐसा मंत्र है। दान विविदिषाका कारण है। अतः दानब्रह्म विषयक पाणि प्रवृत्ति है। निरपराध का ताड़न करना, मारना, पीटना, हिंसा करना परधन छीनना आदिसे निवृत्त होना चाहिये। ये सभी मनकी अशुद्धिमें कारण हैं। हमारे हाथसे कोई बुरा कार्य न हो, एतदर्थ हमेशा ध्यान रखना चाहिये। यही ब्रह्मविषय हस्तेन्द्रिय निवृत्ति है। संसारी पुरुष इन दोनों प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित होते हैं। यह सबकी बात नहीं है। इसलिये भगवानने "सर्वजीवानां" नहीं बताया। "सर्वभूताना" कहा। भूतका अर्थ है केवल जन्मवाले। भवन्तीति भूतानि। अत एव उनके लिये हस्तेन्द्रिय निशा ब्रह्म है।

(३) तीसरा पाद है ब्रह्म विषयक पाद प्रवृत्ति होती है और विरोधीसे निवृत्ति भी होनी है। यद्यपि पांवसे ब्रह्मके पास पहुंच नहीं सकते। वह पांवके रास्ते पर नहीं है। फिर भी—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्"

ऐसा विधान है। गुरुके पास पांवसे जाओ। इसका अर्थ यह नहीं कि गाड़ीमें बसमें टेक्सीमें मत जाओ। आप किसी भी वाहनमें जाय, फिर भी थोड़ा तो चलना ही पड़ेगा। स्टेज तक कोई गाड़ी जानेवाली नहीं है। तात्पर्य इतना ही कि विद्याग्रहणार्थं गुरुके पास स्वयं जाओ। ऐसा नहीं कि ट्यूशनके समान गुरु तुम्हारे पास आवे। यदि माना जाय कि ऐसा प्रसङ्ग आ गया कि कोई घरमें आता है वेदान्त श्रवण करानेके लिये तो ? तो भी उसका विधान है, दरवाजे पर पहुंचकर संतको आसन तक पहुंचावे फिर आसन के पास स्वयं पहुंचकर प्रणाम करके बैठें। यह सब शास्त्रीय विधान आपको सुना रहा हूं। एक बार मुझे अनुभव हुआ, कई बड़े-बड़े सेठ एकत्रित हुए थे, वहां मुझे बुलाकर ले गये। न कोई उठा और न प्रणाम ही किया। ले जानेवाले सज्जनने एक कुर्सी पर मुझे भी बैठाया और कहा कुछ सुनाईये। मुझे ऐसा लगा कि "मान न मान मैं तेरा मेहमान" जैसा इनके बीचमें मैं आया हूं। खैर, सुनाया एक घंटा। फिर जब समाप्त करने लगा तो किसी-किसीको प्रवचन अच्छा लगा तो एकने कहा, महाराज ! सुनाईये-सुनाईये, आज मौका है। उसका मतलब था बड़े-बड़े सेठ बैठे हैं, सुनानेका ऐसा अवसर मुझे दुबारा नहीं मिलेगा। मैंने कहा, अब मुझे तृप्ति हो गयी। फिर कभी देखा जायेगा। दुबारा फिर उस मण्डलीमें नहीं गया। शास्त्रीय विधिसे कार्य करो। यह मानापमान का प्रश्न नहीं है। प्रश्न शास्त्रीय विधि निषेधका है। यह ब्रह्म विषयक पाद प्रवृत्ति है। निवृत्ति है अगम्य स्थानमें न जाना, परों पर स्वीय चरणाघात न करना आदि। सुनते हैं कि परीक्षणार्थ भृगुने विष्णुकी छाती पर लात मारी थी। इसीलिये दक्ष यज्ञमें भृगु की बड़ी दुर्दशा हुई। परीक्षणके तौर पर भी भगवान पर पांव रखना अनुचित था। इन दोनोंका अभाव निशा है। संसारी प्राणियोंकी पादेन्द्रियनिशा यही है।

(४) चौथा पायु इन्द्रिय है। पायु इन्द्रियको प्रवृत्ति-निवृत्ति क्या है ? योगशास्त्रमें कुण्डलिनीके उत्थानकी बात आयी है। मूलधारमें कुल कुण्डलिनी स्थित है। वही शक्ति है। वह सुप्त पड़ी है जिस सुप्तिके कारण ही मनुष्यमें ज्ञान प्रकाश नहीं होता। प्रसुप्त कुण्डलिनीको जगानेकी विधि है। उसमें ऊर्ध्वाकुञ्चन प्रवृत्ति है। इसका विस्तृत विवरण योगकी प्रक्रियाओंका जहां वर्णन होगा वहीं मिलेगा। प्रत्येक संतको प्राणायाम करनेके लिये बताया है। सिद्ध योगीके लिये विधि निषेध भले न हो, किन्तु साधकको करना ही चाहिये। प्राणायामके समय कुल कुण्डलिनी उत्थानकी प्रक्रिया भी की जाती है। ऊर्ध्वोत्थापन होनेपर वह शक्ति ऊपर शिवमें जा मिलती है तो ब्रह्मप्रकाश होता है। अतः यह ब्रह्मविषयक पायु प्रवृत्ति हुई। कुल कुण्डलिनी उत्थापन न हो तो वैसे प्राणायाममें केवल मूलबन्ध किया जाता है। मूल बन्ध पायु निवृत्ति है। अपानवायु निवर्त्तन ही मूल बन्ध है। सुप्त पुरुष न पायुका प्रवृत्ति यत्न करता है और न निवृत्ति यत्न ही। इसी प्रकार संसारी पुरुष ब्रह्म विषयक पायु प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं करता। प्राणायाम ही करनेको फुर्सत कहां, और जानता ही कहां यह सब। अतः इस प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्नमें, निशामें जैसे ही सर्वप्राणी पड़े हैं। अतः वह निशा भी ब्रह्म है।

(५) पांचवी उपस्थेन्द्रिय है। उपस्थेन्द्रियकी ब्रह्म विषयक प्रवृत्ति-निवृत्ति क्या है ? उत्तर है—इसीका भारी प्रवृत्ति प्रयत्न और निवृत्ति प्रयत्न है। इसीको ब्रह्मचारी व्रत कहते हैं। प्रथम ऊर्ध्वरेता बननेके लिये प्रयत्न किया जाता है। सिद्धासन की साधना होती है। कुछ अन्य भी आसन हैं। इन सब आसनोंसे ध्यान विशेषसे ऊर्ध्वरेता बनना यह उपस्थेन्द्रियकी ब्रह्मविषय प्रवृत्ति है। शृङ्गारिक ग्रन्थोंका परित्याग, चिन्तन त्याग आदि निवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्न है। ब्रह्मचर्यके अष्ठाङ्ग माने गये हैं।

श्रवणं कीर्त्तनं केलिः स्मरणं गुह्यभाषणम्
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च

शृङ्गारिक कथाओंका राग पूर्वक श्रवण करना, स्वयं दूसरोंको सुनाना इनके निवृत्ति शृङ्गारिक खेल करना, मनमें काम विचार करना, शृङ्गार विषयक गुह्य भाषण करना, मनमें संकल्प और वैसा निश्चय, तदनुरूप क्रिया, इन सबका परित्याग निवृत्ति है। पहले समयमें चार आश्रमोंके निरूपणमें यही बात आती है।

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्

शैशव—पचीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहो। पचीस वर्ष गृहस्थाश्रमका है। पचासके बाद फिर ब्रह्मचर्य प्रारम्भ करो। यह अत्यन्त साधारण व्यक्तिके लिये बनाया। दो लड़के चार लड़के हो गये तो बादमे गृहस्थ भी ब्रह्मचारी होकर रह सकता है। श्रवणं कीर्त्तनं आदि सभी राग पूर्वक हो तो ही अहितकर है ब्रह्मचारीका अर्थ ही होता है—ब्रह्म व्रतधारी। ब्रह्म प्राप्त्यर्थं व्रत ब्रह्मव्रत कहलाता है। वही शब्दका अर्थ है। ब्रह्मव्रतं चरतीति ब्रह्मचारी। ऊर्ध्वरेतस्त्वके लिये प्रयास करना प्रवृत्ति है वैराग्य ग्रन्थाद्यध्ययन प्रवृत्ति है। ब्रह्मचारी व्रतमे रहना निवृत्ति है। यह ब्रह्मविषयक उपस्थेन्द्रिय प्रवृत्ति-निवृत्ति है। इन दोनों प्रयत्नोंसे रहित होते हैं। सर्वभूत। अत एव वह ब्रह्म सर्वभूतोंकी निशा है।

(६) यह कर्मेन्द्रियोंकी बात हुई। अब ज्ञानेन्द्रियोंकी भी निशा देखो। प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय की निशा समझो। तदर्थ श्रोत्रेन्द्रियकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको देखना चाहिये। वेदान्त श्रवण करना, यह श्रोत्रेन्द्रियकी ब्रह्म विषयक प्रवृत्ति है। संत महापुरुष उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति रूपी षड्लिङ्गोके द्वारा ब्रह्मका निरन्तर श्रवण करते रहते हैं। यही प्रवृत्ति है। अनात्म

वस्तुके श्रवणका परित्याग निवृत्ति है। अनात्मवस्तुका श्रवणका अर्थ घटपटादिका श्रवण नहीं, किन्तु स्तुति निन्दादि श्रवण अत्यन्त असत्यार्थका श्रवण । स्तुतिमें अविद्यमान उत्कर्ष और निन्दामें अविद्यमान अपकर्षका श्रवण होता है। व्यवहार आवश्यक मात्र सुनना चाहिये। अन्यका परित्याग निवृत्ति है। इस प्रयत्नका अभाव ब्रह्ममें निशा है।

(७) त्वगिन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति हम पहले कह आये हैं। कैकेयीने मन्थराका स्पर्श ज्यों ही किया, उसकी दुर्बुद्धि कैकेयीमें प्रसारित हो गयी। अर्थात् असद्व्यक्तिके स्पर्शसे हमेशा परहेज रखना चाहिये यही निवृत्ति है। छुआ-छूतका रहस्य यही है। पहले जमानेमें शुद्र अस्पृश्य नहीं था। शूद्रतो सेवा करता था। दूषित विचारवाले अस्पृश्य होते थे। जिसके अन्दर कामक्रोधादि दोष हो, जो वञ्चन पर हो, ऐसे व्यक्तियोंको भ्रष्टाचारियोंको गांवसे बाहर निकाल देते थे। वे ही अंत्यज कहलाये। ऐसोंका स्पर्श न करो और स्पर्श प्रवृत्ति किनके प्रति ? संत चरणोंका, भक्त चरणोंका। श्रवण और स्पर्श दोनोंको लेकर जड़ भरतजीने एक बड़ा सुन्दर उपदेश किया। राजा रहूगण उपदेश पानेके लिये कपिलाश्रम जा रहे थे तो रास्तेमें ही जड़भरतजीके साथ संवाद हुआ। श्रीमद्भागवतमें विस्तार पूर्वक इसका वर्णन आया है। बड़ा सुन्दर तत्त्वज्ञान जड़भरतनें राजा रहूगणको दिया। किन्तु अन्तमें चेतावनी रूपमें कहा—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नचछन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

हे रहूगण ! जी मैंने यह तत्त्वज्ञान बताया, यह तप करनेसे नहीं मिलता। तपसे सिद्धियां मिल सकती हैं। न चेज्यया। यज्ञसे यह

तत्त्वज्ञान नहीं मिलता। यज्ञसे स्वर्ग मिल सकता है। निर्वपणाद्। पितृ तर्पण पिण्ड पितृ यज्ञादिसे नहीं मिलता किन्तु पिण्डदान तर्पण आदिसे या यज्ञोंसे पितृलोक प्राप्त होगा। गृहाद्। गृहस्थाश्रमीके पञ्च महायज्ञसे भी नहीं। उससे भी स्वर्गसुख मिलेगा। जल अर्थात् वरुण पूजनसे, अग्नि पूजनसे और सूर्य पूजनसे भी नहीं। इनसे तत्तत् कामनायें पूर्ण होंगी। इसके लिये क्या चाहिये ? **'महत्पादरजोभिषेकम्'** महापुरुषोंकी चरण रजका स्पर्श करो। सिरमें धारण करो। यह उपलक्षण है। चरण स्पर्शादि पूर्वक श्रवणकी प्रवृत्ति यहां बतायी गयी है। चरण स्पर्श विधानका यही अर्थ है, जिससे उनका सत्संस्कार हमें प्राप्त हों। यह स्पर्श प्रवृत्ति और निवृत्ति ब्रह्म विषय हुई। इसका अभाव ही 'या निशा' है।

(८) चक्षुरिन्द्रियकी प्रवृत्ति और निवृत्ति ब्रह्मविषयक कैसी है ? प्रातःकाल ही अपने कमरेमें टंगे भगवानके और संतोंके चित्रका दर्शन कीजिये। भगवानके करुणामय रूपेण विग्रहको देखना है और संतका दर्शन वीतराग स्वरूपसे देखना है। अर्थात् चित्रको एक चित्रके रूपमें नहीं देखना है। भावपूर्ण दृष्टिसे देखना है। मंदिरमें दर्शन करो तो भावपूर्ण दृष्टिसे। अर्थात् दिव्य दृष्टि से। अर्जुनके समान अतिदिव्य दृष्टि आपको प्राप्त न भी हुई हो तो कोई हानि नहीं, सामान्य दिव्यदृष्टि तो है। सामान्य दिव्यदृष्टि माने—भावपूर्ण दृष्टि। चार प्रकारकी दृष्टि होती है। वस्तु दृष्टि, प्रतीक दृष्टि, दिव्य दृष्टि और परमदिव्यदृष्टि। यह एक कागज है चित्र है, मूर्त्ति है, इतनी दृष्टि वस्तु दृष्टि है। यह पामरोंकी होती है। यह माता-पिता, संत, भगवानका चित्र है, पूज्य है, यह प्रतीक दृष्टि सामान्य लोगोंकी होती है। यह साक्षात् भगवान है, या इसमे भगवान प्रविष्ट है, इस भावके साथ भगवत् आदि रूपसे देखना दिव्य दृष्टि है। "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" वाली दृष्टि परम दिव्य दृष्टि है। इनमें प्रथम पामर दृष्टि वर्ज्यं है। अन्य तीन दृष्टियों में किसी भी दृष्टिसे

देखना चक्षुरिन्द्रियका ब्रह्म विषयक प्रवृत्ति प्रयत्न है। अनुभवियोंका कहना है—

मातृवत् परदारेषु पर द्रव्येषु लोष्टवत्
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पण्डितः

यह प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयात्मक है। परदारको माताके समान, देवी अम्बाके समान देखना प्रवृत्ति प्रयत्न है। परदारकी ओर दृष्टि ही नहीं जाना, यह निवृत्ति प्रयत्न है। परद्रव्यको लोष्टवत्—मिट्टीके ढेलेके समान समझो। उसमें लोभ उत्पन्न न हो। समस्त प्राणियोमें आत्म-दर्शन करो। यही पण्डितका लक्षण है। ब्रह्ममें यही चक्षु की प्रवृत्ति-निवत्ति है। ये दोनों न हो तो 'या निशा' है।

(९) रसनेन्द्रियकी प्रवृत्ति और निवृत्ति ब्रह्मविषयक होती है। जैसा अन्न वैसा मन यह प्रसिद्ध है। अन्न शुद्धि परम आवश्यक है। "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" यहां सभी पांचों आहार ग्राह्य हैं। तथापि अन्नरूपी आहार-मुख्य है आचार्य लोग कहते हैं—

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन संतुष्यताम्

क्षुधारूपी व्याधि है उसके लिये और औषधि रूपमें भोजन है। संत हो तो भिक्षौषध ग्रहण करो। गृहणी जो दे उसको भिक्षा समझ लो। कमाकर लाने तक गृहपति मालिक। भोजनकी मालिकिन गृहिणी है। शंकर भगवान अन्नपूर्णासे भिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। जब कि अन्नपूर्णा उन्हींकी गृहिणी है।

"अन्नपूर्णे सदा पूर्णे शंकर प्राणवल्लभे"

ऐसा स्तुति वचन है। विधिवशात् जैसा बना उसीमें संतोष करो। ब्रह्मविचारार्थं शरीर संरक्षण करना है, उस उद्देश्यसे अन्न ग्रहण भी ब्रह्मविषयक रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति है। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" इत्यादि विधि भी ब्रह्मविषय रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति है। अखाद्य वस्तु

ग्रहणसे निवृत्त भी होना चाहिये। एक संत बोलते थे कि हमारा ब्रह्मज्ञान कोई होम्योपेथिक दवा नहीं है कि प्याज लहसूनकी गंध लगी और खतम हो गया। माना कि ब्रह्मज्ञान लहसूनकी गंधसे नहीं मिटता। किन्तु आपकी उसमें आग्रह पूर्वक प्रवृत्ति क्यों ? माना कि कभी भूलमें पड़ गये, या किसी भारी बिमारीमें उपयोग करना पड़ा किंतु स्वादार्थ मात्र हो तो ? पंचदशीमें स्वामी विद्यारण्य महाराजने कहा है—

विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान्
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यश्च देववत्

आपको विधि निषेध नहीं है, इसका मतलब यह कदापि नहीं कि आप कुत्ता सुअर आदिके बराबर व्यवहार करें। आपके व्यवहारमें ऐसी पवित्रता हो कि आप देवताके समान, भगवानके समान श्रद्धेय बनें। दूसरोंको घृणा पैदा हो ऐसा न करना चाहिये। हां यदि आप षष्ठी सप्तमी भूमिकामें हों तो अलग बात है। परंतु शकल ही बतायेगी कि आप किस भूमिकाके हैं। यही रसनेन्द्रिय निवृत्ति ब्रह्म-विषयक है। इन दोनों प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्नोंके अभावमें ब्रह्ममें आप सोते हैं—"या निशा सर्व भूतानां" वाली बात है।

(१०) दसवीं इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय है। इस पर अधिक प्रवृत्ति-निवृत्तिका विचार नहीं है। यह भारी खतरनाक इन्द्रिय नहीं है। भगवच्चरणार्पित तुलसी संत प्रसाद प्राप्त पुष्पादिका आघ्रणविधान है। यही उसकी ब्रह्मविषयक प्रवृत्ति है। अन्य गन्धोंसे निवर्त्तन ही निवृत्ति है। इस प्रकार दसों इन्द्रियोंका ब्रह्मनिमित्तक प्रवृत्ति प्रयत्न निवृत्ति प्रयत्न है। वह जहां शिथिल पड़ जाता है वही निशा है।

इसके बाद अन्तः करणका भी प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्न विचारणीय है। निशा का अर्थ अंधकार है। निशाका अर्थ रातको सोना है, सुप्ति अर्थ है और निशाका अर्थ सुषुप्ति भी है। रातको घोर

अंधकार हो जाता है तो गांवोंमें पहले जमानेमें सन्नाटा छा जाता था, रातको घर छोड़कर कोई बाहर चलता फिरता नहीं था। रातको कोई देखता नहीं, कोई चिल्लाता नहीं, कर्म प्रायः प्रकाशमें ही होता है। अतः अंधकारसे कर्मेन्द्रिय प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्नाभाव लक्षित होता है। सुप्तिमें श्रोत्रनेत्रादि ज्ञानेन्द्रियां भी काम नहीं करती। अतः उससे ज्ञानेन्द्रिय प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्नाभाव भी उपलक्षित है। सुषुप्तिमें मानस कर्म भी नहीं होता। स्वप्नमें मानस कर्म चालू रहता है। किन्तु सुषुप्तिमें वह भी नहीं। फलतः निशा पदसे सुषुप्ति, और सुषुप्तिसे मानस प्रवृत्ति-निर्वात्त प्रयत्नाभाव लक्षित होता है। ब्रह्मके सम्बन्धमें यह निशा सभी प्राणियोंकी चालू है। उनमें कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका अभाव किस प्रकार यह हमने देखा। अब आगे अन्तःकरणकी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिका अभाव किस प्रकार ? यह देखेंगे।

अन्तःकरणकी यह प्रवृत्ति-निवृत्ति तीन मार्गोंके अनुसार तीन प्रकारकी है। एक ज्ञानमार्ग है, दूसरा योग मार्ग है और तीसरा भक्ति मार्ग है। ज्ञानमार्गमें श्रवण मनन निदिध्यासनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। योग मार्गमें धारणा ध्यान समाधिकी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है और भक्ति मार्गमें साधन भक्ति भाव, भक्ति और प्रेमभक्तिकी प्रवृत्ति-निवृत्ति है।

प्रथम ज्ञानमार्गको देखो। ब्रह्मकथा प्रसंग तथा ग्राम्यकथा विघात ये दोनों श्रवणमें प्रवृत्ति-निवृत्ति है। पूछेंगे कि यह तो श्रोत्रेन्द्रियकी बात हुई। अन्तःकरणकी कहां हुई। उत्तर है कि श्रोत्रेन्द्रियसे सामान्य रूपेण ब्रह्मकथा श्रवण होता है। श्रवण मननमें जो श्रवण है वह षड्लिंगोंके द्वारा ब्रह्ममें तात्पर्य निर्णय करना है। सुनना-सुनना दोनोंमें है और दोनोंमें अर्थज्ञान भी है, किन्तु सामान्य श्रवणमें सुननेकी मुख्यता है। अर्थ विचार गौण है। वेदान्त श्रवणमें अर्थ विचार मुख्य है और सुनना गौण है। स्वयं बैठकर

पुस्तकका अध्ययन करे, यह भी तो श्रवण ही है। वहां श्रोत्रेन्द्रियका व्यापार कहां है ? एक बहरा है। उसने अपने पुत्रोंकी शिकायत पूरी सुनी। किससे सुनी ? इशारेसे सुनी अथवा लिखकर पढ़कर सुनी। तो पढ़ना भी तो सुनना ही हुआ। स्वयं ग्रंथ पढ़ते हैं तो लेखककी बात सुनते हैं। लेखककी बात लेखक यदि महान आचार्य ऋषि हों तो बीचमें गुरुके विना संभव नहीं है। अतः गुरुके द्वारा सुनी जाती है और श्रुति वचन हो तो गुरुमुखसे ही प्रथम श्रवण करते हैं बादमें स्वयं भी हो सकता है। श्रोतव्य मुख्य रूपेण तीन है। उनको हम लोग प्रस्थानत्रयी कहते हैं। उपनिषद् गीता और ब्रह्मसूत्र। उनमें भी मुख्य उपनिषद् है, द्वितीय नंबरमें गीता है। उपनिषद् श्रुति है, गीता स्मृति है। दोनोंका अर्थ निर्णायक ब्रह्मसूत्र है। तीनोका विधिवत् श्रवण करो। अठारह पुराण, भागवत, महा-भारत, रामायण आदि इसके सहकारी है। उनको पढ़ो तो वेदार्थज्ञान बढ़ेगा। अधिक रहस्य समझमें आयेगा।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदान् समुपबृंहयेत्"

ऐसा लिखा है। उनका श्रवण पामर जनोंको भी वेदार्थज्ञान प्राप्त कराना है। क्या योगसूत्र, भाष्यादिका श्रवण नहीं करना है ? श्रवण करो। किन्तु वहां कोई उपक्रमोपसंहार आदि नहीं है। उसका श्रवण द्वितीय मार्ग धारणा ध्यानादिका हम आगे जो वर्णन करेंगे उसमें उपयोगी है। इस प्रकार वेदान्तादि श्रवण निवृत्ति प्रयत्न है। निवृत्ति है ग्राम्य कथा विघात। पुराणादिका श्रवण इस रूपसे निवृत्तिरूप भी है। भागवतमें कहा है—

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥

भागवतकथा श्रवण ग्रास्यकथा विघातक है। इसीलिये बल्लभाचार्य दशमस्कन्ध को निरोध लीला मानते हैं। निरोधका उनके मतमें संसार विषय निरोध अर्थ है। उसमें ग्राम्यकथाकी निवृत्ति होती है। संसार कथा श्रवण चित्त संसारमें आसक्त हो जाता है। इन दोनोंसे रहित पुरुष ब्रह्मके विषयमें श्रवणके बारेमें सोया हुआ है। प्रातःकाल सत्संग हो रहा है तो दोनों पकारसे सोये हुए लोग मिलेंगे। एक सोया हुआ वह है जो सात बजे तक प्रायः उठता नहीं, सोया पड़ा रहता है। फिर उठे हुए लोग भी सुन नहीं पाते—

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः"

महान पुरुषके बिना यह कथा श्रवण प्राप्त नहीं हो सकता। घोर सुषुप्तिमें लोग पड़ हैं।

श्रवणके बाद मनन है। सुने हुए पाठको पुनरीक्षण (रिवाईज) करना ही मनन नहीं है। नवीन-नवीन युक्तियोंसे श्रुतार्थ निर्णय करना मनन है। इसीको लेकर बताया—

"शृण्वन्तऽपि बहवो यं न विद्युः"

कई जगह सत्संगमें हमने अनुभव किया। एक जगह देखा कि वहां ब्रह्मसूत्रका स्वाध्याय चल रहा था। तो लोग पाठ पढ़कर पुस्तक वहीं कमरेमें रखकर जा रहे थे। मैंने पूछा—आप पुस्तक यहीं रखकर क्यों जाते हैं ? भक्तने कहा—रोज कौन लायेगा ले जायेगा ? मैंने कहा—तब मनन कैसे करोगे ? भक्तने उत्तर दिया कि मननके लिये कहां फुर्संत रहती है, इतना सुन लिया गनीमत समझ ला। फिर उसी भक्तने आगे मुझे बताया कि आप मनन करने पर जोर लगायेंगे तो जो सुनने आते हैं ये भी आना बंद करेंगे। हमने कहा—भागते भूतकी लंगोटी ही सही, श्रवण ही कर ले ता भी ठीक ही है, कभी न कभी मनन भी शायद हो जाय। पाठ पूरा समाप्त होने पर पुस्तक तो घर ले जायेंगे ही फिर कभी नजर पड़ी तो मनन संभव

है। किन्तु अहमदाबादमें एक सत्संगमें देखा कि वहांके सेठ बड़े उदार होते हैं। जिसका स्वाध्याय चलता है वह पुस्तक खरीदते हैं, फिर स्वाध्याय पूरा हो गया तो पाठशालामें विद्यार्थियोंको बाट देते हैं। वहां तो मेरी उस आशा पर भी पानी फिर गया। श्रवण विषय प्रवृत्ति-निवृत्तिमें वे जगे हैं किन्तु मनन प्रवृत्ति-निवृत्तिमें वे सोये हैं। संसार मनन ही उनका चलता है।

मननके बाद निदिध्यासन है। काशीमें एकसे बढ़कर एक धुरंधर विद्वान पड़े हैं। उन्होंने श्रवण खूब किया है और मनन भी काफी किया है। किन्तु निदिध्यासन प्रवृत्तिमें वे भी सोये हुए हैं। श्रवण इसलिये पूरा किया कि विद्यार्थियोंको पढ़ाना है। मनन इसलिये करते हैं कि कोई शास्त्रार्थं महारथी सामने आ गया तो मुकाबला करना पड़ेगा। एक महामहोपाध्ययको मैंने देखा कि वे हमेशा अनुमिति गदाधरीका पाठ करते थे। क्या मालूम कहां कौन पूछ बैठे। परंतु ब्रह्मनिदिध्यासन नहीं करते। ब्रह्माकार चित्तवृत्ति प्रवाह संपादन करना निदिध्यासन प्रवृत्ति प्रयत्न है। एक पंडितजीका पुत्र मर गया तो उन्होंने अध्यायको छोड़ दिया। अब रुपया कमावें किसके लिये? रोते रहे रोते रहे। पुत्राकार चित्तवृत्ति प्रवाह उनका चल रहा था। इससे निवृत्त होना चाहिये। इसके लिये भी भारी यत्न करना पडता है। अनिच्छा है फिर भी बलात् पुत्र चिन्तन आ जाता है। उसकी निवत्ति होनी चाहिये। यही ब्रह्मविषयक प्रवृत्ति-निवृत्ति है। इसके अभावमें "या निशा सर्वभूतानां है"।

अब योगमार्गमें प्रवृत्ति देखो। हृदयस्थानमें ॐकार धारण करना ब्रह्म विषयक धारणा है। वैसे तो किसी भी चक्रमें चित्तको बांधना धारणा है। किन्तु ब्रह्म विषयक धारणा कहने पर ॐकार धारणा आदि ही वाह्य है। इसका विशेष विवरण योग सूत्रमें तथा गीतामें भी षष्ठ एवं अष्टम अध्यायोंमें प्राप्त होगा।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्

प्रणव रूपी धनुष पर आत्माको चढ़ाकर लक्ष्य ब्रह्मका वेधन करना चहिये। तब यह आत्मा ब्रह्ममय होगा। हृदय कमलमें ॐकार चिन्तन किया जाता है, उसमें अकार, उकार तथा मकार तथा अन्तमें तुरीयका भी चिन्तन विधान है। इनमें धारणा हृदय स्थान में किया जाता है। हृदय कमल धारण धारणा प्रयत्न है।

ध्यानमें हृदय कमलमें ॐकार और ॐकारकी मात्राओंके अर्थका ध्यान किया जाता है। ॐकाराकार प्रत्ययैकतानता ॐकार चिन्तन प्रवाह चलता है।

"ओमिति ध्यायीतात्मानं"

ॐ का उच्चारण करते हुए आत्मा का ध्यान किया जाता है। अनेक विध ध्यानका वर्णन योगशास्त्र प्रसिद्ध है। योगशास्त्रोंमे ही वह भी द्रष्टव्य है। यही ध्यान प्रवृत्ति प्रयत्न है।

ध्यानको ही बढ़ाते-बढ़ाते समाधिमे पहुंच जाते हैं। ध्याता और ध्यान ये दानोंका प्रत्यय छूट गया ता समाधि मानी जाती है। यही समाधि-विषयक प्रवृत्ति प्रयत्न है।

इनके प्रतिरोधियोंसे निवृत्ति होना निवृत्ति प्रयत्न है। इन दो प्रकारके प्रयत्नोंका शैथिल्य होता है या अभाव होता है तो योगमार्गमें वह सुप्त है। उसकी वह निशा है।

भक्तिमार्गमें प्रथम साधन भक्ति प्रयत्न और बादमें भावभक्ति प्रयत्न होता है।

श्रवणं कोर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्"

इस नवधा भक्तिमें श्रवणादि छः साधन भक्ति है और तीन भाव भक्ति है श्रवण पहले जैसे ही समझना चाहिये। भागवतादि शास्त्र श्रवण करते हुए भगवानके अंदर अवरूद्ध करना श्रवण भक्ति है।

"सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्"

शुश्रूषुका अर्थ है श्रवणकी इच्छा करनेवाला। जहां श्रवणेच्छा हो गयी वही भगवान आकर हृदयमें अवरुद्ध होते हैं। अतः श्रवण भी मानस प्रयन्न है। कीर्त्तन जपादि तो मानस अत्यन्त प्रसिद्ध है। अर्चन मानस पूजनात्मक यहां समझना चाहिये। इतर। श्रवणादि निवृत्ति एवं भगवच्छ्रवणादि प्रवृत्ति साधन रूप है। इन दोनोंके अभावमें परमात्माके बारेमें मनुष्य सोया हुआ समझना चाहिये।

भाव भक्तिमें दास्य, सख्य एवं सर्वात्म निवेदन है। अन्यत्र पांच भावोंका भी वर्णन आया है। सर्वस्वात्म निवेदन ही सर्वतोभाव है। "सर्वभावेन भारत" में यही सर्वतोभाव बताया है। निरन्तर सेवारत हो तो यह प्रवृत्ति है। संसार सेवात्याग निवृत्ति है। इसी भावको अनेक भक्तोंने अपनाया है। सख्य-वात्सल्यादिको अधिकतर अवतार-कालमें ही स्वीकार किया है। "त्वमेव सर्वं मम देव देव" यह सर्वभाव तो माना है। यही आत्मनिवेदन है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिके अभावमें भक्त कहलाने वाला सोया हुआ है।

तृतीय प्रेम लक्षण भक्ति है। यह भी सान्द्रभाव ही है। तथापि इस स्थितिमें आने पर फिर कभी विचलन नहीं होता। प्रेममें क्या प्रवृत्ति क्या निवृत्ति ?

"तदर्पिताखिलाचरता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च"

समग्र प्रवृत्ति प्रियनमार्थं ही होगी। इसमें अमुक कार्य करना अमुक नहीं करना ऐसा नहीं होगा। संसारके पूरे कार्य दीखेंगे। किंतु सभी भगवत्प्रीत्यर्थं ही होंगे। गोपिकाओंके सभी कर्म जिस प्रकार भगवत्प्रीत्यर्थ थे वैसे सभी कार्य भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाना चाहिये।

मद्गेहमेव नवनीतबुभुक्षुरद्य
नूनं समेष्यति हरिर्लघु मार्जिम दोह्मि।

इत्यङ्गना सकलकर्मसु नित्यमेव
यातेऽप्यजे ववृत्तिरेऽस्मृनादवियोगाः ॥

भगवद्गमनके बाद गोपिकायें प्रतिदिन पूर्ववत् सारा कार्य करती थीं। झाड़ू लगाती थीं, सोचतीं, आज कन्हैया घरमें आयेगा तो साफ-सुथरा रहना चाहिये। स्नान करती तो सोचती कि कन्हैया आवे तो मैं भद्दी न दीखूं। अलङ्कार पहनती थीं तो सोचती कि कन्हैयाको मैं अच्छी लगूं। दूध दुहती हुई सोचती थीं, आज कन्हैया मेरे घरमें आकर अवश्य दूध पीयेगा, माखन खायेगा इत्यादि। यही तदर्थिता-खिलाचारता रूपी प्रवृत्ति प्रयत्न है। यद्यपि उनको निवृत्तिके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता था तथापि जिस किसी कार्यमें भगवद्विस्मरणकी संभावना थी, उसे करते समय वहांसे हटनेके लिये जो परम व्याकुलता होती था, वही उनका निवृत्ति प्रयत्न था। भगवान श्रीकृष्ण जब जङ्गलमें गाय चराने जाते तो दूर तक देखती रहती थी। भगवान् दृष्टिसे ओझल हो जाय तो परम व्याकुलता होती थी, फिर स्वयमेव अन्दर ही अन्दर दर्शन होने लगता था, यह भी निवृत्ति प्रयत्न है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों न हो तो यही भगवानके विषयमें निशा हैं।

अन्तःकरणके ये तीन मार्गोंके प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्न यथा सम्भव समुत्पन्न होता है। क्वचित् विकल्प भी होता है। अर्थात् ज्ञानमार्गका श्रवणादि भी करो, योग मार्गका धारणादि भी करो और भक्तिमार्ग साधनादि भक्ति भी करो। इसीलिये श्रीमद्भागवतादिमें तीनोंका पर्याप्त निरूपण है। फिर ये तीन मार्ग क्यों ? एक ही मार्ग क्यों नहीं ? रोटी दाल-भातका समुच्चय है, तो तीन भोजन नहीं माना जाता, एक ही भोजन माना जाता है। उत्तर है कि इनमें प्रधानताको लेकर तीन मार्गोंकी मान्यता है। ज्ञानमार्गमें चलनेवालोंके लिये दूसरे दो गौण होंगे। योग मार्गमें चलनेवालोंके लिये ज्ञान साधना और भक्ति साधना गौण पड़ेंगी और भक्तिमार्गसे चलनेवालोंके लिये ज्ञान

साधना और योग साधना गौण होंगी और कहीं-कहीं तो एक मार्ग-की परिपक्वता होने पर अन्यमार्गका फल स्वयं प्राप्त भी हो जाता है। **"न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" "ते नाधीतश्रुतिगणाः"** इत्यादि अनेक वचन इसके समर्थनमें श्रीमद्भागवतमें प्राप्त होते हैं। ये तीनों मार्ग परस्पर विरोधी न होनेसे तीनोंको एक साथमें भी पूर्ण रूपेण कर सकते हैं। ये तीनों बातें विशेषरूपेण आचार्योंमें पायी जाती हैं। ये तीनों ही जिसमें नहीं है वही घोर निशामें पड़ा है।

(११) अन्तःकरणकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके विचारमें मन बुद्धि चित्त अहङ्कारके प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयत्न पर विचार करना भी उपयुक्त है। ब्रह्म विषयक सङ्कल्प करना प्रवृत्ति है। अर्थात् निर्विकल्पक ध्यान करना प्रवृत्ति है। विकल्पोंको हटाना निवृत्ति है। यह प्रवृत्ति भी अति कठिन है, निवृत्ति भी अति कठिन है। राजा जनकके पास एक बार अष्टावक्रजी पहुंचे। राजा जनकने अष्टावक्रजीका पूजन किया, सम्मान किया। अष्टावक्रने प्रसन्नता व्यक्त की और कहा कि आप स्वधर्मकर्मनिष्ठ हैं। राजा जनकने कहा, हे भगवन! हमने सुना है कि आप महान योगीश्वर हैं। आपने अनेक शिष्योंको ब्रह्म दर्शन कराया है। अनेक ऋषि मुनि प्रसिद्ध हैं। वे भी ब्रह्मका दर्शन कराते हैं। राजा जनकको ऋषि मुनियोंका परीक्षण करनेका बड़ा शौक था। एक बार उन्होंने सैकड़ों महर्षियोंकी सभामें घोषणा की थी कि आप सबमें जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हो वे हमारी इन उत्तम हजार गायोंको ले जाय। तब अनेक ऋषियोंको शास्त्रार्थमें परास्तकर याज्ञवल्क्य ऋषि गायोंको ले गये थे, ऐसी कथा आती है। उसीके अनुसार राजा-ने अष्टावक्रको कहा कि मैं आपको सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ तभी मान सकता हूं, यदि आप घोड़ेकी रकाबमें पांव रखने जितने समयमें ब्रह्म-का दर्शन हमको करावे। राजा होनेके नाते घोड़ा जल्दी याद आया। क्योंकि युद्धके समय बिजलीके समान घोड़ेपर चढ़ने उतरनेकी उन्हें आदत थी। अष्टावक्रजी अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये नहीं,

किन्तु प्रश्न सामने आया तो ऋषि होनेके नाते उत्तर देना जरूरी था, इसलिये बोले कि हे राजन ! यह बताओ कि तुम राजाके रूपमें पूछते हो या शिष्यके रूपमें ? जनकने कहा—शिष्यके रूपमें । अष्टावक्रजीने कहा कि शिष्यके रूपमें पूछते हो तो शास्त्र विधान है कि ब्रह्म विद्या-का अधिकारी समर्पित शिष्य ही होता है तो प्रथम तन मन धन तीनोंका समर्पण करो । (प्रश्न होगा कि शिष्य होनेके पहले तन मन धन समर्पण कैसा ? उत्तर है, शिष्य बने बिना, साधना किये बिना ब्रह्म दर्शन करानेका अनुरोध भी किस प्रकार किया ? अतः "यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः" जैसा प्रश्न वैसा उत्तर हुआ) राजा जनकने कहा—"**इमे विदेहा अयमहमस्मि दास्याय**" मैं आपको सब कुछ समर्पण करता हूं । तन मन धन सभी समर्पण करता हूं । अष्टावक्रजीने कहा सोच समझकर समर्पण किया ? राजा—जी हां । अष्टावक्रजीने कहा—गपोड़शङ्ख —

"अह गपोडशंखोऽस्मि वदामि न ददामि तु"

वाली बात तो नहीं है । गृहस्थ लोग मेहमानोंको कहते हैं—"आपका ही घर है, रहिये । बोलनेवाले भी समझते हैं, मेहमानका घर नहीं है, मेहमान भी समझते हैं कि मेरा घर नहीं है । बस एक प्रकारका गपोड़शंख ही वह है । अष्टावक्रजीने कहा, यहा भी वैसी ही बात तो नहीं है ? राजाने कहा—भगवन् ! ऐसी बात नहीं है हमने आपको सर्वस्व समर्पण किया । अष्टावक्रजीने पूछा—अब यह शरीर किसका ? राजाः—आपका ही, आपकी ही सेवा करेगा । अष्टावक्रः—यह राज्य धनादि संपति अब किसकी ? राजाः—आप इसके मालिक हैं । आप राजसिंहासन पर विराजमान हो जाय । अष्टावक्र—ये दोनों ठीक हैं, यह मन अब किसका ? राजाः—आपही का है । आपकी आज्ञा पालन करेगा । अष्टा-वक्रजीने पूछा—फिरसे पूछता हू—कही गपोड़शंख तो नहीं ? राजाः—सर्वथा नहीं । अष्टावक्रजीः—यदि मन मेरा है तो मेरे मनसे

संकल्प-विकल्प करना बंद कर दो। राजा जनक अब संकल्प-विकल्प रोकने का प्रयास करने लगे। काफी देर तक कशमकशी चली। राजाको तब मालूम पड़ा कि मनका निवर्त्तन कितना कठिन है। राजाने सोचा—आज तक मैंने कभी असत्य नहीं कहा। किन्तु लगता है कि आज मैं झूठा पड़ूंगा घबराने लगे। राजा जनक मनसे अष्टावक्रके शरणागत हुए। भगवन ! अब हमारी रक्षा आप ही करें। परीक्षा करने गये तो स्वयंकी परीक्षा हो गयी। गाय दानमें दिया, दूध हम पीयेंगे, यह कैसा दान ? राजा जनक अष्टावक्रके शरणागत हुए। आखिर राजा जनकने सर्वस्व समर्पण किया जिसको वह कोई मामूली व्यक्ति नहीं हो सकता और महर्षि वामन भगवानके समान छल भी नहीं कर सकते थे। अष्टावक्रजीने अपना कृपामय वरदहस्त राजा जनकके मस्तक पर रखा। आत्मकृपाके साथ गुरुकृपा भी चाहिये ही। राजा जनककी अपने आप पर आत्मकृपा पूर्ण थी। गुरुकृपा अष्टवक्रजीसे हुई। एकदम निर्विकल्पक समाधिमें पहुंचे। तीन दिन समाधिमें बैठे रहे। तीसरे दिन अष्टावक्र ने जनकको समाधिसे जगाया। राजा जनक आनंद सागरमें गोता लगाकर ऊपर आये हैं। अष्टावक्रजीने कहा क्या देखा, यह वर्णन करो। राजाः– भगवन् ! वह मन और वाणीसे परे है। अष्टावक्र– ब्रह्म प्राप्त हुआ कि नहीं ? राजाः– हुआ। कितने समयमें ? घोड़े की रकाबमें पांव रखने जितने समयमें या अधिक समयमें राजाः—भगवन् ! इसमें तो समय ही नहीं लगना। वह तो मेरा स्वरूप ही है। नित्य प्राप्त है। केवल संकल्प-विकल्पोंके कारण अप्राप्त-सा हो रहा था। अप्राप्तकी प्राप्तमें देरी होती है, प्राप्तिकी प्राप्तिमें नहीं। प्राप्तकी प्राप्तिमें बाधक संकल्प है। वह मिट गया तो ब्रह्म प्राप्त ही है।

(१२) बुद्धिकी भी ब्रह्म विषयमें प्रवत्ति और निवत्ति है। अखण्डाकार वृत्ति संपादन बुद्धिकी प्रवृत्ति है। जो तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके द्वारा संपन्न होती है। तत्त्व पदार्थ शोधनादि सभी

प्रवृत्तिके अन्तर्गत है। अनात्मवत्तिको हटाना यह निवृत्ति है। इसके अभावमें ब्रह्म विषयक वह निशा है।

(१३) चित्तका लक्षण चित्तन है। निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि है। बुद्धिसे निश्चय करनेके बाद उसका जो चिन्तन चलता है वही चित्तकी प्रवृत्ति है। पांचवी भूमिकासे निरन्तर ब्रह्म चिन्तनसे उपरत होना ब्रह्म विषयक निवृत्ति है। इन दोनोंके अभावमें निशा है।

(१४) चौथा अन्तःमरण अहङ्कार है। "अहं ब्रह्मास्मि" यह भावना अहङ्कारकी ब्रह्मविषयक प्रवृत्ति है। अहङ्कारकी प्रवृत्ति तो अहङ्कारका त्याग ही है। अर्थात् चैतन्यमें अहङ्कारको जोड़कर अहं बोलते हैं। यहां निवृत्ति ही प्रवृत्ति है। अहं निवृत्ति करनेका ही प्रयाम करना है। निवृत्ति प्रयत्न तो शरीरादिमेंसे अहङ्कार निवृत्ति है।

मनो बुद्धयहङ्कारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्

यह अहङ्कारकी प्रवृत्ति-निवृत्तिका स्वरूप है। तीन पादोंमें मैं मन नहीं, चित्त नहीं इत्यादि निवृत्ति है। शिवोऽहं यह प्रवृत्ति है। शिवोऽहंमें भी अहङ्कारका भाग त्याग होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रयत्नका अभाव ब्रह्म विषयक निशा है।

इस प्रकार कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय एवं अन्तःकरणकी ब्रह्ममें कैसी-कैसी प्रवृत्ति तथा कैसी-कैसी निवृत्ति इसे सम्यक् समझना चाहिये।

"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरसुराः"

आसुर बुद्धिवाले प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते। ऐसा गीतामें भगवान बतायेंगे। प्रवृत्तिका अभाव ही निवृत्ति नहीं है। ऐसा

होता तो निवृत्तिको पृथक् कहनेकी जरूरत न होती। जानकर प्रवृत्ति-निवृत्ति करो। उसका अभाव होने पर निशा ही निशा है।

निशा शब्दका एक अर्थ बताया—नितरां श्यति तनूकरोति प्रवृत्ति-निवृत्ती इति निशा। जो प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपी प्रयत्नको अत्यन्त क्षीण करे या अभाव करे वह निशा है। "नितरां शीयेते प्रवृत्ति-निवृत्ती अस्यां वा" प्रवृत्ति-निवृत्तिका जहां अभाव हो जाय। ब्रह्मके बारेमें प्रवृत्ति और निवृत्तिका अभाव हो जाय तो ब्रह्म निशामें पड़ा है—रात्रिमें पड़ा है ऐसा कहा है—रात्रिमें पड़ा है ऐसा कहा जा सकता है। इस आशयसे ब्रह्मतत्त्वको ही यहां निशा बताया। जैसे रातमें लोग प्रवृत्ति शून्य होते हैं वैसे ब्रह्ममें भी प्रवृत्ति-निवृत्ति शून्य हैं।

अब हम इसका दूसरा अर्थ भी देखेंगे। रात्रि सामान्यतया सोनेके लिये भगवानने बनायी है। निशाचरोंकी बात हम नहीं कह रहे। वे तो रातमें घूमते रहते हैं। किन्तु मनुष्याधिकार होनेसे सामान्य मनुष्यकी स्थितिके अनुरूप चिन्तन किया जाता है। सोनेमें दो अवस्थायें होती हैं। एक सुप्ति है, दूसरी सुषुप्ति है। जिसके बारेमें प्राणी सोये पड़े हैं वह ब्रह्म निशा है। और जिस पर स्वप्न या सुषुप्ति चल रही है, वह निशा ब्रह्म है। इन दो अवस्थाओंको शास्त्रोंमें स्वप्न और निद्रा भी कहा है। स्वप्न और निद्राकी व्याख्या अन्य ढंगसे गौडपादाचार्यने माण्डूक्यकारिकामें की है—

> अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्वमजानतः।
> विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

स्वप्नमें कभी राजा रंक बन गया और कभी रंक राजा बन गया। कभी अपनेको पक्षीके रूपमें आसमानमें उड़ते हुए देखने लगता है। तो कभी रातमें सूर्य देखने लगते हैं कोई-कोई यथार्थ सूचक भी हो, फिर भी वैसेका वैसा कोई नहीं देखता। और वैसा भी हो, तो भी वह तो

नहीं ही। अतएव अन्यथा ग्रहण नियत है स्वप्न। इसलिये स्वप्न माने अन्यथा ग्रहण ही है। सुषुप्ति कालमें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। "नाहं किंचिदवेदिषं" मैंने कुछ नहीं जाना। घोर निद्रामें पड़ा रहा, ऐसी प्रतीति है। अतः सुषुप्ति माने अग्रहण—कुछ न जानना। निशा पदसे ये दोनों ही अर्थ निकलते हैं—अन्यथाग्रहण भी और अग्रहण भी। ब्रह्मके बारेमें सभी निशामें पड़े हैं। स्वप्न और सुषुप्ति एक साथमें चल रहे हैं। ब्रह्मका अग्रहण भी हो रहा है और अन्यथा ग्रहण भी हो रहा है।

वेदान्तकी परिभाषामें इन दोनोंके दो खास नाम प्रसिद्ध हैं, एकको आवरण कहते हैं और दूसरेको विक्षेप कहते हैं। आवरण माने स्वरूपका ज्ञान जिससे न हो, और विक्षेप माने विपरीत स्वरूपका ज्ञान जिससे हो। यही समझनेके लिये रज्जु सर्पका दृष्टांत दिया जाता है। सन्ध्या समयादिमें रस्सी अन्धकारमें पड़ी है। तो उसे देखनेवालोंने सर्प समझा। बात छोटी सी है। किन्तु विवेचकोंने इसमें तीन बातें देखीं। एक यह कि इसमें रस्सीके स्वरूपका अज्ञान है। दूसरी यह कि उसी अज्ञानने रस्सीके स्वरूपको ढका—आच्छादित किया। जैसे रातको अंधेरा हो जाता है तो अंधेरा सारी वस्तुओंको घेरकर ढंक लेता है। अंधेरेसे वस्तु आवृत्त होती है। इसी प्रकार अज्ञान से वस्तु आवृत्त होती है। इसीको आवरण कहते हैं। रस्सीका स्वरूप अज्ञानसे आवृत्त हुआ। तीसरी बात यह है कि उसी अज्ञानसे रस्सीमें सर्प विक्षेप हुआ। सर्पाकार दीखने लगा। इन अन्तिम दो बातोंको लेकर ही सिद्धांत स्वीकार किया कि अज्ञानमें दो शक्तियां होती हैं, एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति है। आवरण शक्ति स्वरूपाच्छादन करती है। विक्षेपशक्ति स्वरूपान्तर दिखाती है। निशापदसे अंधकार भी प्रतीत होता है। अग्रहण और अन्यथा ग्रहण भी। ब्रह्मके बारेमें भी ये तीन होते हैं। एक अज्ञान है। दूसरा

स्वरूपाच्छादन रूपी आवरण है। तीसरा अन्यथा ग्रहण रूपी विक्षेप है।

अनादि माया अज्ञान है। अज्ञानने अपनी आवरण शक्तिसे ब्रह्मको ढंका वस्त्रके समान नहीं ढंका किन्तु अपने ढंगसे। जैसे रज्जुके स्वरूपको अज्ञानने ढंका। मन्दान्धकारने ढंका ऐसा भी नही। इसीको समझानेके लिये शुक्ति रजतका द्वितीय दृष्टान्त कहा जाता है। समुद्र किनारे सीप पड़ी है। दोपहरका समय है। वह चमचम चमकती है। कोई नया आदमी वहां पहुचा तो उसको दूरसे भ्रान्ति हुई कि चांदीका टुकड़ा पड़ा है। वहां शुक्तिका स्वरूप आच्छादित हुआ तो अंधेरेसे नहीं। क्योंकि माध्याह्न समयमें अंधेरा कहांसे आया। अतः अंधेरेसे आवृत्त नहीं। अज्ञान अपने ढंगसे स्वरूपको ढंक देता है। वस्तु नहीं ढंकती। वस्तुका स्वरूप ढंक जाता है। अनादि मायासे इसी प्रकार ब्रह्मका स्वरूप ढंका। यह आवरण हुआ। इसके बाद विक्षेप शक्ति वहां आ पहुंची। विक्षेप शक्तिसे ब्रह्म ही जगत रूपेण दीखने लगा।

वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म ही जगत रूपेण दीख रहा हैं। जैसे सीप ही चादीके रूपमें दीख रही है। अर्थात् प्रत्येक बोधमें ब्रह्म ही भासता है। जैसे सामने सीपी रूपी वस्तु देखे बिना रजत नहीं दीखता। सीप दीखती है किन्तु सीपका स्वरूप आवृत्ति हो गया है। इसी व्रकार ब्रह्मको देखे बिना जगत नहीं दीख सकता। ब्रह्म ही दीखता है किन्तु जगतके रूपमें। अत एव "प्रतिबोधविदितं मतं" इस प्रकार उपनिषद्में बताया है। प्रत्येक बोधमें ब्रह्म विदित होता है। क्यों कि आखिर देखोगे तो जगतकी वस्तुओंको ही, सुनोगे तो जगत्के शब्दोंको ही सोचोगे तो जगत्की चीजोंको ही और ज़गत् तो ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है। ब्रह्म ही रूपान्तरसे देखा जा रहा है, सुना रहा है। यों कहो कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश नित्य प्रकाशित हो रहा है। नेत्रके होनेसे रूपके स्वरूपमें दीख रहा है। कानके

आनेसे शब्दके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। त्वचाके आने पर स्पर्शके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। रसनाके आनेपर रसके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। घ्राणके आनेपर गधके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जैसे प्रकाशित हो रही है सीप ही, किन्तु रजत के रूपमें। अध्यास भाष्यमें भाष्यकार भगवान शंकराचार्यने इसे बड़े जोर शोरसे सिद्ध किया है।

"सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति
तथा च लोकेऽनुभवतः शुक्तिका हि रजतवदवभासते"

ऐसा शांकर भाष्यमें बताया है। भान हो रहा है किसीका, किन्तु किसी अन्य रूपसे जैसे, भास रही है शक्ति,किन्तु रजत जैसी। रजत भास नही रहा, क्योंकि रजत हो तो ही रजत भासे। रजत तो है नहीं। रजत जैसी भास रही है। वैसे ब्रह्म ही भास रहा है। किन्तु शब्द स्पर्शादि जैसा। शब्द स्पर्शादि नहीं भास रहे। क्यो कि ये सब यदि सत् हो तब भासे। ये सब सत् नहीं है। फिर भी व्यवहार चलता है। ये सभी वाचारम्भण हैं—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

इस प्रकार श्रुतिमें बताया है। घडा, पुरवा, ईंट आदिमें मृत्तिका-मात्र सत्य है। अन्य सब वाचारम्भण मात्र है।

क्या यह श्रुतिमात्र कहती है या अनुभवगम्य भी है? अनुभवगम्य भी है। पांच तोला सोनेसे कुण्डल बनाया। सोना कितना तोला? कुण्डल कितना तोला? पांच तोला। तब पांच-पांच मिलकर दस तोला हुआ या नहीं? सोनारको पांच तोला सोना दिया तो कुण्डल बनाकर वह दस तोला वापिस करेगा या नहीं? नहीं। क्यों? क्या कुण्डलके बनने पर सोना खलास हो गया? जैसे दही बनने पर दूध नही रहा। ऐसा नहीं हो सकता। तब पांच तोला सोना और पांच तोला कुण्डल मिलकर दस तोला क्यों नहीं? मानना पड़ेगा कि इन

दो में एक मिथ्या है। जिसका वजन नहीं है, तो कारण मिथ्या है या कार्य मिथ्या ? कार्यके विना कारण सोना रहेगा। किन्तु कारणके बिना कार्य नहीं रहेगा। अतः कारण सत्य है, कार्य मिथ्या है। यही "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" श्रुतिका अर्थ है। विकार अर्थात् कार्य वाचारम्भण है। मिथ्या है। कारण मृत्तिका ही सत्य है।

दूसरे प्रकारसे भी विचार करो। घट क्या है? कुण्डलादि क्या है? घट माने मिट्टी एक खास ढङ्गसे मिट्टीको ऊपर-नीचे रख दिया इतना ही तो। ब्रह्मसूत्रमें अहिकुण्डल दृष्टांत दिया है। सर्प कभी सीधा दण्डाकार होता है और कभी कुण्डलाकार होता है। वहां पूछा है कि दण्डाकार सर्पसे कुण्डलाकार सर्प अलग है? कुण्डलाकार वाचारम्भण मात्र है। सर्प ही वास्तविक है। दण्डाकार कुण्डलाकार सभी वाचारम्भण है। आकार प्रकारादि सभी आंखोंकी कल्पना है। जैसे वादलमें दूरसे हाथी, घोड़ा, रथ आदि दिखाई पड़ते हैं। क्या सचमुचमें वहां हाथी घोड़ा आदि हैं? आकार भी सचमुचमें हैं? बादलके नजदीक जाओ तो कोई आकार-प्रकार दिखाई नहीं पड़ेगा। पहाड़ पर बादलके अनेक आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु पहाड़ पर जाओ तो वहां बादलमें कोई आकार नहीं रहता। अर्थात् दूरसे आंखकी शक्ति कम होती है तो अनेक आकार दिखाई पड़ते हैं। घटके कारण परमाणुओंको भी ठीक तरहसे देखनेकी शक्ति आंखोंमें नहीं रहती है तो उनमें घटादि आकार दिखाई पड़ते हैं जो वास्तविक नहीं होते। ये परमाणु भी उसके मूल कारण शक्तिमें कल्पित है। शक्ति परिस्पन्दन ही परमाणु है और घटादि है। परमात्माकी ही वह शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् भिन्न नहीं होते। दोनोंकी एक ही सत्ता होती —

"न चैव चैततच्छक्त्योर्जीवितं गण्यते पृथक्"

चैत्र और चैत्रकी शक्ति ये दो तत्त्व नहीं हैं। वैसे परमात्मा और परमात्माकी शक्ति पृथक नहीं है। फलत: परमात्मासे अभिन्न शक्ति है। शक्तिमें ही तन्मात्रा परमाणु आदिकी कल्पना है। उसमें फिर घटादि कल्पना है। इस प्रकार विचार करने पर मूल परमात्मा ही एक मात्र सत्य है, अन्य सभी वाचारम्भण मात्र है। यह बात सिद्ध होती है।

लोग प्रश्न करते हैं कि संसार काल्पनिक है, मिथ्या है तो व्यवहार कैसे चलेगा। कुतर्की लोग कहते हैं—रोटी भी मिथ्या और पत्थर भी मिथ्या तो रोटीके बदले पत्थर क्यों नहीं खाते? एक कुतर्कीने मुझे यही प्रश्न किया था। मैंने कहा—सत्य मानने पर भी इसका उत्तर क्या? रोटी भी सत्य, पत्थर भी सत्य तब रोटीके बदले पत्थर क्यों नहीं खाते? उसने कहा—यद्यपि दोनों सत्य है, किन्तु रोटी हजम होगी, पत्थर हजम नहीं होगा। मैंने कहा—मिथ्या होने पर भी यही बात है। रोटी हजम होगी, पत्थर हजम नहीं होगा। उसने कहा—दोनों मिथ्या होनेपर भी यह भेद कैसा? दोनों सत्य हैं तब यह भेद कैसा? यह तो वस्तु स्वभाव विशेष है। मिथ्या वस्तुओंमें भी भेद रहता है। रज्जुमें सर्प मिथ्या है। शुक्तिमें रजत भी मिथ्या है। किंतु सर्पको देखकर भय हुआ और रजतको देखकर उठानेका लोभ हुआ। दोनों मिथ्या है, किन्तु एक भयका कारण हुआ और दूसरा लोभका कारण हुआ। यह फरक क्यों? दूसरी बात, हमने पूर्व ही युक्तिसे सिद्ध किया कि सुवर्णमें कुण्डल भी मिथ्या है वाचारम्भण है, मृत्तिका-में घट भी मिथ्या है, वाचारम्भण है और व्यवहार भिन्न-भिन्न चलता है। मृत्तिकामें घट मिथ्या है ईंट भी मिथ्या है। तो क्या ईंटोंमें पानी भरेंगे? और घड़ोंसे दिवार बनायेंगे?

लोगोंको भ्रान्ति हुई कि मिथ्या माने है ही नहीं, परन्तु जो है ही नहीं उसके लिये मिथ्या शब्द नहीं है। 'असत्' शब्द है। आकाश पुष्प असत् है। उसे मिथ्या नहीं कहते। मिथ्या उसे कहते हैं—जो है

भी और नहीं भी। देखने आदिके लिये है। परमार्थतः नहीं, उसे मिथ्या कहते हैं। उसके भी दो विभाग हैं। एक प्रातिभासिक और दूसरा व्यावहारिक। रज्जुसर्पादि प्रातिभासिक है। मृद्घटादि व्यवहारिक है। रज्जुसर्पादि देखने भरके लिये है। शुक्ति रजत देखने मात्रके लिये है। शुक्ति रजतसे कटोरी, गिलास, थाली आदि नहीं बन सकते। किन्तु बाजारमें रजत है, वह व्यावहारिक है। देखा भी जाता है, व्यवहार भी किया जाता है। परमार्थतः इनकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है।

जिसकी दृष्टि तीव्र होती है, उसे मिथ्या वस्तु नहीं दीखती। जैसे पहाड़ पर चढ़ने पर नजदीक पहुंचने पर बादलमें रथ हाथी आदि आकार नहीं दीखते। माईस्क्रोप-कांच लगाकर देखने पर घटादि कोई ठोस वस्तु नहीं दीखती। इसी प्रकार ब्रह्मविचारसे ज्ञान दृष्टि तीव्र हो जाती है तो ब्रह्ममें जगत भी नहीं दीखेगा। बादलके ज्यों-ज्यों नजदीक जावो त्यों-त्यों आकार गायब होते जायेंगे। एकदम नजदीक हो तो कोई आकार नहीं दीखेगा। दूर-दूर हो तो आकार दीखेगा। इसी प्रकार ब्रह्मसे दूर-दूर हो तो प्रपञ्च दीखेगा। ज्यों-ज्यों नजदीक पहुंचेंगे त्यों-त्यों प्रपञ्च धीरे-धीरे गायब होता जायेगा और बिल्कुल नजदीक पहुंचने पर जगत गायब हो जायेगा। ब्रह्मसे दूर-दूर रहनेका अर्थ है—ब्रह्म विमुखता, ब्रह्म चिन्तनका अभाव। ब्रह्मके नजदीक पहुंचनेका अर्थ है श्रवण मनन निदिध्यासन करना। ब्रह्मके अत्यन्त समीप पहुंचनेका अर्थ है ब्रह्मदर्शन करना। समाधिकालमें ब्रह्म दर्शन होता है, पूरी तरहसे तो तब प्रपञ्चका दर्शन नहीं होता श्रवण मननादिकालमें जगत दीखता है, किन्तु बाधितरूपसे—असत्य रूपसे।

परन्तु तत्त्वाऽग्रहण और अन्यथा ग्रहण रूपी निशासे ब्रह्म घिरा हुआ है। उसके समीपमें पहुचना अत्यन्त कठिन है। आगे भगवान स्वयमेव बतायेंगे —

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'

अज्ञानसे ज्ञान आवृत्त हो गया है। इसीसे प्राणी मोहित हो रहे हैं। 'अज्ञानेन' से अज्ञानको बताया। 'आवृत्तं' से आवरण बनाया। 'मुह्यन्ति' से विक्षेप बताया। इन तीनोंके कारण ब्रह्मके नजदीक पहुंचना अत्यन्त कठिन है।

ज्ञानेन त तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

मूल तो अज्ञान ही है। उसीका निवारण करना है। उसका निवारण होने पर आवरण और विक्षेप अपने आप नष्ट हो जायेंगे। अज्ञानका नाशक उसका साक्षात् विरोधी ज्ञान है। ज्ञानसे ही उस अज्ञानका नाश होता है। परन्तु ज्ञान होना यही टेढ़ी खीर है। इसके लिये उलटी चालसे चलना पड़ेगा। अर्थात् प्रथम ज्ञानसे अज्ञानका नाश नहीं, किन्तु अन्यथा ग्रहणको ढीला करना पड़ेगा। यह निरन्तर विचारसे, ब्रह्मचिंतनसे और जगन्मिथ्यात्वानुसंधानसे शिथिल पड़ेगा। निरन्तर न करने पर वही निशा की निशा रह जाती है।

पहले समयमें जंगलोंमें एक प्राणी होता था। वह बड़ा स्वाभिमानी होता था। जैसे शेर स्वाभिमानी होता है। दूसरेका मारा हुआ वह नहीं खाता। स्वयं मारकर खाता है। वैसे वह प्राणी दूसरेके बनाये बिलमें या गुफामें नहीं बैठता। अपने बनाये बिलमें बैठता है। वह दिन भर बिल खोदकर तैयार करनेमें लग जाता है। बिल तैयार करते-करते कभी सायंकाल हो जाता, कभी सायाह्न और कभी रात भी। सायाह्न तक तैयार हुआ तो कुछ देर तक विश्राम कर लेता है। कहीं रात तक गुफा खोदता रह गया तो फिर विश्राम किये बिना ही शिकारके लिये निकल पड़ता है। रात भर शिकार ढूंढ़ते, करते, पेट भरते, इधर-उधर भटकता रहता है। परन्तु रात भरमें वह अपनी बनायी गुफाको भूल जाता है। दूसरे दिन फिर दूसरी गुफा तैयार

करने लगता है। अपनी ही बनायी हुई गुफा भी देख ले, तो भी यही समझता था कि यह दूसरेकी बनायी हुई है। तो स्वाभिमानी वह जानवर उसमें जाकर विश्राम नहीं करता। उसकी जिन्दगी इसी प्रकार गुजरती है। विश्रामके लिये अवसर ही नहीं मिलता। यही हालत इस मनुष्यकी भी है। वह जीवनभर कमाता रहता है विश्राम-के लिये, परन्तु बिश्राम नहीं कर पाता। उससे पहले ही घोर रात्रि-मरण रात्रिमें पड़ जाता है। रात बीत जाती है। दिन आता है। दूसरा जन्म मिलता है तो पूर्व जन्मका कमाया हुआ सब भूल जाता है। फिरसे क ख ग घ, ए० बी० सी० डी० शुरु करता है। फिरसे पढ़ा-लिखा तैयार हुआ, कमाना शुरु किया। किन्तु विश्रामका समय आया तो चल बसा। और तीसरा जन्म मिला तो फिर वही क ख ग घ, ए० बी० सी० डी० सीखने लगा। वही "पुनर्मूषको भव" के अनुसार संसार चक्रमें ही पड़ा रहता है। पूर्व जन्मके गृहादिको देखने पर भी यह विस्मरणशील पुरुष उसे दूसरोंका ही समझता है। ब्रह्मविद्या भी सीखने लगा तो यही हालत। सत्सङ्गमें ब्रह्मकी बात सुनी। यह तो दिन समझ लो। परन्तु इसके बाद रात शुरू होगी। व्यवहार प्रपञ्चमें जहां पड़े वहां ब्रह्मको पूरी तरहसे भुला देते हैं। कथा प्रवचनादि तो जहां सुना वहीं गुरुको ही निवेदन करके चलते हैं।

एक महात्मा अधिक पढ़े लिखे नहीं थे। प्रवचन करते थे। बीस-पचीस प्रवचनोंको बढ़िया रट रखा था। मैंने पूछा—आप इन्हीं प्रवचनोंकी पुनरावृत्ति करते हैं तो लोग उकताते नहीं ? महात्माजीने कहा —मैं जो प्रवचन करता हूं, उसको यदि लोग याद रखे तो अवश्य उकता जाते। आज जो बात बतायी, उसे कल पूछो तो उनको थोड़ा-थोड़ा आभास याद रहेगा। परसों तक तो लगभग मिट जाता है। चौथे दिन सफाचट है। फिर भी पांचवे दिन प्रथम दिनका भाषण नहीं बोलता हूं। पन्द्रह दिन बीस दिनके बाद बोलता हूं तबतक तो श्रोताओंको मानो कल्प बीतने पर जितनी विस्मृति होती है, उतनी

विस्मृति हो जाती है। परीक्षा करना हो तो करके देख लो, पूछकर देख लो। मैंने कहा--सब तो ऐसे नहीं होंगे। महात्माजीने कहा--एकाध महा बुद्धिमान निकल आये तो वह नहीं भी आया तो क्या हर्जा? दूसरे तो आयेंगे। गीतामें भगवानने ही कहा है—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः

हज़ारोमें एकाध जाननेवाला होता है। वह एकाध न भी आया तो नौसौनिन्यान्वे तो आयेंगे ही। पंजाबमें एक प्रसिद्ध संत स्वामी हरिगिरिजी महाराज हुए। मैंने उनसे पूछा आपके पास दो तीन सालका वेदान्तका कोर्स होगा। वे बोलने लगे—मेरे पास बीस-पच्चीस दिनका कोर्स है। यद्यपि बात सही है, यदि बीस पचीस दिनका कोर्स भी अगर गलेके नीचे उतर जाय तो बहुत बड़ी बात है। बीस पचीस दिन तो बहुत बड़ा समय है। केवल एक सैकेण्डका—"तत्वमसि" ही उतर जाय तो भी बहुत है। परंतु उसीको उतारनेके लिये बीस-पचीस दिन क्या, बीस-पचीस जन्म भी लेने पड़ सकते हैं। कारण मनुष्य विस्मरणशील है। क्षणभरके लिये ब्रह्मभाव मनमें आया तो दूसरे क्षणमें ही उसे वह भूल जाता है और जीवभावमें उतर आता है। जीवन भरमें यदि प्रतिदिनके हिसाबसे सौ पग बढ़ते हैं तो साढ़ निन्यान्वे पग पीछे हट जाते हैं। जैसे महीनेमें हजार रुपया तनखा है, किन्तु खर्चा भी नौसौनिन्यान्वे हो तो सालाना आवक तो बाहर हजारकी मानी जायेगी। किन्तु जमा बारह ही रुपया होगा। इस प्रकार प्रारभ नष्ट न होनेपर भीं सिद्धि सहस्त्रों जन्मोंमें जाकर होगी। इसलिये ब्रह्म विचार या ब्रह्माभ्यास निरन्तर चालू रहना चाहिये। श्रुति कहती है कि इस ब्रह्मको जाननेके लिये ही सबसे अधिक सूक्ष्म बुद्धि चाहिये।

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"

लोगोंकी धारणा बनी है कि जिसकी बुद्धि व्यापार धंधा नौकरी आदिमें असमर्थ होती है वह सत्संगमें बैठे। कोई बड़ा वकील, सोलीसीटर आदि सत्संगमें आवे तो लोग आश्चर्य से देखते हैं—आप यहां कैसे। परंतु श्रुति कह रही है कि संमारका काम तो स्थूल बुद्धिसे भी चल सकता है। ब्रह्म तो "दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया" ब्रह्मको जाननेके लिये एक तो एकाग्र बुद्धि चाहिये। वह बुद्धि भी 'सूक्ष्मया'-सूक्ष्म हो। बुद्धि सूक्ष्म होने पर भी बराबर ध्यानसे विचार न करें तो ब्रह्म दर्शन नहीं हो सकेगा। अतः विशेषण है—'सूक्ष्मदर्शिभिः'। निरन्तर सूक्ष्म दर्शन-सूक्ष्म विचार करनेका स्वभाव जिनका हो, उनको सूक्ष्मदर्शी कहते हैं। इन सब विशेषणोंके देनेमें क्या कारण है? यही कि वह आत्मा गूढ है। "गुहृसपरेण" वह आत्मा संवृत है अर्थात् चारों तरफ़से आवृत्त है। अत एव 'न प्रकाशते' प्रकाशित नहीं होता। यही निशाका अभिप्राय है। अज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण वह प्रकाशित नहीं होता। अतः निशाके समान है। जैसे रातको अंधेरेमें वस्तु प्रकाशित नहीं होती। अत एव निशा शब्दका दोनों प्रकारसे आवरण अर्थ सिद्ध होता है। रातको वस्तु अन्धकारावत होती है। वैसे ब्रह्म अज्ञानावृत होनेसे प्रकाशित नहीं होना। जैसे रातको स्वप्न या निद्रा होनेसे अग्रहण तथा अन्यथा ग्रहण होता है वैसे ब्रह्मका भी आवरणके कारण अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण हो रहा है।

निशा शब्दके दो अर्थ बताये। एक प्रवृत्ति-निवृत्ति—प्रयत्नाभाव तथा दूसरा अज्ञानावरण विक्षेपाभिभूत। जैसे रात्रिमें प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होती वैसे लोग ब्रह्मके विषयमें प्रवृत्ति-निवृत्ति शून्य हैं और जैसे निशामें अन्धकारावरण तथा स्वप्न सुषुप्ति होती है, वैसे ब्रह्ममें भी अज्ञानावरण एवं अग्रहण अन्यथाग्रहण होना है। संत लोग एक तृतीय अर्थ भी बताते हैं। निशा शब्दसे ही हिन्दीमें

अपभ्रंश नशा हुआ। यही मोह निद्रा है। मोहरूपी नशा है। भर्तृहरि महाराज कहते हैं—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

प्रतिदिन प्रातःकाल होता है, स्नान करते हैं, नाश्ता करते हैं, दोपहर भोजन करते हैं, व्यापार धंधा नौकरी आदि करते हैं। सायंकाल हो गया, घर वापिस आये, रातको आया और सोये। इसी प्रकार दिन रात बीत रही है। मास संवत्सर बीत रहे हैं। कहते हैं वही बसंत ऋतु फिर आयी, वही श्रावण फिर आया। वही परसालकी जन्माष्टमी फिर आयी। परंतु किसीको वह मालूम नहीं पड़ता कि पीछेसे आयु कटती जा रही है। वही बसंत ऋतु नहीं, वह तो कालके गालमें गयी, यह दूसरी बसन्त है। दूसरी जन्माष्टमी है। यहां वृद्धि नहीं है। जीवन क्षणोंका निरन्तर क्षय होता जा रहा है। इसकी उपमा फूटे घड़ेसे दी गयी है—

"आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भः"

जैसे घड़ा अंदरसे फूटा है। बाहरसे तो बराबर देखनेमें आ रहा। उसमें पानी भर रखा तो दिनभरमें पूरा पानी खलास हो जाता है। वैसे आयु भी क्षण-क्षण घटती जा रही है। किसीका आधा घड़ा पानी रह गया, किसीका पाव घड़ा। किसीमें तो अब पाव भर ही पानी रह गया है। किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि बचपनमें और जवानीमें जैसे हम अपना अन्त नहीं देखते थे, अनन्त स्वरूप ही लग रहा था, वैसे आज भी है। आज भी उतनी ही दूर मृत्यु दीखती है, जितनी दूर बचपनमें लग रही थी। या बोलो कि किसी को अपनी मृत्यु दीखती ही नहीं है। दूसरा मर गया, हाय मेरा भी

मरण आ रहा है। यह किसीको ख्याल नहीं है। दूसरा मर गया, लेकिन मैं तो हूं ही। ऐसे कितने मेरे सामने मर गये ? क्या होता है उससे ? 'दृष्ट्वा जन्म जरा विपत्ति मरणं"—दूसरे बच्चे जनमते हैं बड़े हो रहे हैं, दूसरे बूढ़े हो रहे हैं, मर भी रहे हैं। यह सब देखकर भी "त्रासश्च नोत्पद्यते" अपने मनमें कोई त्रास नहीं हो रहा। क्यों ? "पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिराम्" वह मदिरा पी रखी है, जो सबको भुला देवे। सबको ओझल कर दे। वह कौन-सी मदिरा है ?—"मोहमयीं"। वह मोह रूपिणी है।

मोह क्या है ? मोहकी अनेक व्याख्या है। धनदार पुत्र-पौत्र बन्धु मोह, शरीर मोह, इन्द्रिय मोह, मनोबुद्ध्यादि मोह ये सभी मोह हैं। इसी अध्यायके आरंभिक भगवदुपदेश श्लोक—'अशोच्चानन्वशोचः' के अवतरणमें भाष्यकार भगवान शंकराचार्यने मोहका एक स्वरूप लिखा है—"अहमेतेषां ममैते"। अहंकार तथा ममकार मोह है। अहंकार दो प्रकार का होता है। एक गर्वरूपी अहंकार और दूसरा मूलाभ्यास रूपी अहकार होता है। गर्व है अनात्म भ्यासके साथ अनात्मगुणोंका अध्यासकर अपनेको गुणी वा श्रेष्ठ समझना। शरीर सुन्दर है। शरीराध्यास आत्मामे किया फिर सुन्दरताका अध्यासकर अपनेको श्रेष्ठ माना यह अहंकार है। इसी प्रकार धनदि अध्यास पूर्वक मैं धनी हूं, अतः श्रेष्ठ हूं, ऐसा समझना गर्वरूपी अहकार है। मोह रूपी अहंकार इससे थोड़ा पृथक है। "अहमेतेषां" यह अहकार है। मैं इन बच्चोंका पालनकर्त्ता पिता हूं। मैं पत्नीका सुख सुविधा प्रदाता पति हूं। मैं अमुक सेठका पुत्र हूं इत्यादि सभी मूलाध्यास है। अर्जुनने समझा भीष्मपितामहादिकः मैं प्रपौत्र रूप हूं। किसीका नाती, किसीका साला हू। यह सब अर्जुनका अहकारात्मक मोह था। इसके विपरीत ममकारात्मक मोह है। इनका मैं हू यह अहंकार है। ये मेरे हैं, यह ममकार है। मेरे पिता पितामह पुत्र-पौत्र गुरु शिष्य ये सभी ममकारात्मक मोह हैं। ये दो ही मोह हैं।

मोहका इतना ही स्वरूप नहीं है। इससे कुछ आगे भी है। ब्रह्मसूत्र भाष्यमें अध्यासकी व्याख्या करते हुए आचार्य भगवत्पादनें कहा है

"पुत्रादिषु विकलेषु सकलेष चाहमेव विकलः सकलः"

काशीमें एक वृद्ध संन्यासी बने। गृहस्थाश्रमके बाद वे सन्यासी हुए थे। गृहमें उनके पुत्र-पौत्र नाती आदि सब थे। पहले वे जमींदार रहे। यह भारत स्वतंत्र होनेसे पूर्वकी बात है। इसके बाद ही भारत स्वतंत्र हुआ। जिसमें प्रथम जमींदार उन्मूलन हुआ। जमीनें सरकारने ले ली सुनकर वे वद्ध संत घबराये। चिंतामें पड गये। चिंताके मारे रातभर सोये नहीं। क्योंकि चिन्ता नींदकी सौत है। वह आयी तो नींद भाग जाती है। रोने लगे। हम लोगोंने पूछा, महाराज आप इतना क्यों घबराते हैं? क्यों रोते हैं? संत बोलने लगे—अरे, हमारी सारी जमीन सरकारने छीन ली। हम लोग तब मजाकमें बोले महाराज, इस आश्रममें आपके कमरेकी जमीन किसीने छीनी नहीं, यहीं पर पड़ी है। संत बोले—अरे यह जमीन नहीं, "हमार गांवमें जोन जमीन रहल उ छीन लैल।" हम लोगोंने कहा–आप संन्यासी हो गये अब आपकी जमीन गांवमें कहां रही? वे बोले—"हमार लड़कनकी जमीन"। यह सुनकर सबको भाष्य-का अर्थ खूब समझमें आया। विद्यार्थी आपसमें शका करने थे कि पुत्र "विकल" बिमार होनेपर पिता थोड़े ही अपनेको "विकल" बिमार समझता है। लेकिन यहां प्रत्यक्ष हो गया कि लड़कोंकी जमीन छीनी तो बूढ़ा महात्मा बोलने लगा, हमारी जमीन छिन गयी। यही पुत्रादि तादात्म्याध्यास है। इसी प्रकार पुत्रादि "सकल" समृद्ध होने पर अपनेको समृद्ध मानते हैं। लड़का लखपति हुआ। भले वह मां बापकी सेवा न करें। फिर भी मां बाप यही समझते हैं कि हम लखपति हैं। खर्चके लिये भले सौ रुपये भी न मिले। कारण, पुत्र तादात्म्याध्यास ही। यही मोह है। इसी प्रकार धन

तादात्म्याध्यास भी होता है। धन नष्ट हो गया तो लोग कहते हैं मैं "ही उजड़ गया"। यह सब तादात्म्याध्यास है। स्त्री पर मोह, पुत्र पर मोह, यह भी एक प्रकारका तादात्म्याध्यास ही है। इस तादात्म्याध्यासके साथ—"**अहमेतेषां ममैते**" ऐसा संसर्गाध्यास होता है। यह भी मोह ही है।

धनदारपुत्रादिसे गहन मोह शरीरका है। धन दारादिके साथ तादात्म्याध्यास ऊपर दिखाया। उससे गहरा तादात्म्य शरीरके साथ है। धनदारादिमें तो पृथकत्व ज्ञान कालीन तादात्म्याध्यास है। ये पृथक हैं, ऐसा भी देख रहे हैं, तादात्म्य भी कर रहे हैं। किन्तु शरीरादिमें पृथक्त्वज्ञान नहीं होता। होता भी है तो नहींके बराबर। यह शरीर मैं नहीं हूं ऐसा पृथकत्व ज्ञान नहीं होता। शरीर ही मैं, मैं ही शरीर इस प्रकार दृढ़ तादात्म्याध्यास रहता है। इससे भी अधिक गहरा तादात्म्याध्यास इन्द्रियोंके साथ है। क्योंकि शरीर जड़रूप है। अतएव कभी-कभी शरीरसे अपनेको पृथक देखते हैं। मेरा शरीर इस प्रकार सम्बन्ध प्रयोग भी करते हैं। किन्तु मैं देख रहा हूं, सुन रहा हूं इत्यादि इन्द्रिय प्रतीतिमें शरीरसे भी अधिक तादात्म्य इन्द्रियोंके साथ है। यह शरीर छोड़कर मुझे जाना पड़ेगा। इतना बोध लोगोंको रहता है। मैं देखनेवाला सुननेवाला नहीं रह जाऊंगा ऐसा नहीं होता। मैं स्वयं चेतन हूं। इन्द्रियां भी ज्ञान प्रयोजन होनेसे चेतन रूपेण दीखती हैं। इन्द्रियोंके साथ और भी गहरा मोह रहता है। आत्मा चेतन है और आत्माकी चेतनाको स्फुरित करनेवाली परम सहकारी इन्द्रियां है। इसलिये इन्द्रियोंके साथ विशेष तादात्म्य होना स्वभाविक है। जैसे दीवटको ही दीपक कह देते हैं। जब कि दीपक तो अंधकार नाशक ज्वालाको कहते हैं। इन्द्रियोंसे भी आगे अन्तःकरण है। इन्द्रियोंमें मेरा देखनेवाला मेरा सुननेवाला, ऐसा नहीं होता फिर भी मेरी आंख मेरा कान ऐसा होता है। प्रत्यक्ष भेदका भी अनुभव होता है। अन्तःकरणमें तो इससे भी

बढ़कर तादात्म्य है। क्योंकि वहां बाह्य वस्तुके साथ अन्त:करणका तादात्म्य नहीं है। जैसे आंखका तादात्म्य अक्षिगोलकमे है, वैसे अन्त-करणका तादात्म्य अन्य किसीसे नहीं। केवल आत्मासे है। अन्त:-करण ज्ञानाभिव्यक्तिमें मुख्य हेतु भी है। इसीलिये अन्त:करण वृत्तिको ही लोग ज्ञान समझते हैं। 'मैं चेतन हूं' ऐसा अनुभव सबको होता है। वह चैतन्य कदाचित् रहता हो और कदाचित् नहीं रहता हो ऐसी बात नहीं है। बल्कि बेहोशी अवस्थामें भी अन्दर चैतन्य रहता है। अन्यथा आदमी मर ही जाता। बेहोशीसे होशमें आते हैं तो चेतना कहीं बाहरसे नहीं आती। अन्दरकी ही चेतना बाहर आती है। वस्तुओंके देखनेपर अन्त:करणकी वस्तु आकारमें वृत्तियां होती हैं तो वही चेतना वृत्तियोंमें मिल जाती है। यही वस्तुओंका ज्ञान है। अन्त:करणकी वृत्तियां उत्पन्न होती नष्ट होती रहती हैं। किन्तु वह चेतना उत्पन्न और नष्ट नहीं होती। चेतना वृत्तियोंको केवल चेतित करती है और असली ज्ञान तो वही चेतना है। फिर भी वृत्तियोंके साथ ऐसा तादात्म्य हो गया है कि ज्ञान उत्पन्न हुआ, ज्ञान नष्ट हुआ, ऐसा कहने लगते हैं। इन्द्रियोंके नष्ट होनेसे ज्ञानरूपी आत्मा नष्ट हुआ, ऐसा नहीं कहते। किन्तु अन्त:करण वृत्तिके नाशसे ज्ञान नष्ट हो गया, ऐसा कहते हैं। यह कितना भारी मोह है। क्योंकि ज्ञाननाश तो असलमें आत्मनाश है। ज्ञान ही चेतना है। वह नष्ट नहीं हो सकता।

यही मोह निद्रा निशापदका अर्थ है। इस मोह निद्राके कारण आत्मा दीखता हुआ भी नहीं दीखता। शरीर तादात्म्य होनेके कारण शरीर रूपसे दीखता है। इन्द्रिय तादात्म्य होनेसे इन्द्रिय रूपसे दीखता है। अन्त:करण तादात्म्य होनेसे अन्त करण रूपसे दीखता है। जैसे सर्पतादात्म्याध्यास होनेसे रस्सी सर्परूपेण दीखती है। जपाकुसुमके अरुण वर्णके तादात्म्यमे स्फटिक मणि अरुणवर्ण रूपसे दीखती है। असली रूप ढंक जाता है। मोह जितना गहन होता है,

उतना ही स्वरूप अधिक आच्छादित होता है। शरीरादि मोहसे आत्माका स्वरूप ढक गया।

सर्वभूतानाम्। भूत शब्दका अर्थ है—भवन्तीति भूतानि। जो केवल जनमते हैं, वे भूत कहलाते हैं। केवल पैदा हो गये और कोई अध्यात्मिक कार्य नहीं किया तो वह भूत कहलाना है। "केवल" शब्द जोड़कर व्याख्याकी जाती है। श्रुतिमें अध्यात्म चिन्तन शून्य पुरुषको तृतीय स्थान रूपी गति बतायी है—

"जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्"

जन्मना और मरना यही साधारण प्राणियोंकी गति है। यही तृतीय स्थानीय प्राणी यहां भूत शब्दका अर्थ है। न कि सभी जन्म-वाले। क्योंकि इसी वाक्यके आगे 'तस्यां जागर्त्ति संयमी' बताया है। संयमी भी तो आखिर उत्पन्न हुआ है। अतः संयम रहित ही यहां भूत शब्दार्थ है। पशु, पक्षी आदिके लिये आत्मज्ञान संभव ही नहीं है। अतएव उनके लिये निशाकी उपमा देकर आक्षेप निरर्थक है। अतएव भूत शब्दका ग्रह्यार्थ मनुष्य ही है। तब 'सर्वमर्त्त्यानां' न कहकर मर्त्त्योंको भूत शब्दसे भगवान जो कह रहे हैं वह उनके जीवनकी शोचनीय अवस्था बतानेके लिये हीं है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपमुखान् खगदशमत्स्यान्
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणां मुदमाप देवः

ऐसा श्रीमद्भागवतमें कहा है। परमेश्वरने विध पुरोंको बनाया। कौन-कौन पुर ? वृक्षान्—स्थावर पुर एक बनाया। वृक्षलता पर्व-दाति सभी स्थावर हैं। फिर दूसरा जंगम बनाया। जिसमें स्थलचर, नभचर एवं जलचर आते हैं। पशु मृग सरीसृप (सांप) वृश्चिकादि स्थलचर है। खग-काकगृध्रादि एव मच्छर आदि नभचर है। मछली

आदि जलचर है। वृक्षसे समस्त उद्भिज्ज लिये जाते हैं। दंशसे स्वेदज सभी समझना चाहिये, सर्प, पक्षी मत्स्यादि अण्डज है। जरायुजोंके अंदर पुरुष है। जैसा भी विभाग करो—स्थावर, स्थल-चर, जलचर नभचर ऐसा विभाग करो, या जरायुज अण्डज, स्वेदज उद्भिज्ज ऐसा विभाग करो। सबसे श्रेष्ठ है "पुरुष" अर्थात् मनुष्य।

इन सबको कैसे बनाया ? अजया आत्मशक्त्या। ये सभी शरीर पंचभूत निर्मित हैं। पंचभूत परमाणु निर्मित है। परमाणु तन्मात्रा निर्मित है। तन्मात्रा शक्तिरूप ही हैं। अतीन्द्रिय हैं। किन्तु शक्तिमें कुछ स्थूलता आ जाती है तब वह तन्मात्रारूप होती है। उसका भी मूल आत्मशक्ति है। आत्मशक्तिका परिस्पन्दन होता है तो वही तन्मात्रा रूपमें हो जाती है। उन्हींके परिस्पन्दनसे फिर परमाणु एवं घटादि दीखने लगते हैं। वह शक्ति अजा है, नित्य है, प्रकृति है। परमात्मासे अभिन्न है।

अपनी शक्तिसे परमात्माने वृक्ष सरीसृपादि पुरोंको बनाया। किन्तु इन सबसे प्रसन्नता नहीं हुई। अतः अन्तमें मनुष्य शरीर बनाया। इसको बनाने पर "मुदम् आप" प्रसन्नता प्राप्त हो गयी। क्यों प्रसन्नता हुई ? क्या ओर सब "चतुष्पात्"—चार पादके हैं और मनुष्य द्विपात्—दो पांवके हैं इस लिये ? क्या ये मनुष्य लाखों, करोड़ों रुपये कमायेंगे इसलिये ? क्या ये बड़ी-बड़ी बिल्डिगें बनायेगें इसलिये ? परमेश्वरकी प्रसन्नता किस बातको लेकर ? इन सबको लेकर नहीं। किन्तु इस शरीरमें जीवनकी सफलता है, इसलिये। क्या वह सफलता ? "ब्रह्मावलोकधिषणम्" उस ब्रह्मका अवलोकन करने योग्य धिषणा केवल मनुष्य शरीरमें ही है। यही सृष्टिके उत्कर्षकी पराकाष्ठा है। ब्रह्मावलोकका अर्थ है ब्रह्माकार वृत्ति अखंडाकार वृत्ति। पशु-पक्षी आदिकी दृष्टि हमेशा सखण्ड ही होती है, अखण्ड नहीं।

दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य पलायितुमारभन्ते
हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति

ऐसा ब्रह्मसूत्र भाष्यमें लौकिक उदाहरण दिया है। हाथमें डंडा लेकर आते पुरुषको देखकर पशु भागते हैं क्योंकि मारका भय हुआ। भयसे द्वेष हुआ। द्वेषसे आगेकी ओर बढनेकी प्रवृत्तिसे निवृत्ति हुई। हरी घास हाथमें लेकर आते पुरुषको देखकर प्रीति हुई। प्रीतिसे राग हुआ। रागसे प्रवृत्ति हुई। प्रवृति और निवृत्तिकी प्रयोजिका परिच्छिन्न बुद्धि है। सखण्ड बुद्धि है। अखंडाकार बुद्धि प्रवृत्ति या निवृत्तिका कारण नहीं है। उससे स्वरूपावस्थान होता है। प्रवृत्तिमें एक खण्डकी ओर बढ़ना होता है। निवृत्तिमें एक खण्डसे दूसरे खण्डकी ओर हटना होता है। बढ़ना और हटना दोनों ही अखण्डमें नहीं होता। अखण्डमें तो अपने आप स्थिति होती है, यही स्वरूपा-वस्थान है। यह अखण्ड बुद्धि केवल मनुष्यको ही होती है। पशु-पक्षी आदि किसीको नहीं। यदि मनुष्य शरीर पाकर फिर भी अखण्ड बुद्धि प्राप्त न हुई तो उसे केवल "भूत" ही कहा जायेगा। उसे पुरुष या मनुष्य कहना उचित नहीं माना जायेगा। "पुरुषंविधाय—मुदमाप" पुरुषको बनाकर देव प्रसन्न हुए। क्यों? ब्रह्मवलोकधिषणं। अखंडा-कार बुद्धिरूपी ब्रह्मदर्शन करनेवाली बुद्धि उसकी है। अर्थात् जिसने ब्रह्म दर्शन नहीं पाया और न प्रयत्न किया, वह पुरुष ही नहीं हो सकता। अन्यथा उस अज्ञानी पुरुषकी सृष्टिसे देव क्यों प्रसन्न होते? अतएव ब्रह्मालोकधिषणं ही पुरुष है। अन्य तो भूतमात्र है।

तस्यां जागर्ति संयमी। समस्त भूत जिसमें सोये हैं, उस ब्रह्ममें संयमी पुरुष जागृत रहता है। लोग सभी "अशनं मे वसनं मे" में ही लगे हुए हैं। श्रीमद्भागवतमें बताया है—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः
दिवाचार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा

जीवन दिन और रातमें विभक्त है। रात सोनेमें बीत जाती है। या फिर स्त्री पुरुषोंके ग्राम्य धर्ममें बीत जाती है। दिन उगने पर अर्थोपार्जन चिन्ता शुरू हुई। जैसे चिड़िया चुगनेके लिये दिनभर घूमती रहती है, वैसे दिनभर कमानेमें लगे रहे, खाने-पीनेमें लगे रहे। अधिकसे-अधिक, कुटुम्ब पालन करते रहे। इसी प्रकार करते-करते मनुष्यका वह असहाय अन्तिम क्षण भी आ जाता है। जब सब कुछ छोड़कर विदा होता है। किसको फुर्सत है कि शास्त्र चर्चा सुने। किसको जरूरत है कि यह जान ले—ब्रह्म क्या है? परमेश्वर क्या है? आत्मा क्या? परमात्मा क्या? धर्म क्या? कर्म क्या? इस प्रकार परमार्थ तत्त्वके बारेमें सभी घोर अंधकारमय रात्रिमें पड़े हैं, सो रहे हैं, खर्राटा मार रहे हैं। यहां कौन जागृत रहता है? इसका उत्तर है—"तस्यां जागर्ति संयमी"। संयमी पुरुष यहां जगा रहता है। उसने अंधेरेको प्रकाशसे चीर दिया है। वही परमार्थ तत्त्वको देख रहा है। समझ रहा है। वही अपने जीवनको सार्थक कर रहा है। उसका "वयः न ह्रियते" जीवन हरण नहीं होता।

संयमी कौन? दो प्रकारके संयमी होते हैं। एक ध्यानयोगी और दूसरा ज्ञानयोगी संयमी है। ध्यानयोगी संयमीका ही वर्णन पहले आया—"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः" असंयम तथा संयम इन्द्रिय एवं मन पर आधारित है। जहां इन्द्रियां प्रबल होती हैं, वहां मन इन्द्रियोंके अधीन होकर विषय दर्शी होने लगता है। यही असंयम है और जब मन इन्द्रियाधीन न होकर बुद्धियुक्त होता है वहां विपरीत रूपसे इन्द्रियां मनके अधीन हो जाती हैं तो इन्द्रियां भी आत्मदर्शी होने लगती हैं, यही संयम है।

मन इन्द्रियाधीन होकर विषय दर्शी होता है, इसका क्या अभिप्राय है? मन बाह्य विषयोंसे परतंत्र होता है। न्यायशास्त्रमें मनके बारेमें कहा है—

"परतन्त्रं बहिर्मनः"

बाह्य विषयोंमें मन स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र होता है। अर्थात् इन्द्रियोंके पराधीन होता है। इन्द्रियोंके बिना स्वतन्त्ररूपसे मन बाहर नहीं जा सकता। जहां इन्द्रियां पहुंचती हैं, वहीं मन भी पहुंचता है। चक्षु घट तक पहुंचा तो वहां तक मन भी पहुंचा। श्रोत्र शब्द तक पहुंचा तो वहीं तक मन पहुंचता है। जहां श्रोत्रचक्षु आदि नहीं पहुंचते वहां मन भी नहीं पहुंचता। शंका होगी कि—"मैं यहां बैठा था, मेरा मन कलकत्ता चला गया, दिल्ली पहुंच गया" इत्यादि कैसे? चक्षु आदि इन्द्रियां तो दिल्ली कलकत्ता नहीं पहुंचती। उसके बिना भी मन पहुंच गया। इसका समाधान यह है कि सचमुचमें मन दिल्ली, कलकत्ता नहीं पहुंचता। यदि मन इन्द्रियोंके बिना भी दिल्ली कलकत्ता पहुंच जाय तो रास्तेमें जितने स्टेशन रतलाम, नागपुर आदि आते हैं, उनको क्यों नहीं देख लेता है? और दिल्ली, कलकत्तामें पहुंचने पर वहां जितनी नयी इमारतें बनी होंगी उनको क्यों नहीं देख लेता? वहां कोई नुमाईश-प्रदर्शनी हो रही हो तो यहीं बैठे-बैठे मनको भेजकर क्यों नहीं देख लें? टिकट लेकर गाड़ीमें आदमीको वहां तक जानेकी क्या जरूरत थी। वस्तुतः मन पहले देखे हुएका स्मरण मात्र करता है। इतने मात्रसे मन वहां चला गया इत्यादि कहते हैं। न कि सचमुच मन दिल्ली कलकत्ता चला जाता है। इन्द्रियोंके माध्यमके बिना बाह्य वस्तुओंको मन ग्रहण नहीं कर सकता। अतएव शास्त्रोंमें इन्द्रियोंको द्वार बताया। वे द्वार कारण है। इन्द्रियां विषय ग्रहण करती हैं तो मन भी विषय ग्रहण करने लगता है। वह विषयमय हो जाता है। इन्द्रियां जितनी अधिक प्रबल होंगी उतने अधिक मन विषयमय हो जाता है। इन्द्रियोंकी प्रबलता राग-द्वेषवशात् होती है। अतएव मनको विषयमय होनेसे बचानेके लिये इन्द्रियोंको राग-द्वेष रहित बनाना आवश्यक है। इसी कारण पहले बताया गया था—"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषया-

निन्द्रियैः" । राग-द्वेष सहित इन्द्रियोंके बीचमें आनेसे मन बहिर्मुख होता है । यही असंयम है ।

इसके विपरीत इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर जाने न देकर अंदरकी ओर मोड़ दे तो संयम होता है । अर्थात् उस समय मन बुद्धि युक्त होता है और आत्माका ग्रहण करने लगता है तो इन्द्रियां भी आत्मा-का ग्रहण करने लगती हैं । जैसे मन सपनेमें शब्द स्पर्शादिका अनु-संधान करने लगता है तो ऐसा लगेगा कि श्रोत्रादि इन्द्रियां शब्दादि-का ग्रहण करती हैं । सपनेमें देखो, ऐसा लगता है कि नहीं, कि मैं कानोंसे सुन रहा हूं, आंखोंसे देख रहा हूं इत्यादि । जब कि वहां केवल मन ही काम करता है । यही इन्द्रियोंकी चित्तस्वरूपानुकारिता है । इसी प्रकार जब मन बुद्धि युक्त होकर आत्माका ग्रहण करने लगता है तो इन्द्रियां भी मानो आत्माका ग्रहण करने लगती हैं । यही श्रुतिमें बताया गया—

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुः"

कोई धीर चक्षुको लौटाकर प्रत्यक् आत्माको देखता है । "धीरः" का अर्थ है—धी वाला धी माने बुद्धि । उससे युक्त ही धीर कहलाता है । इसी धीरको "बुद्धियुक्तो जहातीह" में बुद्धियुक्त कहा । जन्म सिद्ध मेधायुक्त यहां अर्थ नहीं । किन्तु प्रयत्नसे प्राप्त आत्मदृष्टियुक्त अर्थ है । इसलिये 'धीरः' कहा । "धियमीरयतीति धीरः" ऐसी भी उसकी व्युत्पत्ति है । अर्थात् जो बुद्धिको प्रेरित करता है, वह धीर है । उस प्रयत्नका परिणाम है—'आवृत्तचक्षुः' । इन्द्रियोंका विषयोंसे निवर्त्तन । वह कौनसा प्रयत्न है ? तो योगशास्त्रकार कहते हैं—प्राणायाम पूर्वक प्रत्याहार करो ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्

जैसे तपाने पर धातुओंके (सोना, तांबा आदि धातुओंके) मल जल जाते हैं वैसे प्राण यामसे इन्द्रियोंके मल जल जाते हैं। इन्द्रियोंके दोष नष्ट होनेपर फिर उन्हीं इन्द्रियोंका प्रत्याहार किया जाता है। प्रत्याहारमें दो अंश है। प्रथम अंश है विषयोंसे इन्द्रियोंका आहरण करना। वापिस बुलाना। शब्दसे श्रोत्रको, स्पर्शसे त्वचाको, रूपसे नेत्रोंको, इत्यादि क्रमसे विषयोंसे इन्द्रियोंको वापिस करना। दूसरा अंश है—प्रत्याहारमें प्रतिशब्दार्थ। विषयोंसे इन्द्रियोंको वापिस बुलाना आहरण है। किधर वापिस बुलाना ? आत्मामें। यही प्रतिका अर्थ है। आत्माके प्रति वापिस बुलाना यही प्रत्याहार है। इन्द्रियोंका लौटना स्वप्न और सुषुप्तिमें भी होता है। उस समय विषयोंके प्रति इन्द्रियोंका गमन नहीं होता। फिर भी वह प्रत्याहार नहीं माना जाता। कारण सपनेमें और सुषुप्तिमें इन्द्रियां निवृत्त अवश्य हुईं। किन्तु आत्माके प्रति निवृत्त नही हुईं। सपनेमें मानस विषय दर्शनकी ओर निवृत्ति हुईं। सुषुप्तिमें अज्ञानकी ओर निवृत्ति हुईं। आत्माकी ओर निवृत्ति हो जाय तभी प्रत्याहार माना जायेगा। तदर्थ बुद्धियुक्त होना आवश्यक है।

इतनेसे भी पूरा नहीं होता। प्रत्याहार भी धारणा, ध्यान, समाधिके लिये किया जाता है। प्रत्याहारकी सभी सार्थकता है। आत्माकी ओर प्रत्याहृत भी तभी बनेगा जब चित्त धारणादित्रयसे सम्पन्न होगा। जहां आत्मदर्शन सरल रूपसे हो उस स्थानमें चित्तको टिकाना धारणा है। फिर वही आत्मानुसधान ध्यान है। वही परिपक्व होकर समाधि रूपको धारण करता है। इसी कारण भगवान पतंजलि ऋषिने इन तीनको ही संयम संज्ञासे पुकारा है।

"त्रयमेकत्र संयमः"

त्रयं—अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि ये एकत्र आत्मा आदिमें स्थिर हो तब उसको संयम कहते हैं। इस श्लोकमें "सयमी"

पदसे आत्म-विषयक धारणा, ध्यान, समाधिमान् अभिप्रेत है। वैसा संयमी ही ब्रह्म प्रकाशमें जागृत रहता है, जो प्राणियोंके लिये रात है।

यह ध्यान-योगी संयमीका वर्णन हुआ। दूसरा ज्ञानयोगी संयमी बताया गया था। इन्द्रिय संयम तो सर्वत्र समान है। उसके प्रकाशमें ही अंतर पड़ता है। पहले जमानेमें बुखार या जुकाम हो जाय तो वैद्य सीधा ही कह देते थे—लंघन करो। 'लङ्घनं परमौषधम्''। लंघन अर्थात् भोजनका त्याग। यही बड़ा औषध है। हमको बचपनका स्मरण है—कभी ज्वर आ जाय तो वैद्य आकर लंघन कराते थे। फिर कभी चुपकेसे इधर-उधरकी चीजें खा लें तो वैद्य आकर डांटते थे और कहते कि हमारी दवा बेकार गयी। यह पहले समयकी बात हुई। वर्त्तमानमें डाक्टरोंने तो उसमे परिवर्त्तन किया ही, वैद्योने भी परिवर्त्तन मान लिया है। दही, खटाई, तली चीजें आदि मत खाओ, हल्की खिचड़ी आदि थोड़ी-थोड़ी खाओ। दोनों संयम है। एक में सर्वथा अन्नवर्जन है। दूसरेमें नियत अन्नविशेष वर्जन है। ध्यान-योगी पुराने वैद्यों के समान हैं। ज्ञानयोगी वर्तमान वैद्योंके समान है। पथ्यापथ्य समझकर अपथ्यको त्यागो।

क्या पथ्य और क्या अपथ्य? विषयोंमें दो अंश हैं। उनमें एक-पथ्य है और दूसरा अपथ्य है। अस्ति भाति प्रिय ये तीन पथ्यांश हैं और नामरूप ये दो अपथ्यांश हैं। कान खुले रखो। शब्द कानमें भले आवे। किन्तु उसमें ब्रह्मांश अस्ति, भाति, प्रियका अनुभव करो और नाम रूपका बाध करो। त्वचाको खुली छोड़ो। स्पर्शको आने दो। उसमें भी पथ्य ब्रह्मांशका ग्रहण करो। अपथ्य मायांशका बाध करो। इसी प्रकार चक्षुको खुली रखकर संयम करो। रूपको आने दो। उसमें ब्रह्मांश को ग्रहण करो. मायांशका बाध करो। वैसे ही और गन्धमें भी समझो। पहले समयमें आपरेशन करनेके लिये क्लोरोफारम सुंघाते थे। आदमीको बेहोश करत थे।

फिर ऑपरेशन करते थे। अब जमाना बदल गया। जहां ऑपरेशन करना है वहां एक इंजेक्शन लगा देते हैं। उतने अंशको सुन्न करते हैं। बेहोश करके पूरे शरीरको सुन्न करनेकी क्या जरूरत ? वैसे ही ध्यान-योग और ज्ञानयोग बात है। ध्यान-योगमें पूरी वस्तुको अदृश्य करते हैं। समाधिमें घटपटादि, अस्ति, भांति, प्रिय, नाम रूप इन पांचोंके साथ अदृश्य हो जाते हैं। परंतु ज्ञानयोगमें पूरी वस्तुको गायब नहीं करते। केवल नाम रूपका बाध करते हैं। आंख, कान आदि सबको खुली रखकर समाधि लगाते हैं। यही शास्त्रोंमें कहा—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः

देहाभिमान नष्ट हो जाता है, परमात्माका विज्ञान हो जाता है तो न इन्द्रियोंको रोकने की जरूरत रहती है और न मनको ही रोकनेकी आवश्यकता होती है, जहां भी मन जाय समाधि लगती रहती है। जहां भी मन जाय वहीं समाधिका मतलब ? यही कि सर्वत्र विषयोंमें मनके पहुंचनेपर भी वहां केवल अस्ति, भाति, प्रियका ही ग्रहण करना और नाम रूपका बाध करना। वेदान्तका कहना है कि पूरा शरीर सुन्न करनेकी क्या जरूरत है, जितना ऑपरेशन करना है वहीं सुन्न करो। जगतको देखनेसे कोई हानि नहीं है। हानि-कारक नाम रूप है। उसीका बाध करो। कटहरका फल पूरा क्यों फेंकते हो ? कांटा फेंको, बाकी रखो।

यह एक प्रश्न होगा कि इन्द्रियां खुली रहेंगी, मन जाता रहेगा तो नामरूप क्यों नहीं दीखेंगे ? आंख घट पर पहुंची तो क्या नाम रूप नहीं दीखेंगे ? जैसे दूध और पानी परस्पर मिले होते हैं वैसे ब्रह्मांश तथा मायांश मिले होते हैं। उनमें नाम रूपको छोड़कर ब्रह्मांश मात्र देखना असभव है। इस प्रश्नका उत्तर प्रथम यह है कि यहां बात सर्ववेद शास्त्र संमत है कि जगतमें ब्रह्म तथा माया दोनोंके

अंश हैं। ब्रह्मका अस्ति, भाति, प्रियांश तथा मायाका नामरूपांश और यह भी सर्वविदित है कि सभी प्राणी, भगवानके शब्दोंमें "सर्व भूत" ब्रह्मांशको नहीं देखता। मायांशको देखता है यह कैसा? आंख खुली तो नामरूपात्मक माया दीखी, ब्रह्म क्यों नहीं दीखा? क्या ऐसा भी कहीं दखनेमे आया है कि दूध और पानीक मिलने पर अकेला दूध पिया नहीं जा सकता है, किन्तु अकेला पानी पिया जा सकता है। अकेला पानी पिया जा सकता है तो अकेला दूध भी पिया जा सकेगा। अतः दूध-पानीका दृष्टात विचारपूर्वक ही करना पड़ेगा। यहां ब्रह्म और माया दोनो मिले हैं।, उनमें कवल मायाका अवलोकन हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि साधनासे कवल ब्रह्म का अवलोकन न हो। नाम रूपात्मक माया मात्रका अवलोकन क्यों हो रहा है? इसालये कि माया आवरणसे अखण्ड अस्ति, भाति, प्रिय आवृत्त हो गया। इसी प्रकार ज्ञान प्रकाशसे नामरूप बाधित करने पर कवल अखण्ड अस्ति, भाति, प्रियका भी अवकोलन होनेमें क्या वाधक? नाम रूप दर्शन कालमें सखण्ड अस्ति भात प्रियका भी दर्शन होता है, पर वह ब्रह्म दर्शन नहीं माना जाता। क्योंकि अखण्ड आस्त भाति प्रिय दर्शन ही ब्रह्म दशंन है। वैसे ही तत्त्वज्ञान कालमें अखण्ड सच्चिदानदावलोकन कालमें बाधित मायांश नाम रूपका अवलोकन भी सभव है। वह वस्तुत. मायावलाकन नहीं है। अवाधित नामरूपावलाकन ही मायावलोकन है, बाधित नामरूपाव-लोकन मायावलोकन नहीं है।

नाम रूप वाध पूर्वक केवल अस्ति भाति प्रियावलोकन किस प्रकार होता है? यही अब विवेचनीय है। इसके लिए वेदान्तमें विचारको ही परम साधन बताया है। विवेक चूड़ामणिमें आचार्यने भी यह बताया है—

"वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभिः"

वस्तुतत्त्वका साक्षात्कार विचारसे ही होता है। कर्मसे नहीं।

सम्यग् विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा
भ्रान्तोदितमहासर्प - भयदुःखविनाशिनी

रज्जुमें सर्प भ्रान्ति हुई तो उसकी निवृत्ति विचार पूर्वकसम्यक् निरीक्षणसे होगी। इसी प्रकार जगतका भी विचारसे बाध होगा। सम्यग् निरीक्षणसे अखण्ड सच्चिदानंद स्वरूपका अवलोकन होगा। परंतु यह विचार तथा स्वरूपका सम्यग् निरीक्षण इन्द्रिय संयम पूर्वक ही होना चाहिये। अन्यथा जल रेखाके समान विचारके साथ-साथ लुप्त भी होता जायेगा। अतः वेदान्तमें संयमीका अर्थ होगा—इन्द्रिय संयमन पूर्वक विचार तथा सम्यक् निरीक्षण करनेवाला। वह पुरुष ब्रह्ममें हमेशा जागृत रहता है।

अब हम विचारको ही प्रस्तुत करें। वैसा विचार करना चाहिये। एक घट को या कुण्डलको लो। घट क्या है? वह मिट्टी है। कुम्हारने दण्डचक्रादिसे मिट्टीको ऊपर-नीचे अपने ढंगसे किया तो घड़ा नाम पड़ा और एक रूप आकार सामने दीखने लगा। क्या ऊपर-नीचे करने मात्रसे मिट्टी कोई अन्य वस्तु बन जायेगी? कोई आदमी शीर्षासन करता है तो पांव ऊपर और सिर नीचे हो गया तो क्या वह आदमीसे घोड़ा बन जायगा? आदमी तो आदमी ही रहेगा। चाहे वह सिर नीचे करे चाहे ऊपर। वैसे मिट्टी ही रहेगी, भले उसको ऊपर नीचे कर लो। घट नाम रूप उसमें कल्पित है। जैसे मिट्टीमें घड़ा बना किन्तु घड़ेको फोड़ दिया जाय, निकाल दिया जाय तो मिट्टीका कुछ नहीं बिगड़ता। किन्तु घड़ेमेसे मिट्टीको निकाल फेंका, कपड़ेमेंसे तन्तु निकालकर जला दिया तो घड़ा या कपड़ेका कोई अस्तित्त्व नहीं रहेगा। अतः वास्तविक तत्त्व मिट्टी तन्तु आदि है, घड़ा, कपड़ा आदि नाम रूप कल्पित है। यही श्रुति कहती है—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

कारण ही सत्य है। कार्य वाचारम्भण है। नामरूप कल्पित है। इस प्रकार कारण विचार करते-करते परम कारण सच्चिदानंद परमात्मामें पहुंच जाते हैं। "अस्ति" यही सत् है, यही जगत्का मूल कारण है। यदि जगत्को खतम किया तो भी अस्ति मूल रहेगा—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"

परंतु यदि जगतमेंसे अस्तिको निकाल दें तब क्या होगा? जैसे मिट्टीके निकालने पर घड़ा शून्य हो जाता है वैसे जगतमेंसे अस्तिको निकाला तो "नास्ति" हो जायेगा शून्य होगा। अत एव "अस्ति" ही वास्तविक है। नाम रूप प्रपञ्च कल्पित है।

दूसरी विचार प्रक्रिया यह है कि यह समस्त कार्य प्रपञ्च अदृष्ट, दृष्ट नष्ट स्वभाव है। समुद्रमें तरंग फेन बुद्बुदके समान है। एक तरंग उठी। प्रथम वह अदृष्ट थी। फिर दृष्ट हो गयी। क्षण भरमें नष्ट हो गयी। वैसा ही यह समस्त संसार है। यह क्षण-क्षणमें परिवर्तित हो रहा है। हम जिस रूपमें इस क्षणमें हैं, वैसे दूसरे क्षणमें नहीं होंगे। कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है। पृथिवी क्षण-क्षणमें परिवर्तन हो रही है सूर्य क्षण-क्षणमें परिवर्तित हो रहा है, पूरा ब्रह्मांड परिवर्तित हो रहा है। क्षण भी इतना छोटा है कि उसका निर्वचन करना भी कठिन है। क्षण उसको कहते हैं जो सबसे छोटा समय है, जिसका विभाग नहीं होता। अगर क्षणका विभाग हो तो वह आधा क्षण ही क्षणसे छोटा होगा। तब उसीको फिर क्षण कहना होगा। या उसका कोई दूसरा नाम रखना पड़ेगा। फिर उस आधे क्षणका भी आधा होता है कि नहीं, सोचना पड़ेगा। इस प्रकार आधा करते-करते कहां जाकर रुकेंगे? जहां रुकेंगे उसीका नाम क्षण होगा। परंतु रुकने की कोई गुंजाईश नहीं दीखती। क्योंकि वर्तमान क्षणका एक किनारा पूर्वक्षणमे संयुक्त होगा और दूसरा किनारा उत्तर क्षणसे। तब पूर्व किनारा, मध्यभाग और

उत्तर किनारा ऐसे तीन भाग हो गये। जैसे सोमवारका पूर्व किनारा रविवारसे संयुक्त है, उत्तर किनारा मंगलवारसे संयुक्त है। अगर ऐसा न हो तो पूर्व क्षण और उत्तरक्षण जुड़ जायेंगे तो वर्त्तमान क्षणका अस्तित्व ही खतम हो जायेगा। उन तीन भागोंमें भी प्रत्येक भाग पर ऐसा ही विकल्प होगा। अन्तमें क्षण क्या है ? कितना बड़ा छोटा है, इसका निर्वचन असम्भव होगा। तब क्षण परिवर्त्ती संसारका क्या निर्वचन होगा ? इसलिये इतना ही कहा जा सकेगा कि यह प्रपञ्च अदृष्ट दृष्ट नष्ट स्वरूप है। इसीलिये शास्त्रोंमें बताया कि—

"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः"

अदर्शनसे आया, फिर अदर्शनमें डूबा। तब बीचका यह दर्शन क्या है ? वस्तुका निर्वचन नहीं होता। अतः दर्शन कल्पित है। दृष्टि सृष्ट है।

इस प्रकारके विचारोंके द्वारा कार्य प्रपञ्च का बाध रहना चाहिये। कारण अज्ञानावृत होता है तो कार्य नजर आता है। जैसे घड़ा देखनेवाले मिट्टीको भूल ही जाते हैं। यहां मिट्टी है क्या ? पूछने पर घड़ेके होने पर भी "मिट्टी नहीं" बोल बैठते हैं। क्योंकि घट दृष्टि प्रबल हो गयी है। मृत दृष्टि आवृत्ति हो गयी है। विचारोत्तर घट दृष्टि बाधित होती है, मृत् दृष्टि आगे आ जाती है। सोनारके पास कटक कुण्डल आदि लेकर जाओ तों वह केवल सोनेका भाव देगा। कटक कुण्डलादि नाम रूपका दाम नहीं देगा। वह कटक कुण्डल बनाकर बेचेगा तो भी नाम रूपकी कीमत नहीं, अपनी मेहनतकी सिर्फ मजदूरी लेगा और सुवर्णका मूल्य लेगा। उसकी दृष्टिमें सुवर्ण मात्र है अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार विचार परायण व्यक्तिके लिये भी ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व रहता है। नाम रूप प्रपञ्चको वह बाधित करता है। यही ज्ञानयोगीका संयम है। यह संयमी उस ब्रह्ममें—जागर्ति—जागृत रहता है।

इन दो प्रकारके संयमियोंमें अर्थात् ध्यान-योगी और ज्ञान-योगी-में कौन उत्तम है ? यह बात यद्यपि साधकोंके सामने विचार योग्य नहीं है, क्योंकि साधक किसी भी संयमको अपना ले, कुछ करे तो सही। "अकरणात् मन्दकरणं श्रेयः" यही सिद्धान्त है। फिर भी विचार करनेके लिये जब बैठते हैं तो कुछ विचार उद्भूत होता ही है। उसम यही कहा जाता है, साधना पथ पर शीघ्र आगे बढ़नेके लिये ध्यानयोग अधिक उपयोगी है, किन्तु निराबाधताकी दृष्टिसे ज्ञानयोग परमोत्तम है। ध्यान योगीय संयममे खतरा रहता है। कहीं अन्त समयमें ध्यान बराबर न लगा तो ? भरतकी-सी दशा होगी। भरत ध्यानयोगी थे। अन्तमें हरिणका ध्यानकर हरिण बने। अतः निरापद मार्ग ज्ञानयोगीय सयम है। परंतु उसमें भी ध्यानयोग परम आवश्यक है। अन्यथा ज्ञानयोग सयम स्थिरताको प्राप्त नहीं होगा। "देहाभिमाने गलिते" यह विशेषण पहले बताया गया था। दहको वस्त्रादिके समान अपनेसे पृथक् देखना चाहिये। ज्ञान सयमीको लेकर ही बताया गया है—

> **देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा**
> **सिद्धो न पश्यति यतोध्यगमत् स्वरूपम्**
> **दैवादुपेतमथ दैववशादुपेतं**
> **वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः**

इस श्लोकमें जो सिद्ध शब्दका अर्थ है, वही संयमीका भी अर्थ है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है तो यह शरीर बैठा है या उठा है कोई ख्याल उसे नहीं रहता। प्रारब्धानुसार चलता रहता है। शरीर रहा तो कोई बात नहीं, गया तो भी कोई चिन्ता नहीं। यह देहाभिमान निरास निरन्तर ब्रह्म विचारसे ही संभव है। केवल ध्यानयोगसे नहीं। परन्तु ज्ञानयोग तो ध्यानयोगसे परिपुष्ट होता है। अतः ध्यान-योग संयमाभ्यास भी अपरित्याज्य है। फलतः यहां संयमी शब्दसे ध्यान-योगी संयमके अभ्याससे प्राप्त ज्ञानयोग संयमवाला

इतना पूरा अर्थ समझना चाहिये। वही उस परब्रह्म परमात्मामें नित्य निरन्तर जागृत रहता है।

तस्यां जागर्ति संयमी। इसमें संयमीका अर्थ बताया गया। ध्यान-योगीय संयम तथा ज्ञानयोगीय संयम अलग है। दोनोंसे युक्त ही यहां संयमी शब्दसे बताया गया है। अब "जागर्त्ति" का अर्थ क्या है यह भी देखें। तीन अवस्थाओंका अभाव जागरण है। तीन अवस्थायें कौन-कौन सी ? मूर्च्छा सुषुप्ति और स्वप्न ये तीन अवस्थायें हैं। इन तीन अवस्थाओंमें जागरण नहीं होता। इन तीनोंके न होने पर जाग-रण होता है। मूर्च्छा किसको कहते हैं ? इसका वर्णन ब्रह्मसूत्रमें भगवान वेदव्यासजीने किया है—

"मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात्"

मुग्धका यहां मूर्च्छित अर्थ है। उसमें अर्धसम्पत्ति होती है। अर्ध सम्पत्ति अर्थात् अर्ध मरण। पूरा मरण नहीं आधा मरण। मूर्च्छामें हाथ पांव कटे तो पता नहीं चलता। ऑपरेशन करते हैं तो मालूम नहीं पड़ना। यही सुषुप्ति और मूर्च्छामें फरक है। सुषुप्तिमें आघात लगने पर आदमी जग जाता है। मूर्च्छामें नहीं। सुषुप्तिको सर्वथा अज्ञानावस्था नहीं बतायी है। भगवान पतञ्जलि ऋषि कहते हैं—

"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा"

सुषुप्तिमें सर्वथा ज्ञानाभाव भी नहीं और विषयाभाव भी नहीं होता। कमसे कम अभावरूपी विषयका प्रत्यय तो होता ही है। सुषुप्तिमें तीनों गुण कार्योंका अनुभव होता है। "सुखमहमस्वाप्सं"—मैं सुख पूर्वक सोया, "प्रसन्न मनः"—मन प्रसन्न हो गया, यह सत्त्वगुण कार्यका प्रत्यय है। कभी-कभी नींदसे उठने पर बोलते हैं—"दुःख महमस्वाप्सं" बड़ी खराब नींद आयी। सिर चकरा रहा है। यह रजोगुण कार्यका प्रत्यय है। "गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं" ऐसा बेखबर सोया, मूर्च्छित जैसा हो गया, शरीर भी भारी हो गया। यह तमो-

गुण कार्यका प्रत्यय है। इस प्रकार तीनों गुणोंके कार्यका पता होने पर भी उठने पर कहते हैं—"न किंचिदवेदिषं" ऐमा सोया कि कुछ पता ही नहीं चला। इस प्रकार अभाव तथा सत्त्वादिगुण कार्यका प्रत्यय इन दोनोंको आलम्बन करनेवाली वृत्ति निद्रा या सुषुप्ति कहलाती है। स्वप्नकी व्याख्या हम पहले कर आये हैं —

"अन्यथा गृह्णतः स्वप्नः"

स्वप्नकालमें केवल आत्मा ही स्वयं ज्योतिरूपेण रहता है। उस आत्माको ही रथ, अश्व, हस्ती आदि रूपसे देखते हैं। स्वप्नको ही लेकर श्रुतिमें —

"अत्रायं स्वयं ज्योतिर्भवति"

ऐसा बताया है। उमी स्वयं ज्योति आत्मामें रथ रथयोगादि-कल्पना होती है तो वही स्वप्न कहलाता है। यही आत्मामें अन्यथा ग्रहण है। अन्य रूपसे देखता है। इन तीन अवस्थाओंमें ही प्रायः संसारके प्राणी पड़े हैं। यहां श्लोकमें "संयमी जागर्ति" बताया है। संयमी जगा रहता है। अर्थात् दूसरे लोग जगे हुए नहीं हैं। दिनमें जगे तो हैं, काम-धन्धा करते हैं. फिर भी क्यों जगे नहीं हैं ? पूर्वोक्त तीन अवस्थाओंमें ही क्यों पड़े हैं ? यहां तीन अवस्थाओंकी विशेष व्याख्या करनी पड़ेगी। क्योंकि प्रसिद्ध मूर्च्छा, सुषुप्ति और स्वप्नमें कहां सब पड़े हैं ? मूर्च्छा माने मूर्च्छा सदृश, सुषुप्ति माने सुषुप्ति सदृश और स्वप्न माने स्वप्न सदृश अवस्था।

(१) प्रायः सभी प्राणी परमात्माके बारेमें मूर्च्छामें ही पड़े हैं। जैसे पशु-पक्षी आदि हैं। पैदा होते हैं, घास खाते हैं, धान चुगते हैं, बड़े होते हैं, मर जाते हैं, इतना ही उनका जीवन रहता है। आत्मा परमात्माके बारेमें वे सर्वथा अन्धकारमें हैं। परमात्मा है यह भी मालूम नहीं और परमात्मा नहीं है यह भी पता नहीं। वैसे कुछ मनुष्य भी होते हैं। उन्हें इतना ही पता है कि कमावो, खावो, पियो

और मौज करो। धर्म क्या, कर्म क्या, आत्मा क्या, परमात्मा क्या, इन सबसे उनका कोई मतलब नहीं रहता। ऐसे मनुष्य पशु समान ही होते है। वे परमात्माके बारेमें मूर्च्छित कहलाते हैं। आजकी दुनिया इसी मूर्च्छाकी ओर बढ़ रही है। ऋषि-मुनियोंके प्रबल प्रयास संस्कारके कारण भारतमे लोग सर्वथा मूर्च्छित नहीं हैं। फिर भी जो विदशोंमें मूर्च्छित पड़े हैं, उन्हींके अनुकरणमें लगे हैं। और लगभग किनारे तक पहुच भी गये हैं। यह एक अत्यन्त खतरनाक अवस्था हमारे इस ऋषि-भूमि भारत की हो गयी है।

(२) परमात्माके बारेमें नास्तिक लोग सुषुप्ति अवस्थामें हैं। सुषुप्तिका हम वर्णन कर आये—प्रत्ययाभाव और प्रत्यय दोनोंका आलम्बन हो रहा है। मैंने कुछ नहीं जाना ऐसा प्रत्ययाभाव भी हो रहा है और सुखपूवक साया ऐसा सुखादि प्रत्यय भी हो रहा है। मैंने कुछ नहीं जाना तो सुखपूर्वक सोया इतना ज्ञान कैसे हुआ? और अभावालबन वृत्ति तभी होगी जब प्रतियोगीको आलम्वन करे। कोई व्यक्ति घटको जानता हो तभी "घट नहीं है", कह सकता है। जिसको घड़का बिल्कुल पता नहीं है वह न तो "घड़ा है" कहेगा और न "घड़ा नहीं है" ही कहेगा। हमने एकको पूछा, तुम्हारे पास उपनिषद् है? उसको यही पता नहीं था कि उपनिषद् किस चिड़ियाका नाम है। उसने न 'है' कहा और न 'नहीं है' कहा। वह पूछने लगा, उपनिषद् किस चीजका नाम है? आदमी कोई पूछे कि यहां महत्तत्त्व है या नहीं? तो सांख्यशास्त्राभ्यास न हो तो न आप "है" कह सकेंगे और न "नहीं" कह सकेंगे सुषुप्तिमें प्रत्ययाभाव ज्ञान हो गया तो उसका मतलव है प्रत्यय ज्ञान हो रहा है। केवल प्रत्ययज्ञान ही नहीं प्रत्यय भी हो रहा है। यही सुषुप्ति है। इसी सुषुप्तिमें सभी नास्तिक पड़े हैं। नास्तिक लोग कहते है परमात्मा नहीं है। खण्डन खण्ड खाद्यमें श्री हर्ष मिश्रने यही युक्ति रखी है। उनसे नास्तिकोंने कहा, ब्रह्म नहीं है। उन्होंने पूछा—तुम ब्रह्मको जानकर "नहीं हैं" कह रहे

हो या ब्रह्मको जाने बिना ही "ब्रह्म नहीं है" बोल रहे हो। यदि ब्रह्मको जान कर "नहीं है" बोलते हो तो अपने आपको क्यों धोखेमें डाल रहे हो ? दूसरोंको तो डाल ही रहे हो। जाननेका मतलब कहीं न कहीं वह है। किसीसे पूछो कि तुम आकाश-पुष्पको जानते हो ? जानना तभी होगा यदि उसका कोई अस्तित्व होगा। इसलिये नास्तिकको यही कहना पड़ेगा कि मैं ब्रह्मको नही जानता हूं। यदि ब्रह्मको नहीं जानते हो तो 'नहीं है' कैसे बोल दिया ? बिना जाने ही नहीं है बोलना यह मूढ़ोंका लक्षण है। एक मूर्खको किसीने इंग्लिश पढ़ाया—'येस' और 'नो'। उस पर चोरीका आरोप लगा। राजाने इंग्लिशमें पूछा—तुमने चोरी की ? उसने उत्तर दिया—'येस'। राजाने इंग्लिशमें कहा तो सामान लाओ। उसने कहा—'नो'। राजाने कहा—तुम रास्कल हो ? उसने कहा—'येस'। मार खायेगा ? बोला—'नो'। जाने-बूझे बिना येस-नो बोलनेवाला मूढ़ होता है। तब ये नास्तिक ब्रह्मको जानकर 'नो' बोल रहे हैं या बिना जाने ? जानकर 'नो' बोलना धृष्टता है। बिना जाने बोलना मूर्खता है। यही सुषुप्ति है। ज्ञान है फिर भी ज्ञान नहीं है कहना। नास्तिक सभी परमात्माके बारेमें सुषुप्तिमें पड़े हैं। परमात्माको जानकर 'नहीं है' बोल रहे हैं।

(३) तीसरी स्वप्नावस्था है। प्रायः सभी आस्तिक भी स्वप्नावस्थामें पड़े हुए हैं। स्वप्नका अर्थ बताया—"अन्यथा गृह्णतः स्वप्नः" अन्यथा ग्रहण ही स्वप्न है। परमात्माके विषयमें प्रायः सभी आस्तिक अन्यथा ग्रहण कर रहे हैं। कोई कहता है राधाकृष्ण भगवान है। यही कृष्ण भक्तोंका दावा है—

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"

कृष्ण साक्षात् भगवान है। बाकी सब अंश कला है। वैरागी लोग कहते हैं कि कृष्ण, भगवान नहीं है। भगवान तो राम है। सीताराम ही भगवान है।

"सियाराम मय सब जग जानी
करउ प्रनाम जोरी जुग पानी"

उसी सीतारामके सब अंश हैं। इन दोनोंसे कहा कि तब ये नाम ही भिन्न हैं, तत्त्व तो एक ही हुआ। दोनों कहने लगे, 'नहीं' सीताराम त्रेतायुगमें हुए। राधाकृष्ण द्वापर युगमें हुए। दोनों एक कैसे? एक मानेंगे तो विरुद्ध रूप द्वयको कल्पित मानना पड़ेगा और भगवानका रूप कल्पित कैसे हो सकता है? इतनेमें रामानुजीयोंने आकर कहा—ये दोनों ही लक्ष्मी नारायणके अवतार हैं। असल भगवान लक्ष्मी नारायण ही हैं। लक्ष्मी नारायणकी शकल असली है। भक्तानुग्रहार्थं राम कृष्णादि रूप धारण करते हैं। ऐसी स्थितिमें शैव लोग क्यों पीछे रह जाते? वे कहने लगे, शिव-पार्वती ही वास्तविक परमेश्वर है। शंकरका ही पर्याय ईश्वर ईशान परमेश्वर आदि है। उसी शिवके बायीं ओरसे ब्रह्मा प्रकट हुए। दायीं ओरसे विष्णु प्रकट हुए। हृदयसे रुद्र आविर्भूत हुए। ये सभी अपने-अपने मतमं अडिग हैं। आपसमें झगड़ा भी करते हैं। इनमें असल भगवान कौन? अंश कौन? इस झगड़ेमें स्मार्त्तोंने आकर कहा—हम झगड़ा मिटा देत हैं। ये सभी भगवान हैं। हम पांच देवोंको मानते हैं। शिव, विष्णु, देवी, सूर्य और गणेश ये पांचों भगवान् हैं। मर्जी तुम्हारी है जिस किसीको मुख्य मानो। अन्यको गौण। शिव पंचायतन, विष्णु पंचायतन, देवी पंचायतन, सूर्य पंचायतन और गणेश पंचायतन ये पांच पंचायतन हैं। जिसको मुख्य मानते हो उसको मध्यमें रखो, दूसरोंको चारों ओर। कोई झगड़ा नहीं यही परमार्थ-तत्त्व है।

परंतु प्रश्न यह है कि इस प्रकार पांच परमात्मा हैं क्या? कुछ लोग कार्त्तिक स्वामी, हनुमानजी, संकर्षण आदि देव, काली, दुर्गा, संतोषीमाता आदि देवियोंको भी जोड़कर दस-बीस भगवानको मानते हैं। क्या इतने सारे भगवान मान्य हैं? न्यायशास्त्रवाले कहते

हैं कि हम भगवानको माननेके लिये तैयार हैं। किन्तु इतने सारे भगवान नहीं हो सकते। न्यायशास्त्रवाले भगवानको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। उनका अनुमान है—

"क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्"

पृथिवी, जल, अङ्कुरादिको बनानेवाला कोई कर्त्ता जरूर है। क्योंकि ये सभी कार्य वस्तु हैं। जैसे घट कार्य वस्तु है तो उसका कर्त्ता कुम्हार भी अवश्यभावी है, वैसे पृथिवी अंकुर आदि कार्य वस्तु है तो इनका भी कर्त्ता जरूर होना चाहिये। इस अनुमानसे जो कर्त्ता सिद्ध होता है वह एक है या अनेक? नैयायिकोंका कहना है कि अनुमानमें लाघवगुण देखा जाता है। एक ही परमात्मासे जगत् संभव है तो अनेक परमात्माकी कल्पना नहीं हो सकती। वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्व जगत्कारण है। वही सृष्टि-संहारकर्त्ता है। दस-बीस भगवानोंको यदि मानेंगे तो कभी उनमें मतभेद हो गया और आपसमें लड़ पड़े तो बीचमें बचाव कौन करेगा? विरुद्ध आशय होने पर जगतका उन्मथन होगा। यदि कहें कि सबका एक ही आशय रहता है तो एक ही भगवान क्यों नहीं कहते? अतः परमेश्वर अनेक नहीं है, एक ही है। परन्तु शास्त्रोंमें और पुराणोंमें जो राम, कृष्ण, शंकर, विष्णु अम्बा आदिका वर्णन किया है, उसका क्या होगा? क्या यह सब झूठा है?

वेदान्तका सिद्धांत है, शास्त्र झूठे नहीं हैं और परमात्मा एक भी है। दोनों कैसे? ये सब परमात्माके रूप हैं। स्वरूप नहीं हैं। रूपमें और स्वरूपमें क्या फरक है? इसे ध्यानपूर्वक समझना होगा। हम सबका रूप क्या है, और हमारा स्वरूप क्या है? यहींसे हम रूप और स्वरूपका फरक समझें। एक नट है, वह कृष्ण, राम, कंस आदि अनेक रूप धारण कर सकता है। वह उसका रूप है, किन्तु स्वरूप नहीं है। स्वरूप उसका एक ही है। परमात्माको समझनेके लिये

हम अपने रूप और स्वरूपको पहले समझें। एक आर्यसमाजीने मुझसे कहा कि परमात्मा निराकार है। वह साकार नहीं हो सकता। निराकार और साकार परस्पर विरुद्ध है। जो निराकार होगा, वह साकार नहीं होगा और जो साकार होगा वह निराकार नहीं होगा। अग्नि उष्ण है तो कभी शीत नहीं होती। शीत कभी उष्ण नहीं होता। सूर्यमें कभी अंधेरा नहीं होता। अंधेरा कभी प्रकाश रूप नहीं होता। क्यों? ये सब विरुद्ध स्वभाव है। वैसे ही निराकार और साकार भी विरुद्ध स्वभाव हैं। निराकार कभी साकार नहीं हो सकता। बड़ी जटिल युक्तियोंसे इस प्रकार उसने कहा। मैंने उससे पूछा—आप साकार हैं या निराकार? उसने कहा—मैं साकार हूं। मैंने कहा—आप माने जीवात्मा। वह साकार है या निराकार? बोला—वह निराकार है। तो आप आत्मा हैं कि अनात्मा? मैं आत्मा हूं। तो अभी-अभी जो बोले वह विरुद्ध क्यों नहीं? आत्मा निराकार है और मैं साकार हूं। मैं ही तो आतमा है। वह बोलने लगा—यह शरीर साकार है, आत्मा निराकार है। मैंने कहा—फिर भी शरीर और आत्माको मिलाकर मैं साकार हूं, ऐसा बोल तो दिया। इसी प्रकार परमेश्वर भी है। परमेश्वर आत्मारूपसे निराकार है और कृष्ण रामादि शरीरको लेकर साकार है। वह आर्यसमाजी कहने लगा—परमात्मा शरीरधारी कैसे हो सकता है? मैंने कहा—आप जीवात्मा कैसे शरीरधारी होकर साकार हो गये? आप शरीर धारण कर सकते हैं तो क्या परमात्मामें शरीर धारण करनेमें सामर्थ्य नहीं? बल्कि आपको भी शरीर निर्माणकर देनेवाला परमात्मा स्वयंके लिये शरीर निर्माण नहीं कर सकता, यह कैसी विडम्बना होगी? अस्तु। जीवात्माके रूप एवं स्वरूप पर विचार करने पर परमात्माके भी रूप एवं स्वरूपका ज्ञान हो सकता है। जीवात्माका स्वरूप सत्-चित् आनन्द है और पशु-पक्षी मनुष्य आदि रूप मात्र हैं। जैसे नटका स्वरुप देवदत्त है। राम,

कृष्ण, कंस, रावण आदि बनावटी रूप है। इसीलिये भक्त लोग तो मनुष्य पशु-पक्षी आदि शरीरको नाटक ही समझते हैं। नाना रूपोंको धारण कर नृत्यमात्र समझते हैं। इसीलिये एक भक्तने कहा—

नृत्यामि नाथ पशुपक्षिसरीसृपादि-
वेषानुपेत्य बहुधा पुरतस्तवाहम्
प्रीतोऽसि चेद्वरद देहि वरं प्रियं मे
नो चेत् पुनः कथय नैव नरीनृतेति

हे नाथ, हे परमेश्वर मैं आपके सामने नाच रहा हूं। कभी पशुका वेष लेकर, कभी पक्षी वेष लेकर, कभी सांपका वेष लेकर एवं कभी मनुष्य देवादि वेष लेकर नृत्य कर रहा हूं। बहुत-बहुत नृत्य मैं कर चुका। अभी तक आप प्रसन्न हुए या नहीं? बड़े-बड़े सेठ लोग वाराङ्गनाओंका भी नृत्य देखकर प्रसन्न होते हैं। नाचते समय कोई अपने गलेका चैन उतारकर फेंकता है। कोई घड़ी फेंकता है। उस समय दर्शकोंके दिल और हाथ ऐसे खुल जाते हैं कि जो भी धन हाथमें आवे वाराङ्गनाको इनाम के रूप में दे डालते हैं। इस प्रकार मैं भी नृत्य कर रहा हूं। बल्कि पशु-पक्षी आदि विलक्षण-विलक्षण रूप लेकर। हे भगवान्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे कुछ इनाम दीजिये। मेरी अभीष्ट वस्तु आप मुझे दीजिये जो आपके हाथमें है। आपके हाथमें मोक्षरूपी दिव्य इनाम है। वह आप मुझे दीजिये। मैं एक ही पक्षको लेकर नहीं बोल रहा हूं। हो सकता है कि आप मेरी नाचसे अप्रसन्न हों। आपको मेरा नृत्य पसंद न आ रहा हो। इसमें भी मुझे कोई एतराज नहीं है। यदि आपको मेरा नाच पसंद नहीं है तो आप बोल दीजिये कि आजसे नाचना बंद कर दो। भक्त बड़ा चालाक है। नाच बंद करने का अर्थ है पशु आदि शरीर धारण बंद करना, माने मोक्ष प्राप्त होना। दोनों तरफसे यह मोक्षकी मांग है।

आत्माका स्वरूप असलमें सत् चित् आनंद है। मनुष्य पशु-पक्षी आदि केवल रूप है। रूपको ही स्वरूप समझना अन्यथा ग्रहण है यही स्वप्न है। इस जीवात्मा धार्मिक स्वप्नको अब परमात्मामें भी समझो। परमात्माका भी स्वरूप सत् चित् आनंद अखण्ड अद्वितीय है। राम, कृष्ण, विष्णु, देवी, शंकर आदि सभी रूप हैं। इन रूपोंका ही लोगोने स्वरूप समझा। साधारणोंकी बात क्या? बड़े बड़े आचार्य कहलाने वालोने भी रूपको ही स्वरूप समझा। ये सभी आस्तिक हैं। पर स्वप्नमे पड़े हैं। 'अनेक रूपरूपाय" यही भगवानका विशेषण है। न कि अनेकरूपस्वरूपाय। वैसे तो सारा जगत् ही भगवानका रूप है। परंतु विश्वको भगवानका स्वरूप समझना अन्यथा ग्रहण है—स्वप्न है। विश्वरूप दर्शन योगाध्याय आगे आयेगा। वहां विश्वरूप दर्शन है। न कि विश्वस्वरूप दर्शन। ब्रह्मके ये रूप उपासकोंके लिये हैं। बताया भी है—

निर्गुणस्याद्वितीयस्य निराकारस्वरूपिणः
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।

परमात्मा स्वरूप है—निर्गुण निष्क्रिय अद्वितीय निराकार अखण्ड सच्चिदानंद उसमें रूपकी कल्पना उपासकोंकी सिद्धिके लिये होती है।

(४) तीन अवस्थायें बतायीं—मूर्च्छा, सुषुप्ति और स्वप्न। प्रश्न है—एक चौथी भी अवस्था मरण है। उसको क्यों नहीं बताया? मूर्च्छा अर्ध मरण है। उसे अवस्था मान लिया तो पूर्ण मरण अवस्था क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि मरणावस्थामें प्रायः मनुष्य नहीं हो सकते। मूर्च्छामें और मरणमें फरक यह है कि मूर्च्छामें जागरण योग्यता है। मरण होने पर फिर यह शरीर नहीं उठ सकता। अर्थात् उसके बाद फिर जागरण योग्यता नहीं रहती। पशु-पक्षी आदि मरणावस्थामें हैं। उनके अंदर ब्रह्मदर्शन योग्यता

सर्वथा नहीं है। मनुष्य जो अत्यंत पामर हैं वे पशुके समान ही हैं। उनको ब्रह्म क्या, धर्म क्या कुछ, पता नहीं रहता। पशुके समान ही खाना, पीना, शौक करना ही वे जानते हैं। फिर भी जागरण योग्यता है। इसलिये मूर्च्छा—अर्धमरण तक ही कहना उचित है। मानव शरीर जैसा भी हो ब्रह्मदर्शन योग्य माना गया है। हां मूर्च्छा मूर्च्छामें कोई मर जाय यह अलग बात है। अतएव आचार्योंने कहा—

> लब्ध्वा कथं चिन्नरजन्मदुर्लभं
> तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
> यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत विद्वान्
> स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

मनुष्य जन्म, उसमें भी पुरुष जन्म पाकर, जो कि श्रुतिपार पर-ब्रह्म परमात्माके दर्शन करनेकी योग्यता रखता है, जो आत्म मोक्षके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह आत्मघाती है, असद्ग्रहसे अपनेको मार रहा है। मार रहा है, मरा नहीं। अत एव अर्धमरणावस्था है। जिन्दा है लेकिन मार रहा है। अतः मरणावस्था नहीं, अर्धमरणावस्था है। यह शरीर श्रुतिपार दर्शन है। श्रुतिपार परमात्माके दर्शनकी योग्यता रखता है। भले ही दर्शन किये विना ही मूर्च्छा-मूर्च्छामें मर जाय। अतः मनुष्यमें तीन ही अवस्थायें मुख्य रूपसे हैं—मूर्च्छावस्था, सुषुप्ता-वस्था और स्वप्नावस्था। शास्त्र मनुष्याधिकार होनेसे इन तीन अवस्थाओंसे उठना ही यहां जागर्त्तिका अर्थ है।

इसी जागर्त्ति—जागरणको लेकर श्रुति भगवती मानव मात्रको संबोधन करती हुई हितोपदेश कर रही है—"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत:"। उठो और जागो। अविद्यामय तीन अवस्थाओंसे ऊपर उठो। मूर्च्छा छोड़ो। सुषुप्तिको त्यागो और सपनेको छोड़ो। "संसार स्वप्नं त्यज मोह निद्राम्" संसार दर्शन स्वप्न है और मोह सुषुप्ति है। निद्रा है इसे त्याग करो। इन तीनोंसे ऊपर उठो और

जागो। जागरण है—ब्रह्म दर्शन, नाम रूपात्मक संसारको बांधकर अस्ति भांति प्रिय रूप परमात्माका दर्शन करना। इसका वर्णन भूमिका भेदसे हम पहले ही कर आये हैं। जिसमें पदार्थभावनीमें नाम रूप दर्शन ही प्राय: समाप्त हो जाता है और तुरीयगामें सर्वथा पदार्थ दर्शन परिसमाप्त होता है। ये दोनों—उत्थान और जागरण कैसे होंगे। इसके लिये श्रुति साधन बता रही है—"प्राप्य वरान्निबोधत"। वरान्– वरणीय पुरुषान्—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरणीय महापुरुषोंको प्राप्त होकर ज्ञान प्राप्त करो। उनसे श्रवण करो। उस पर फिर मनन तथा निदिध्यासन करो। इसीसे संसार सागरसे उत्थान होगा और ब्रह्म स्वरूप प्रकाशरूपी जागरण होगा। ध्यान योग तथा ज्ञान योग रूप संयमसे युक्त संयमी पुरुष उसी ब्रह्ममें नित्य जागृत रहते हैं—"तस्यां जागर्त्ति संयमी"। इस प्रकार यह श्लोकके पूर्वार्धकी व्याख्या हुई। अब आगे उत्तरार्ध पर विचार करेंगे।

यस्यां जाग्रति भूतानि। सब प्राणी जहां सोये हैं वहां संयमी जगा रहता है। कहां उत्तर मिला—परमार्थ तत्त्वमें—ब्रह्ममें। यह पूर्वार्धमें बताया। अब उत्तरार्धमें कह रहे हैं कि जहां सभी प्राणी जाग्रत है—वहां तत्त्ववेत्ता सोया हुआ है। कहां ? यह यहां भी प्रश्न है। उत्तर है—अनात्म पदार्थोंमें। अनात्म पदार्थ कौन-कौन ? शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार एवं अज्ञान तथा बाह्यार्थ ये सभी अनात्म पदार्थ है। सभी शरीर इन्द्रियादिके संरक्षणमें सजग हैं। यहां तक कि अज्ञानको बनाये रखनेमें भी पीछे नहीं है। "अभये भयदर्शिनः"। अभयरूपीज्ञानमें उनको भय है कि कहीं यह विरक्त न हो जाय।

प्रथम इस स्थूल शरीरकी रक्षामें सब लोग लगे हुए हैं। इसीको अपने जीवनका साध्य एवं लक्ष्य मान लिया है। पहले समयमें राजा लोग अपने राज्यकी या नगरीकी चारों ओर किला बनाते थे। सैनिक उसकी रक्षा करते थे। कभी-कभी शत्रु आक्रमण करते थे। किलेको घेर लेते थे। राजा और प्रजाको परकोटेसे बाहर निकलने नहीं देते

थे जब तक आत्मसमर्पण न करे। परन्तु वीर राजा शत्रुओंसे युद्ध कर उसको भगा देते थे और अपने किलकी रक्षा करते थे। इसी प्रकार मनुष्य शरीररूपी यह किला है। इसकी रक्षा हम दिन-रात सजग रहकर कर रहे हैं और इसकी रक्षा ही अपना जीवन लक्ष्य समझ रहे हैं। इतना ही नहीं इसका वर्धन पोषणादि भी अपना लक्ष्य बनाये हुए हैं। परन्तु इन सबके होते हुए भी सत्तर-अस्सी वर्षके होने पर यह शरीर मर जाता है। बचानेका सारा प्रयास किया। आखिर मर गया और वह भी आकस्मिक नहीं, दुर्भाग्यसे नहीं, किन्तु नियमित रूपसे। राजाने शत्रुओंका जैसे सफाया किया वैसा सफाया यहां असम्भव ही है। इस शरीरका निश्चित अन्त होनेवाला है। तब इसके संरक्षणको ही लक्ष्य बनाना कैसी बुद्धिमत्ता है? यह शरीर साध्य नहीं है। यह केवल साधन है। जीवन साध्य नहीं है, साधन है। महापुरुषोंका कहना है कि —

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

यह शरीर धर्मका साधन हैं। साधन सिद्ध होने तक साधनका मूल्य है। कुंआ खोदने तक कुदालका मूल्य है। कुंआ बन गया तो कुदाल छोड़ दिया जाता है। नावसे नदी पार हो गये। पार होनेके बाद भले ही नावको तोड़ो मत। उसको दूसरोंके उपकारके लिये रक्षित रखो। लेकिन नावको ही अपना घर मत बनाओ। काश्मीरमें देखा—दो-तीन मंजिलवाली नावें होती हैं। मल्लाहोंने उन नावोंको ही अपना घर बना लिया है। उसीमें रह रहे हैं। उसीमें खाना पका रहे है, उसीमें सो रहे हैं। सब कुछ नावमे ही। परन्तु एक बार बाढ़ आयी तो सारी नावें डूब गयीं और सब बेघरबार हो गये। नावको घर मत बनाओ। नाव नदी पार करनेका साधन है। साधनके रूपमें उसकी रक्षा करो। न कि साध्यके रूपमें। यदि शरीरकी ही रक्षामें पड़े रहे तो परिणाम बड़ा ही दुःखदायी होगा। शरीरको ही सम्हालते रहनेमे, सजानेमें जीवन व्यतीत करना यह विरोचनका परम सिद्धांत

है। शरीरको जिसने साधन समझा वही देव है, इन्द्रानुयायी है। शरीरको जिसने साध्य समझा वही असुर है, विरोचनानुयायी है।

छान्दोग्यमें कथा आती है कि एक बार देवताओंका अधिपति इन्द्र और असुरोंका अधिपति विरोचन दोनों मिलकर प्रजापतिके पास गये। दोनों बहुत वर्षों तक रहकर प्रजापतिकी सेवा करते रहे। सेवासे प्रसन्न होकर प्रजापतिने उपदेश दिया —

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच
एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्मेति"

जो यह आंखमें पुरुष दीखता है वह आत्मा है। यही अमृत है, अभय है। यही ब्रह्म है। यह उपदेश पाकर दोनों वहांसे चले। विरोचनने समझा कि इस आंखमें कौन पुरुष है? यह स्थूल शरीर ही तो आंखमें आता है। आंखमें छाया भी आती है तो स्थूल शरीरादिकी। ऐसे तो घटपटादि सभी आंखमें आते हैं। किन्तु वे सब पुरुष नहीं। आंखमें आनेवाला पुरुष आत्मा है तो यह शरीर ही वह हो सकता है। इस प्रकार विरोचनने अर्थ लगाया और अपने अनुयायियोंको आकर बताया कि यह शरीर आत्मा है। इसकी खूब रक्षा करो। वस्त्र आभूषणादिके इसको खूब सजाओ। किरीट कुण्डलादि धारण करो। उत्तमोत्तम वस्त्र पहनो, सजाओ। खूब खा-पीकर शरीरको मोटा बनाओ। यही आत्मा है। यही साध्य है। यही जीवनका लक्ष्य है। इधर इन्द्र भी कुछ दूर तक आ गया था। परन्तु इन्द्रको यह बात जची नहीं। इन्द्रने कहा कि इस शरीरको कितना भी बचाओ, फिर भी यह अमृत तो नहीं ही हो सकता। यह कभी न कभी मृत होगा ही। इन्द्र वापिस प्रजापतिके पास गया। कई बारके चक्करसे अन्तमें इन्द्रने समझा कि अक्षि पुरुषका अर्थ अक्षिमें आनेवाली छाया भी नहीं और अक्षिसे दीखनेवाला शरीर भी नहीं, किन्तु अक्षिमें जो प्रेरयिताके रूपमें रहनेवाला पुरुष है वही आत्मा है। अक्षि शरीरादिके द्वारा

उसका ज्ञान करना चाहिये। वह श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, चक्षुका चक्षु, एवं प्राणका प्राण है। तदर्थ शरीरादि साधन है। साधनके रूपमें शरीरादिकी रक्षा करनी चाहिये, साध्यके रूपमें नहीं। जब तक धान पैदा नहीं होता तब तक पौधे रक्षणीय हैं, वर्धनीय हैं। धान पैदा हो गया तो फिर कौन पानी सींचता रहेगा? यही कारण है कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर फिर उसकी शरीर चिन्ता छूट ही जाती है। पहले हम बता आये हैं —

"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्"

यहां यतः का यतः शरीरात् भी अर्थ है। यतो हेतोः भी है। यतो हेतोः=क्योंकि उसने स्वरूपमध्यगत्—स्वरूप को जाना अतः देहको नहीं देखता। दूसरे अर्थमें जिस शरीरसे स्वरूपको जाना उसे भी वह नहीं देखता। स्पष्ट है कि शरीर स्वरूपधिगमन का साधन है। स्वरूपाधिगमन होने पर वह रहे या न रहे इसकी चिन्ता तत्त्वज्ञानी को नहीं होती इसलिये तत्त्वज्ञानीका जीवन और मरण दोनोंसे कोई वास्ता नहीं रह जाता है।

"अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा"

यही उनका कथन है। चाहे आज मरना पड़े। चाहे युगपर्यन्त रह कर दूसरे युगमें मरना पड़े, बात एक ही है। क्योंकि जो साधनेका था वह साध लिया परंतु जिन लोगोंने शरीरको साध्य माना वे मरणसे तो भयभीत हैं ही, जरा—बुढ़ापा आदिसे अत्यंत भीत रहते हैं। परंतु उस भयका परिणाम दुगुना भयही होगा। जरा मरण निवृत्ति तो नहीं ही होगा।

जर्मनीमें एक विलक्षण विश्वसुन्दरी हुई। सुन्दरियोंकी प्रतियोगितामें अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको उसने बहुत पीछे पछाड़ डाला। बड़े गर्वके साथ वह चलती थी। दुनियाको तुच्छ समझती थी। अपने सौन्दर्यके

सामने सबको कुरूप समझती थी। बूढ़े बुढ़ियोंकि खिल्लियां उड़ाती थी। परंतु काल भगवानके प्रहारसे आज तक कौन बच सका है। उसने एक दिन दर्पण देखा तो उसमें अपने सुन्दरतम बालोंके जूड़ेमें एक सफेद बाल देखा तो वह रो पड़ी। उसकी आंखोंसे आंसू गिरा। उस दिन तो उस सफेद बालको तोड़कर फेंका। कुछ सान्त्वना प्राप्त की। पर हृदय पर भारी चोट लग चुकी थी। परंतु दस पंद्रह दिनके बाद देखा एकको जो तोड़कर फेंका था उसके स्थानमें चार-पांच सफेद बाल हो गये थे। उसके बाद क्या हो गया, स्वयं आप कल्पना कर सकते हैं। इस शरीरको जिसने साध्य समझा उसका परिणाम यही होता है। यह महाकाल किसीको छोड़ता नहीं। इसके भयानक प्रहारसे कोई बचा नहीं। इसने बड़े-बड़े गर्वियोंका गर्व चूर किया। एक अनुभवी संत कहता है—

> हे काल निर्दय विमर्दयितुं कथं त्वं
> चेतः प्रवर्त्तयसि मर्त्तमनोज्ञ भावम्।
> अद्यानवद्यतरमैक्षिषि यत्प्रसूनं
> श्वस्तन्निरस्तसुषमं ननु नेत्रपांसु ॥

हे काल तुम बड़े निर्दयी हो। बड़े कठोर हो। सहृदयतासे शायद तुम्हारी भेंट भी नहीं हुई दीखता है। सौन्दर्यके मूर्त्तरूपको भी पैरो तले रौंदते समय तुम्हारे मनमे कभी हिचकिचाहट नहीं हुई। जो गुलाबका फूल आज अति सुमनोहर है, जिसको पकड़ते समय हम भी बड़ी सावधानी बरतते हैं कि कहीं हाथ दलों पर न लग जाय और दल कहीं काले न पड़ जाय, मुर्झा न जाय, उस गुलाब फूल को कल देखो, कालने क्या किया। रौंदकर खतम कर दिया, उसकी सारी शोभा समाप्त हुई। सारा सौन्दर्य खतम हुआ। लोग उसे जो अति सावधानीसे हाथमें लेते थे उसे अब कचड़में फेंकने लगे। यहां अन्योक्ति है। फूलका मतलब है। कोमल शरीर, सुन्दर शरीर। बाल्य अवस्थामें और यौवनावस्थामें जो माधुर्यादि

शरीरमें दीखते थे वे सब वृद्धावस्थामें खतम हो गये। छलकती जवानी सूख गयी। चेहरे परसे तेज उतर गया। यह कोई असावधानीमें होनेवाली आकस्मिक घटना हो तो अलग बात है। उससे बचनेके लिये सजग रहना आवश्यक माना जा सकता था। परंतु यह स्थिति तो सबके सामने अनिवार्य रूपसें आनेवाली है। तब इस शरीरको सजाने संवारनेमें जीवनको गंवानेवालोंके विषयमें क्या कहा जा सकता है? इस शरीरको साधन समझकर वास्तविक साध्य सिद्ध करनेका प्रयास करो। अन्यथा अंत में भारी पश्चाताप करना पड़ेगा। नयी-नयी पेंट, नयी-नयी साडी, नयी-नयी पोशाक, नया-नया फैशन इसीमें जीवन गुजर रहा है। ये विरोचनके अनुयायी बूढ़ा और बूढ़ी होनेके बाद जवान और युवति अपनेको दिखानके लिये कितना हैरान होते हैं, यह मैंने मलबार हिल्समें एक बूढ़ीकी सजावटसे जान लिया। साठ-पैंसठ वर्षकी बूढ़ी होकर वह क्या-क्या क·ती रहती है। एक रोज बिना सजाये उसको नीचे आना पड़ा, तब देखा मुंहपर झुरियां पड़ी हैं। गाल लटक रहा है। किन्तु पता नही उसने कौनसी कला सीख ली है जब बाहर निकलती है तो ऐसा रंग जमाकर निकलती है कि तीस पैंतीस वर्षकी लगे। परंतु इस बनावटी रूपका भी गर्व कब तक चलेगा? कैसा यह माया मोह है। भगवानकी माया अपार है।

"अधः पश्यति किं बाले गतं तारुण्यमौक्तिकम्"

बूढ़ी कूबड़ी होकर चल रही थी। संतने पूछा—नीचे क्या देख रही है? वह बोली—मेरा तारुण्यरूपी मोती कहीं गिरा है, उसे ढूंढ रही हूं। तारुण्यको पुनः लानेका प्रयास चल रहा है, किन्तु दूसरी ओर काल भगवान उसे यमलोक पहुचानेकी तैयारी कर रहे हैं। दोनों की खींचा-तानी चल रही है—कालकी और वासना की।

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति नित्यम्

आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाव्यहितमाचरतीति चित्रम्

कुछ लोगोंसे यह बाघिन कुछ दूरमें हैं। लेकिन आ रही है सामने ही। किसी-किसीके नजदीक पहुंच चुकी है और कईयों पर झपट चुकी है। कौन है यह बाघिन ? जरा, जीर्णता बुढापा। यह किसीको छोड़नेवाली नहीं। पूरे सौन्दर्यको बरबाद करके ही विश्राम लेगी। इतना ही नहीं, बचपन और जवानीमें भी नानाविध रोग तुम्हारी चमकको उड़ानेमें लगे हैं। दो महीना ज्वरमें पड़े रहे, कहीं पलिया हो गया तो सारी चमक खलास। आयुके विषयमें तो कहना ही क्या ? यह तो फूटे घड़ेमें जल भरकर रखनेके बराबर है। धीरे-धीरे घड़ा खाली हो रहा है। दुबारा पानी भरनेके लिये पानी नहीं है। फूटे घड़ेमें जितना पानी है उतना ही है। एक बूंद भी बढ़नेवाला नहीं है और ऐसी बात नहीं कि हमें इन सब बातोंकी खबर ही न हो। परमेश्वर सामने ही हजारों दृष्टान्त रखकर दिखा रहे हैं। लेकिन यह माया मोह अतिविचित्र है। लोग इस अवस्थामें भी अपना हित नहीं पहचान पा रहे हैं। लक्ष्य नहीं समझ रहे हैं। अपना अहित ही अहित करते जा रहे हैं। हित क्या ? अहित क्या इसे पहचाननेकी भी कोई कोशिश नहीं करता। जो क्षणिक सुख प्रदान करे वही हित। जहां थोड़ा भी क्लेश दिखाई दिया वही अहित, इतनी ही पहचान है। किन्तु यह पहचान नहीं है, भ्रम है। अनुभवी महापुरुष तथा शास्त्री ही हिताहित विवेक करके बता सकते हैं। इस शरीरमें आसक्त रहना ही "यस्यां जाग्रति भूतानि है"।

शरीरके साथ-साथ इन्द्रिय एवं मन आदिके विषयमें भी यही सोचना समझना चाहिये कि ये भी केवल साधन है, साध्य नहीं। वैसे तो कान आंख आदि इन्द्रियोंको देखने सुनने आदिका साधन ही सब समझते हैं। किन्तु विषय प्राप्त इन्द्रियोंको साध्य समझते हैं।

अर्थात् विषयोपभोग होने पर इन्द्रियोंकी सफलता एवं कृत-कृत्यता समझते हैं। रेडियोमें गायिकाओंका गायन सुना तो प्रसन्नता हुई। कृतार्थता अनुभूत होने लगी। सिनेमा देखा, पिक्चर देखा, पिकनिकमें निकलकर नाना नगर पर्वतादिको देखा तो आंखोंमें तृप्ति होने लगी। बहुतसे लोग इंग्लैंड अमेरिका आदि जाकर आते हैं। फिर वहांका वर्णन करने लगते हैं। मानो कि उनका जीवन धन्य धन्य हो गया। यही तो आंखोंको साध्य मानना है। दार-पुत्रादि को गलेसे लगाया, आलिंगन किया तो जो क्षणिक सुख हुआ उससे समझने लगे—मैं संसारमें परिपूर्ण हो गया और फिर आगे—"तनये तनोयोत्पत्ति" पुत्रका पुत्र हुआ—पौत्र हुआ तो फिर क्या कहना है—"तस्य स्वर्ग इहैव हि"। उसका स्वर्ग—लोक तो यहीं पर हो गया। उसके जीवनमें अब कुछ बाकी नहीं रह गया। पोते का कोमल शरीर स्पर्श करते-करते इह लोक परलोक सभी क्षणभरके लिये भूल जाते हैं। यही स्पर्शेन्द्रियको साध्य समझनेका अर्थ है। रसनेन्द्रियकी भी यही स्थिति है। कोई मिठाई खाकर प्रसन्न है, दूसरा भेल पूरी खाकर। कोई तो मांस मदिरा भक्षण कर रास्तोंमें बेहोश पड़े हैं। उसीमें वे अपने जीवन की सफलता मान रहे हैं। यह सब उदारहण मात्र है। विषय सैकड़ों नहीं, हज़ारो नहीं, अनन्त हैं। इन्हीं विषयोके उपभोगमें ही जीवन बिताना, यही इन्द्रियोंको साध्य रूपमें समझना है। यही "यस्यां जाग्रति भूतानि" है।

ये इन्द्रियां भी साध्य नहीं, साधन है। इनको जब साध्य मानने लगते हैं तो जब ये क्षीण हो जाती हैं तब भारी दुःख होने लगता है। क्योंकि साध्य विषयभोग संपन्न नहीं होता। एक आदमीको मैं जानता हूं। उसकी आंखमें मोतिया आ गया। ऑपरेशन ठीक नहीं हुआ तो कई वर्षों तक वह रोता ही रहा। क्योंकि विषयोपभोग नहीं हो पा रहा था। वह वर्षों तक डाक्टरको गाली देता रहा। परंतु एक ऐसे आदमीको भी देखा, जिसकी आंख खराब

हुई तो कुछ दिन मनमें कुछ लगा, किन्तु थोड़े दिनमें सम्हल गया। जब कि पूरा शरीर ही जानेवाला है तो एक आंखकी क्या बात है ? ये सभी इन्द्रियां केवल साधन है। इन्हें साध्य मानना भूल है।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन
दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन
विभाति कायः खलु सज्जनानां
परोपकारैर्न तु चन्दनेन

श्रोत्र शास्त्र श्रवणके लिये साधन है। इसीसे उसकी सफलता है। वेदान्त शास्त्रका श्रवण करो परमार्थतत्त्वज्ञान प्राप्त करो। जब तक तत्त्वज्ञान प्राप्त न हो तब तक श्रवण करते जाओ करते जाओ। श्रवण करते-करते तत्त्वज्ञान होनेपर फिर श्रोत्रका उपयोग नहीं। फिर श्रोत्र भले रहे, भले बधिर हो जाय। दोनों स्थितियोंमें संतोंको न खुशी है और न अपसोस। परंतु जिन्होंने श्रोत्रको साधन समझा, विषयपभोग साध्य समझा उनको खुश एवं शोक होता है। क्योंकि विषयोपभोग स्थायी नहीं होता । श्रोत्रसे विषयोपभोग प्राप्त न होने पर क्लेश है। श्लोकमें श्रोत्रसे नेत्रादि सभी इन्द्रियां ग्राह्य हैं। कुण्डलेन से विषयोपभोगेन भी समझना चाहिये। इसी प्रकार पाणिपादादिकी भी बात है। सज्जन अर्थात् सत् परमात्माको ही अपनानेवाले संतजनोंका शरीर सत्यप्राप्ति होनेसे केवल परोपकार मात्रार्थं अन्तमें उपयोगी होता है। दिखावेके लिये वस्त्र आभूषणादिसे प्रदर्शनी करनेके लिये नहीं, चंदन इत्तर आदिसे सुवासित करनके लिये नहीं। अतएव देहके रहने और न रहनेकी अवस्थामें न हर्ष उन्हें होता है और न शोक ही होता। इन इन्द्रियोंके विषयोपभोगको साध्य रूपसे देखना ही "यस्यां जागर्ति भूतानि" है। बल्कि विषय सेवन भी साधन ही है, साध्य नहीं है। अत एव श्रीमद्भागवतमें बताया—

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः किन्तु जीवेत यावता
जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः

विषयोपभोग इन्द्रिय प्रीति साध्यके लिये नहीं। किन्तु खाना पीना आदि सभी जीवनार्थ है और जीवनका प्रयोजन तत्त्व जिज्ञासा है। फलतः परम्परया काम का भी प्रयोजन तत्त्व जिज्ञासा ही है।

इन्द्रियोंके साथ मन बुद्धि चित्त अहंकार पर भी निगाह डालो। ये भी हर प्रकारसे साधन है। साध्य नहीं। जैसे शब्दादि विषय सेवनसे इन्द्रिय प्रीति होती है और लोग उसे ही साध्य मानते हैं; वैसे धनजनादि संपदासे मनकी प्रीति होती है। उसे भी साध्य मानते हैं। धन बहुत आ गया, लखपतिसे करोड़पति हो गया, करोड़-पतिसे अरबपति हो गया तो फरक क्या पड़ता है? रोटी तो जो पहले चार-छः खाते थे, उतने ही खाये जा सकते हैं, हां चारसे दो पर आ सकते हैं। विषय सेवनकी सीमा होती है। अधिक सेवनसे अधिक इन्द्रिय प्रीति नहीं होती। बल्कि विषय सेवनसे शक्तिका ह्रास ही होता है। अतः धनसे केवल क्षणिक मनः प्रीति ही होनी है। वैसे मान संमानादिसे भी क्या होता है? केवल मनः प्रीति होती है। किसी इन्द्रियकी प्रीति नहीं। इस मनः प्रीतिको साध्य समझना यही मनको साध्य समझनेका मतलब है। कुछ लोग धन जनादि एवं मान संमानादिसे प्रसन्न होते हैं तो कुछ लोग पर-धननाश, पर-अपमानादि-से भी प्रसन्न हो जाया करते हैं। क्या इस प्रकारकी मनः प्रीति साध्य हो सकती है। इस प्रकार बुद्धिकी भी बात है। कोई अपनी चालाकी की सफलतासे संतुष्ट है। कोई वैज्ञानिक आविष्कार करने पर अपने-को कृतकृत्य मानता है। कोई ग्रन्थ रचनासे अपनी पूर्णता समझता है। यह सब बुद्धिको साध्य माननेका नमूना है। इसी प्रकार चित्त एवं अहंकारकी भी बात है। संत लोग कहते हैं कि मन आदि भी साधन है। मनसे आत्म तत्त्वका मनन करो। बुद्धिसे निदिध्यासन पूर्वक आत्म तत्त्व साक्षात्कार करो। आत्म तत्त्वकी प्राप्तिके बाद

मन बुद्धि रहे या न रहे, उनको कोई परवाह नहीं होती। आत्म तत्त्व प्राप्त होने तक मन बुद्धिकी जरूरत है। वेदशास्त्र परिशीलन करना चाहिये।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः

ग्रन्थका अभ्यास करो। वेदशास्त्रोंको खूब पढ़ो। तदर्थं मेधावी भी बनो। बुद्धिमान बनो। एतदर्थं परमेश्वरकी प्रार्थना भी करो।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तयामामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु

आदि प्रार्थना करो परमेश्वरकी। किसलिये ?—ज्ञान-विज्ञान तत्परः। यह साधन है। उससे ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करो। शास्त्रीय ज्ञान-ज्ञान है और निदिध्यासन जन्म साक्षात्कार विज्ञान है। इन्हींके लिये ग्रन्थाध्ययन है और मेधा भी है। ये दोनों जहां प्राप्त हो गये वहां धानसे चावल निकालनेके बराबर ग्रन्थसे ज्ञान-विज्ञान निकाल-कर फिर उन ग्रन्थोंको भी त्यागो, जैसे चावल निकालकर भूसीको त्याग देते हैं। तत्त्वज्ञानी होनेके बाद फिर ग्रन्थोंकी भी आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार मन बुद्धि दानों साधन हैं। साध्य नहीं।

चित्तसे चिन्तन होता है। चिन्तनसे एकाग्रता होती है। एकाग्रता का भी अन्तिम परिणाम समाधि है। समाधिसे अद्वैत भाव होता है। जब तक चित्तवृत्तियां बनती रहती हैं तभी तक द्वैतभाव रहता है। चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाने पर फिर कहां द्वैतभाव रह जाता है ? यदि कहें कि चित्तवृत्ति न हो तो अद्वैत भाव भी कहां रहेगा ? भले न रहे। हमे भावसे कोई मतलब नहीं है। अद्वैत अवस्था तो है ही। आत्मा प्रकाश तो रहेगी हां। द्वैतप्रकाश नहीं रहेगा। यही अद्वैत अवस्था है। इसी लिये आचार्यने दशश्लोकीमें कहा—

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात्
न चाकेवलत्वं न वा केवलत्वम्

एक भी नहीं है दो चार कहांसे हो? एक तो एकत्व संख्याको लेकर कहा जाता है। वहां गिनती करनेवाला कौन है, जो गिनतीमें एक कहे। यही चित्तकी परमार्थ साधनरूपता है।

अहंकार भी अज्ञानी लोगोंके लिये गर्व अभिमान आदिसे साध्य बन जाता है। परंतु ज्ञानी पुरुषके लिये "अहं ब्रह्मास्मि" भावनाके लिये साधन रूप है। अज्ञानी लोग– मैं धनी, मैं मानी, मैं पंडित, मैं ऊंचा इत्यादि अभिमानकर अहंकारको साध्य बनाते हैं। तत्त्ववेत्ता "अहं ब्रह्मास्मि" भावनासे सकल परिच्छेदको मिटाकर पूर्णता प्राप्त करनेके लिये अहंकारका उपयोग करते हैं। अहंकारका उपयोग अहंकारको मिटाना ही है।

इस प्रकार शरीर इन्द्रियादि कोई भी साध्य नहीं है तो विषयोंकी तो बात ही क्या? शब्द स्पर्शादि एवं धन जनादि विषयोंको सम्पन्न करनेमें ही लोग लगे हैं। इस प्रकार विषयोंको तथा शरीरादिको साध्य समझकर उनके सम्पादनमें लगे रहना यही इन अनात्मपदार्थोंमें जागरण है। यही भगवान कहते हैं—यस्यां जाग्रति भूतानि।

यहां भाष्यकार भगवान शंकराचार्यने विलक्षण अर्थ किया है। यस्यांका शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण एवं विषयरूपी अनात्म पदार्थोंमें ऐसा अर्थ भाष्यमें नहीं किया। वहां बताया है—"**यस्यां निद्रायां स्वप्नलक्षणायां**" अर्थात् सभी प्राणी अग्रहण एवं अन्यथाग्रहणरूपी निद्रामें जागृत है। निद्रा और जागरण विरुद्ध है। निद्रामें जागृत कैसे? जैसे एक लड़केने कहा कि मैं पूरी क्लासमें फस्ट हूं। प्राश्निकने पूछा, अरे। तूं तो फैल होता रहता है तेरेको कुछ आता नहीं फिर कैसा फस्ट? लड़केने कहा कि मैं मूर्खोंमे फस्ट हूं। मेरे

बराबरका कोई मूर्ख क्लासमें नहीं है। मूर्ख होना और फस्ट होना यह प्रथम सुनते समय विरुद्ध लगेगा। परंतु है यथार्थ। वैसे निद्रा और जागरण दोनों विरुद्ध हैं। किन्तु है यथार्थ। निद्रामें ही हमेशा लगे रहना यही निद्रामें जागरण है। निद्रा क्या ? तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण। तत्त्वका अग्रहण सुषुप्ति और मूर्छामें है। अन्यथा ग्रहण स्वप्न और जाग्रतमें है। शरीर इन्द्रिय विषय आदि सभी अन्यथाग्रहणका ही परिणाम है। इन सबमें जागृत रहना ही निद्रामें जागृत रहनेका मतलब है। जिसकी व्याख्या हम कर आये।

सा निशा पश्यतो मुनेः। परमार्थ विषयमें सभी प्राणी अंधेरेमें पड़े हुए हैं। उसमें संयमी संत जागृत है। इसके विपरीत जिस संसारके विषयमें सभी प्राणी जागृत हैं उस विषयमें संयमी महापुरुष आंख मूंदे हुए हैं - अंधेरेमें पड़े हैं। परमात्माके विषयमें प्राणियोंकी तीन अवस्थायें बतायी—स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्च्छा और एक चतुर्थ अवस्था मरणावस्था भी पशु-पक्षी आदिकी बतायी। इसके विपरीत तत्त्ववेत्ता संयमीके भी संसारके बारेमें तीन अवस्थायें होती है। स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्च्छा। चतुर्थ अवस्था यहां भी वक्तव्य रूपमें नहीं रहती। इन्हीं अवस्थाओंको लेकर "सा निशा पश्यतो मुनेः" बताया।

संसारमें प्रसुप्तको समझनेके लिये परमात्मामें प्रसुप्तका पुनरीक्षण करना आवश्यक है। परमात्मामें कुछ तो सुप्त है – सपना देख रहे हैं अर्थात् अन्यथा ग्रहणकर रहे हैं। दूसरे सुषुप्त हैं, परमात्माका निषेध करनेवाले नास्तिक हैं और तीसरे मूर्च्छित हैं जो न परमात्मा-को "हां" कहता है और न "न" कहता है अर्थात् अत्यन्त पामर। परमात्माको मानते हुए भी नानामतावलम्बी विवादमें पड़े हैं। जैसे हमने पहले बताया—कोई कृष्णको परमात्मा मानता है, दूसरोंकी निंदा करता है। कोई शिवको परमात्मा मानता है, दूसरोंकी निंदा करता है एवं विष्णु देवी आदि देवोंको भी लेकर। इन्हें संसारमें

सुप्त "पश्यतो मुनेः" का उदाहरण नहीं माना जा सकता। वे "यस्यां जाग्रति भूतानि" के ही उदाहरण हैं। क्योंकि ये परस्पर विरोधी रूप है। इसीलिये व्यासजीने बताया—

"विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्"

एक ही जानवरको एक कहता है बकरा। दूसरा कहता है भैंसा। तीसरा कहता है हाथी। तो ये परस्परविप्रतिषिद्ध है। अतः कोई मत उपादेय नहीं हैं। यदि यह कहें कि तीनोंमें परस्पर विप्रतिषेध हो। किन्तु उनमें एक तो सत्य होगा, दो ही झूठे होंगे। उत्तर यह है कि वहां प्रत्यक्ष निर्णायक है। परन्तु परमात्मामें कौन निर्णायक है ? शास्त्र निर्णायक कहें तो सभी शास्त्र प्रमाणको ही आगे रखकर कह रहे हैं। सबके पास अपनी-अपनी प्रबल युक्ति है। सभी अपनेको ही यथार्थ मानते हैं। अतएव यहां पक्का विप्रतिषेध है और वस्तु स्थिति यह है कि वह परमार्थ तत्त्व वादका विषय ही नहीं है। वादका जो विषय बना वह परमार्थ तत्त्व ही नहीं है। इसीलिये भक्ताग्रणी नारदजीने भी सूत्रमें लिखा है—

"वादो नावलम्ब्यः"

वाद का अवलम्बन न करो। वादसे विवाद बढ़ेगा। तत्त्वका निर्णय होगा भी नहीं। क्योंकि परमार्थ तत्त्व वादका विषय नहीं है। वाद-विवाद संसारके बारेमें ही हो सकता है। परमात्माके बारेमें नहीं। गौड़पाद कारिकामें आया—

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥

उस ब्रह्ममें मात्रास्पर्श-इन्द्रिय स्पर्श नहीं होता, विवाद स्पर्श नहीं होता और विरोध स्पर्श भी नहीं होता। अतएव ब्रह्म स्वभाव होनेके कारण ब्रह्मयोग अस्पर्शयोग है। वह सुख भी एवं हित भी है। उसमें कोई विवाद नहीं हो सकता और कोई विरोध नहीं हो सकता। इस

लिये ये जितने विवाद चल रहे हैं, विरोध हो रहे हैं सभी सपनेमें ही हो रहे हैं। सपनेमें ही जागरण हो रहा है। साकार निराकार विवाद भी स्वप्न जागरण है। क्योंकि परमार्थ तत्त्व तो वाणीका ही विषय नहीं है तो विवादका विषय कहांसे होगा।

"यतो वाचो निवर्त्तन्त अप्राप्य मनसा सह"।

यही श्रुतिका कहना है। जहां वाणीकी पहुंच नहीं है, वहां विवादके लिये कहां अवसर है? विवाद हमेशा ही संसारको लेकर होता है।

यह तो विवाद करनेवाले स्वप्न द्रष्टाओंकी बात हुई। जो विवादमें नहीं पड़े हैं ऐसे भी कई आस्तिक हैं, जो परिच्छिन्न तत्त्वको ही परमात्मा मान बैठे हैं। वे भी संसार विषयोंमें सुप्त 'पश्यत् मुनि' नहीं है। वे भी संसारमें जागृत है। वे संसारमें सुप्त नहीं, किन्तु परमात्मामें ही सुप्त है—सपना देख रहे हैं। क्योंकि परिच्छिन्न तत्त्वको परमात्मा माननेवाले वे संसार विषयोपभोगको ही कामना रखते हैं। अतः संसारमें जागृत हैं। वे परमात्माका भजन करते हुए भी धनदार सुतादिकी कामना करते हैं—हे भगवान् हमें धन दो, सुत दो, रहनेका अच्छा मकान प्राप्त हो इत्यादि हजारों कामनायें वे भगवानसे करते हैं। कुछ लोग शास्त्र सुन-सुनकर इन कामनाओं को छोड़ देते हैं। फिर भी कामनाका सर्वथा त्याग नहीं करते। वैकुण्ठ लोक प्राप्त हो, कैलास लोक प्राप्त हो इत्यादि भी कामना ही है। उनके मोक्षका भी रूप है—

"जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा"

वैकुण्ठमें नित्य मधुर प्रसाद खाने मिलता है। लीलायें होती हैं। अप्सराओंके साथ रमण करते हैं, विमानोंमें घूमते हैं, यही उनका मोक्ष है। यह तो फिर उससे भी भारी कामना हुई जो पामर करते है। इन सबने शरीर इन्द्रियादिको तो क्या—भगवानको ही भोगोंका

साधन बना दिया है। भगवान साध्य नहीं, धनदारादि लोक-परलोक भोगादि संपादनका साधन है. यही उनकी मान्यता है। भले वे शब्दतः न कहें, पर भाव यही निकलता है। एक माताजी मुझे बोलने लगीं—मैं पहले भगवानका बहुत भजन करती थी। मैंने ठाकोरजीकी पूजा भी रखी थी, भोग लगाती थी, सुबह-शाम सर्वोत्तम स्तोत्र भी पढ़ती थी। लेकिन अब मैंने सब कुछ छोड़ दिया। मैंने पूछा—क्यों छोड़ा ? वह बोली—मेरा छोटा लड़का कुसंगसे बिमार हो गया। उसको क्षयरोग हो गया था। मैंने भी पूजापाठ किया, पंडितोंसे भी कराया। लेकिन वह बचा नही। तबसे मैंने समझ लिया कि भगवानके लिये पूजा पाठ आदि करना सब व्यर्थ है। मैंने कहा—कुसंगसे वह बीमार हो गया तो उसकी गलती थी तो उसको भगवान ने दण्ड दिया। तुमने पूजापाठ किया तो उसका फल तुमको मिलेगा कि लड़केको मिलेगा ? अपने-अपने कर्ममें सभी बंधे हैं। तात्पर्य यह कि यहां स्पष्ट है कि लोग भगवानको पुत्र रक्षा, धन रक्षा आदिका साधन मानते हैं। पुत्रको रास्ते पर लानेका प्रयास बचपनसे स्वयं नहीं किया। अब भगवानसे उसकी रक्षा करवाना चाहते हैं तो यह कैसे होगा। भगवानसे अपना कार्य पूरा नहीं हुआ देखकर भगवानको ही छोड़ दिया। यही भगवानको साधन बनानेका अर्थ है। भगवान साध्य है, साधन नहीं है। साध्यको साधन समझना भी संसारमे जागरण है। "यस्यां जाग्रति भूतानि" का उदाहरण है। तब जागरणमें सुप्ति कैसे होगी ? "सा निशा पश्यतः" कैसे होगी।

शिकार खेलते-खेलते राजा बहुत थक गया था। बड़ी प्यास लगी थी। चारों ओर देखा तो जगल ही जंगल नजर आ रहा था। कहीं नदी नहीं, स्रोत नहीं, तालाब नहीं, कुंआ नहीं। थोड़ दूर चलते-चलते एक झोपड़ी नजर आयी। सायंकाल सूर्यास्तका समय हो रहा था। एक भील पश्चिमकी ओर मुंह करके प्रणाम कर रहा था। राजाने सोचा, यह कोई अच्छी जातिका आदमी दीखता है। घोड़से उतरा।

उससे पानी मांगा तो बड़े प्रेमसे बैठाकर उस भीलने पानी पिलाया। कन्दमूल खिलाया। राजाके मनमें सद्भाव हुआ। यह भक्त भी है, उदार भी है। राजाने बदलेमें पारितोषिक देना चाहा और कहा, तुम कभी भी राजमहलमें आना। मैं राजा हूं। तुम्हें बहुत बड़ा लाभ कराऊंगा। राजा चला गया। कुछ दिन बीत गये। भीलने सोचा कि राजाने मुझे बुलाया है तो एक रोज जाऊं। वह राजमहलमें पहुंचा। पहले द्वारपालोंने रोका। तब तक राजाने ऊपर मालेसे देखकर पहचाना और अन्दर बुलाकर बड़ा सम्मान किया। उसको रहनेके लिये सजाया गया कमरा दिया गया।

सायंकाल दिया जलाकर राजाने संध्या की, और पूजा पाठ करने लगा। हाथ जोड़कर भगवानसे प्रार्थना कर रहा था। तो भीलने पूछा—आप यह क्या बोलते हो? राजाने कहा—मैं भगवानसे प्रार्थना कर रहा हूं।

"रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो देहि"

हे भगवन्! आप मुझे रूप दो, विजय प्रदान करो, धन दो यश दो, मेरे शत्रुओंको नष्ट करो। भीलने पूछा—आपको यह सब मांगनेकी क्या जरूरत है? राजाने कहा मैं पहले छोटा सा जागीरदार था। भगवानसे प्रार्थना की तो उनकी कृपा हुई। तब यह राज्य प्राप्त हुआ। तुम्हें भी भक्त देखकर मैंने महलमें बुलाया। भीलने कहा—तब मुझे तुमसे मांगनेकी क्या जरूरत? मैं सीधा भगवानसे ही नहीं मांग सकता? तुम्हें बीचमें दलाल बनानेकी क्या जरूरत? मैंने कभी भगवानसे कुछ नहीं मांगा। अरे, मुझे तुम्हारा कोई धन दौलत नहीं चाहिये। वह वहांसे चल पड़ा। लोग इसी प्रकार परमेश्वरको धनदारादि प्राप्तिका साधन मानते हैं। जबकि परमेश्वर स्वयं परमसाध्य है। साधन बनाना परमात्माका मूल्य घटाना है।

परमात्माके बारेमें शैव, वैष्णव, शक्तादि जो विवादमें पडे हैं, वे सभी अन्यथा ग्रहणके कारण स्वप्न ही देख रहे हैं, निशामें ही पड़े हैं।

तथा जो विषयकामनाके कारण परमात्माको साधन रूप मान बैठे हैं, वे भी अन्यथा ग्रहण स्वप्न दख रहे हैं, निशामे ही पड़ हैं। उस निशामें वे जागृत हैं इसलिये "यस्या जाग्रति भूतानि" का ही वे उदाहरण हैं। नास्तिक एव अति पामरोको तो यहा पुनः उठाना ही बेकार है। क्योंकि वे तो अन्यथा ग्रहणात्मक स्वप्नावस्था रूपी निशाम नित्य जागृत हैं हा। अत. इन सबसे पृथक ही "सा निशा पश्यतो मुनः" का उदाहरण होगा। जो संसारमायाको पार कर उसे देखते नही, जिनके लिये ससार निशा होनेसे दृष्टिगोचर नही होता। ऐसे महापुरुष पश्यत् मुनिके भी तीन भेद हैं। जैसे हम पहले बता आये—सुप्त, सुषुप्त एव मूर्च्छित।

इन तीनोको समझनेके लिये हमें सप्त भूमिकाकी ओर फिरसे एक बार दृष्टिपात करना पड़ेगा। सात भूमिकाओंम प्रथम तीन भूमिका तो "यस्या जाग्रति भूतानि" का ही उदाहरण है। शुभेच्छा परमात्माकी प्राप्तिके लिये हुई। जहां इच्छा है वहां अपूर्णता निश्चित है। चाहे वह संसारकी इच्छा हो चाहे परमात्माकी। फरक इतना ही है कि संसारकी इच्छा अशुभेच्छा है, और परमात्माकी इच्छा शुभेच्छा है। पूर्णता जहां होती है वहां इच्छा नहीं हो सकती। वहां तृप्ति होती है। इसीलिये न्याय धुरंधर गदाधर भट्टाचार्यने भी "पूर्णाय=तृप्ताय" इस प्रकार पूर्ण शब्दकी व्याख्या की। जहां इच्छा है, वहा तृप्ति नहीं, जहां तृप्ति नहीं वहां पूर्णता नहीं, जहां पूर्णता नही वहां परिच्छिन्नता अवश्यंभावी है। जहां परिच्छिन्नता है, वही ससार है। वही अन्यथा ग्रहणरूपी निशा है। उसीमें शुभेच्छा कालमें भी जागरण होनेसे "यस्यां जाग्रति" का वह भी विषय है।

शुभेच्छाके बाद शास्त्र श्रवण विचारणात्मक सुविचारणा शुरू हुई। यह भी संसारकालमें ही होती है। क्योंकि विचारणामें पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष दोनों होते हैं। दोष दर्शन तथा गुण दर्शन दोनो होते हैं। जगत् मिथ्या है या सत्य है ? ब्रह्म अद्वितीय है या साद्वितीय है इत्यादि

अनेक विकल्प युक्त है विचारणा। तथा कर्तृभावना समन्वित है। अतएव यह भी संसार जागरण कालीन ही होती है।

तृतीय तनुमानसा निदिध्यासनकी प्राथमिक अवस्था है। उस समय मनमें सङ्कल्प विकल्पादि तनु होते हैं। ब्रह्माकारवृत्ति प्रवाह चलता है। परन्तु वह भी अहङ्कार परिच्छेद कालमें ही होता है। द्रष्टा, दृश्य दर्शन त्रिपुटीका श्रवण मननके द्वारा परोक्ष बाध होने पर भी अपरोक्षतया सब कुछ दीखता है। क्योंकि परोक्ष बाध अपरोक्ष बाध अपरोक्ष भ्रमका निवर्त्तक नहीं है। आकाश नीला नहीं है, ऐसा परोक्ष बाध है। किन्तु आंख जभी खोलते हैं तो आकाश नीला ही दीखता है। वैसे शास्त्रके द्वारा हमने बार-बार सुना जगत् मिथ्या है। किन्तु यह जब तक सुनते हैं तभी तक रहता है। जहां सत्संगसे बाहर निकले वहीं सारा जगत् पुनः सत्य दीखने लगता है। अतएव तनुमानसाकालमें भी जागरण ही संसारमें है।

इन तीनों तक "यस्यां जाग्रति भूतानि" का ही उदाहरण रहेगा। इसके बाद चौथी भूमिका ब्रह्मसाक्षात्कार की है। यही सत्त्वापत्ति है। यही निदिध्यासनका प्रथम फल है। परन्तु इसको भी महात्मा लोग संसार जागृत अवस्था ही मानते हैं। तब अन्य अवस्थाओंमें और सत्त्वापत्तिमें क्या फरक ? फरक यही कि उस समय ब्रह्मवित् होनेसे ब्रह्ममें भी जागृत है। दूसरे लोग ब्रह्ममें सुप्त हैं, संसारमें जागृत हैं। सत्त्वापत्तिवाला ब्रह्ममें भी जागृत हैं, संसारमें भी जागृत है। श्रवण मनन निदिध्यासनसे ब्रह्ममें जागृत हैं, किन्तु संसारका पूरा बाध नहीं हुआ। अतः संसारमें भी जागृत हैं। प्रायः उपदेष्टा गुरू आदि इसी भूमिकाके होते हैं। संसारमें जागृत न हो तो उपदेश देवे किसको? प्राणियोंके दुःखोंको देखकर उन्हें दया होती है। यदि प्राणियोंका दुःख बाधित हो तो दया करे किस पर ? यहां भी शिष्योंकी योग्यता अयोग्यता आदिका विचार गुरू करते हैं। अधिकारी अनधिकारीका विवेचन करते हैं। यह सब द्वैतमें ही सम्भव है। जब द्वैत दीखता है

तब अद्वैत साक्षात्कार किस प्रकार ? अद्वैनसे द्वैत बाधित होता है। अधिष्ठान साक्षात्कारसे आरोप्य निवृत्ति होती है। तब संमार जागरण कैसे सम्भव है? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि ज्ञानकी अनेक कोटियां होती है। अपरोक्षज्ञान भी अदृढ़-दृढ़-दृढ़तर इस प्रकार अनेक विध है। निदिध्यासनसे होनेवाला प्राथमिक ज्ञान अपरोक्ष होने पर भी दृढ़ नहीं होता और दृढ़ भी हो फिर भी संसार बन्धनमें असमर्थ रहता है। जैसे रस्सी है ऐसा निश्चय भी हो रहा है, सर्प जैसा दीख भी रहा है। इसे अर्धसुप्त भी कह सकते हैं।

इसके बाद असंसक्ति भूमिका आती है. इसमें पूरा बाध होता है। सात भूमिकाओंमें इस भूमिकाको सुप्नावस्था कहते हैं। यह "सा निशा पश्यतो मुनेः" का प्रथम उदाहरण है। जगत् वह यद्यपि देख रहा है। किन्तु कहीं भी संसक्ति नहीं है। अतएव किमी पर शोक नहीं मोह नहीं और दया भी नहीं होगी। दया भी तभी होती है जब दुःखसे नफरत और सुखसे प्रसन्नता हो। तव प्राणियोंकी दुःख निवृत्ति एवं सुख प्राप्तिके लिये दया हो सकती है। असंसक्ति भूमिमें राग-द्वेष जब मर्वथा मिट जाता है तब दुःख निवर्त्तन और सुख प्राप्तिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसे महापुरुष प्रारब्धवशात् अपने मुंहसे कुछ निकालते हैं तो वही संसारियोके लिये उपदेश एवं आशीर्वाद होता है। वज्रेश्वरीके प्रथम सन्त पायः असंसक्ति भूमिकामें रहते थे। हजारों लोग दर्शनार्थ जाते थे। कुछ बोलते नहीं थे। कभी मुंहसे कुछ निकला तो उसे लोग आशीर्वाद वचन मानते थे। कुछ मनीषी सत्त्वापत्ति भूमिकाको भी स्वप्नावस्था मानते हैं। किन्तु उसे अर्ध स्वप्न मानना ही उचित है। स्वप्नावस्था तो पंचमीमें ही स्पष्ट है।

पदार्थाभावनी यह षष्ठभूमिका सुषुप्तावस्थाका उदाहरण है। पदार्थाभावनी इस नामका अर्थ है—पदार्थोंकी भावना जब न हो। कोई वस्तु ही उनको नहीं दीखती। अर्थात् वे हमेशा समाधिमग्न

ही रहते हैं। जैसे सुषुप्तिमें कुछ नहीं दीखता वैसे समाधिमें भी कुछ नहीं दीखता। हां, इतना जरूर है कि जैसे सुषुप्तको कोई उठावे तो उठता है, वैसे समाधिसे कोई उठावे तो उठ भी सकता है। किन्तु स्वप्नावस्थासे नीचे नहीं आ सकता। काशीमें पुराने समयमें एक बड़े संत रहते थे। उनका नाम तैलंग स्वामी पड़ गया था। वैसे तैलंग कोई नाम नहीं है। कभी वे तेलुगुमें कुछ बात करते रहे होंगे। उसको लेकर तैलंग स्वामी नाम पड़ गया और वैसे उनका नाम धामका किसीको पता नहीं था। हमेशा वे छठी भूमिकामें रहते थे। किसीने जगाकर कुछ खिलाया तो खाया। अन्यथा खाते भी नहीं थे। उनको काशीवाले सब शंकर स्वरूप मानते थे। किन्तु अज्ञानी आस्तिकोंकी भी कहीं कमी नहीं होती। लोग गतानुगतिक होते हैं। पहले पहले भक्त लोग उनपर पुष्प चढ़ाते थे। किन्तु धीरे-धीरे जल चढ़ाना भी शुरू किया। ठंढीके दिनोंमें काशीमें कितनी ठंढी पड़ती है। ये अवधूत होकर बैठे रहते थे तो जल चढ़ाना ही शुरू कर दिया। जल चढ़ाने पर कोई पोंछनेवाला तो रहता नहीं था तो पानीसे चमड़ी सड़ने लगी। जैसे वारिसमें पांव सड़ने लगता है। आखिर कुछ समझदार भक्तोंने उनके चारो ओर पहरा बैठा दिया तब जाकर जल चढ़ाना बंद हुआ। षष्ठ भूमिकाके ये संत उदाहरण हैं। वे तो प्रायः संसारके बारेमें सुषुप्त ही रहते हैं। ऐसे महापुरुषोंसे उपदेशका लाभ प्राप्त नहीं होता। केवल ऐसे संतोंका दर्शन ही महापुण्यदायी होता है। यह अवस्था भी "सा निशा पश्यतो मुनेः" का उदाहरण है, श्रेष्ठ उदाहरण है।

तुरीयगा यह सातवीं भूमिका है। यह मूर्च्छावस्था है। तुरीयगामें तो नित्य समाधि मानी जाती है। समाधिसे उसका व्युत्थान नहीं होता। उसके भोजनादि क्रिया सभी बन्द हो जाती है। इसीलिये संतोंमें यह प्रसिद्ध है कि तुरीयगामें पहुंचनेके बाद महापुरुष इक्कीस दिनसे अधिक जीवित नहीं रहते। वैसे तो योगी लोग हजारो वर्ष

तक रहते हैं, रह सकते हैं। परंतु उसके लिये भी संकल्प चाहिये। विशेष प्रकारकी समाधि लगानी होती है। यहां तो न संकल्प ही होता है और न अमुक प्रकारकी समाधि लगानी होती है। पंचमी भूमिकामें ही संकल्प कामना आदि समाप्त हो जाते हैं।

"न जीवते गृधिं कुर्यान्न मरणे"

न उन्हें जीवनकी लालसा रहती है और न मरणकी ही इच्छा होती है। फिर षष्ठ और सप्तम भूमिकाकी बात ही क्या। सप्तभूमिकामें जो समाधि है। वह सविध समाधि नहीं है, सहज समाधि है।

"मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः"

यह सविध समाधि है। यम नियमासन्न पूर्वक प्राणायाम करते हुए जो प्रत्याहारादिके द्वारा समाधि लगाते है उसको सविध समाधि कहते हैं। षष्ठ सप्तमादि भूमिकावालोंके लिये न आसन रहता हैं और न प्राणायामादि ही। अतएव इनकी समाधि सहज समाधि होती है। सहज समाधि दो प्रकारसे होती है। एक तो नाम रूप दर्शन कालमें ही नाम रूप दर्शन बाधके साथ अस्ति भाति प्रिय दर्शन करना। यही वेदान्तकी सविकल्पक समाधि है। यहां वितर्क विचारानन्दास्मितानुगत योगियोंकी सप्रज्ञात समाधि नही है। किन्तु 'पश्यन् श्रृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्" देखते हैं, सुनते हैं, चलत हैं, फिरते हैं, फिर भी समाधिमें स्थित हैं, ऐसी समाधि है। छठी तथा सातवीं भूमिकामें निर्विकल्पक समाधि रहती है। वहां नामरूपदर्शन नहीं रहता। सच्चिदानन्द रूपेण नित्य आत्मदर्शन ही होता है।

पश्यतो मुनेः। संयमीका ही यह ससाधन स्वरूप वर्णन है। मुनिका अर्थ है मननशील। तथा निदिध्यासन कुशल। मनन भी स्वतन्त्र रूपसे नही, किन्तु गुरुमुखसे वेदान्त श्रवण करनेके बाद तदनुरूप मननादि करो।

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्
बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः
अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः

इस प्रकार बृहदारण्यकमें बताया है। पाण्डित्यका अर्थ है वेदान्त श्रवण जन्य ज्ञान। प्रथम पाण्डित्य प्राप्त करो अर्थात् गुरुमुखसे वेदान्तका श्रवणकर वस्तुतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करो। स्वयं पढ़नेसे ज्ञान नहीं होता। यह तो सागरमें जाकर पानी पीनेके बराबर है। गुरु बादलके समान खारे पानीको मीठा बनाते हैं। वेद सागरसे सार-सार निकालकर बताते हैं। प्रवचनमें रहस्य समझमें आयेगा। वैसे पढ़ेंगे तो फीका लगेगा। यही श्रवणोत्पन्न ज्ञान पाण्डित्य है। उस पाण्डित्यको निर्विद्य अर्थात् पूर्णतया प्राप्तकर फिर बाल्येन निष्ठासेत्-मनन करे। बाल्यका अर्थ है बलभाव। श्रवण तभी सबल होगा जब मनन होता है। इस प्रकार मननसे दढ़ीकृत श्रवण हो जाता है "बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य" मनन तथा श्रवण पूर्ण होता है तब मुनि बने। यहां मन्त्रमें मुनिका निदिध्यासनकारी अर्थ है। मुनि बने अर्थात् निदिध्यासन करे। उसी मुनिका—"पश्यतो मुनेः" यहां पर निर्देश है। अमौनं च मौनं च अर्थात् निदिध्यासन तथा उससे इतर श्रवण-मनन इनको पूरा प्राप्त करने पर अथ ब्राह्मणः- वह ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मदर्शी होता है। इसी ब्रह्मदर्शीको यहां पर "पश्यतः" शब्दसे बताया। इस "पश्यतः" ब्रह्मदर्शीके ही ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ ऐसे चार स्वरूप हम पहले कह आये। जो संसारमें अर्धजागृत, स्वप्नावस्थ, सुषुप्त एवं मूर्च्छित रूपमें अभी-अभी बताया गया।

पूर्वार्धसे संयमी शब्द आ ही रहा था। तब पश्यतो मुनेः यह विशेषण संयमीका ही विशेष स्वरूप बतानेके लिये दिया गया। अर्थात् स्थितप्रज्ञतामें श्रवण मनन एवं निदिध्यासन ही मुख्य साधन

है। योगमार्गीय संयमका प्रथम अनुष्ठान करो। धारणा, ध्यान, समाधिका अभ्यास करो। उसके अनन्तर भी श्रवण मननादि परमावश्यक है। क्योंकि परमात्मा केवल उपनिषद् वेद्य बताया है।

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"

ऐसा बृहदारण्यकमें बताया है। "औपनिषदं" यह विशेषण पुरुषके लिये दिया गया है। अर्थात् वह उपनिषत्से ही वेद्य है। अतएव उपनिषद् एवं तदनुगामी शास्त्रोंका श्रवण करना चाहिये और मुनि तक पहुंचना चाहिये। निदिध्यासनसे मुनि होने पर आत्म दर्शन होगा ही। वही परिपाकावस्थाको प्राप्त होने पर स्थितप्रज्ञता है। इस प्रकार विश्लेषण पूर्वक स्थितप्रज्ञताका स्वरूप वर्णन इस श्लोकमें किया गया ॥ ६९ ॥

•

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। २-७० ।।

[जिस प्रकार चारों ओरसे परिपूर्ण एवं अविचल प्रतिष्ठावाले ही समुद्रमें नदियो का जल प्रवेश करते हैं वैसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठ ही स्थितप्रज्ञमें सभी विषय प्रवेश करें तभी वही शान्ति पाता है, विषयोपभोगाभिलाषी नहीं]

स्थितप्रज्ञाका लक्षण सविस्तार बताया गया । इसके बाद स्थितप्रज्ञमें और संसारीमें क्या अन्तर है यह "या निशा सर्वभूतानां" इस पूर्व श्लोकमें बताया । संसारी पुरुष भी "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" का उद्घाष करना है और अपनेको स्थितप्रज्ञ भी मानता है । उसका तर्क है कि यदि हम धन संग्रहादि करते हैं तो संत महात्मा आदि भी तो खात-पीत चलते-फिरते हैं, व्यवहार करते हैं। भगवानने कहा व्यवहारको लेकर भेद नहीं बताया जा रहा है। किन्तु संसार और परमार्थ अत्यंत विरुद्ध है। एक निशा है, दूसरा दिन है। श्रुतिमें स्थितप्रज्ञता एवं माया मोहपरवशतामें बड़ा अन्तर बताया है। दोनोंको अत्यन्त विरूद्ध कहा है—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता
विद्याभीप्सनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त

इस श्रुतिका सारांश "या निशा सर्वं भूतानां" में निहित है। "विद्याभीप्सीनं" का अर्थ है—स्थितप्रज्ञता प्राप्त करनेके इच्छुक और "कामा अलोलुपन्त" का अर्थ है संसार माया प्राप्त करनेके इच्छुक। यही विद्या एवं अविद्या है। ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध है। यही पूर्व श्लोकमें कहा कि मायामोहित पुरुष जहां परमात्मामें सुप्त या सुषुप्त या मूर्च्छित है वहां स्थितप्रज्ञ जागृत है और जहां मायाविमूढ़मति जागृत है उस संसारमें स्थितप्रज्ञ सुप्त, सुषुप्त या मूर्च्छित है। यह विद्या एवं अविद्या अत्यन्त विपरीत मार्गगामी है। परस्पर विरूद्ध हैं। इस वर्णनसे अब संसार मोहमें पड़े हुए व्यक्तिको यह कहनेका साहस न करना चाहिये कि मैं स्थितप्रज्ञ हूं।

इस प्रकार स्वरूप अति स्पष्ट कहनेके बाद अब दो प्रकारके स्थितप्रज्ञोंका वर्णन करने जा रहे हैं। एक तो राजा जनक जैसे स्थितप्रज्ञ हैं और दूसरे अवधूत शिरोमणि शुकदेवजी जैसे स्थितप्रज्ञ हैं। ये दोनों ही स्थितप्रज्ञ हैं। शुकदेवजीकी स्थितप्रज्ञतामें कोई संशय नहीं है। जनक, अश्वपति आदिकी प्रशंसा तृतीयाध्याय में स्वयं भगवान ही करेंगे। यहां पर दो श्लोकोंमें इन दो प्रकारके स्थितप्रज्ञोंका वर्णन है। "आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं" इस श्लोकमें जनक, अश्वपति आदि स्थितप्रज्ञों की समीक्षा है। 'विहाय कमान्' इस द्वितीय श्लोकमें शुकदेवजी आदि स्थितप्रज्ञों की स्वरूप समीक्षा है। अतएव प्रस्तुत श्लोकमें "स शान्तिमाप्नोति" (न कामकामी) इस प्रकार कहनेके बाद पुनः द्वितीय श्लोक "स शान्तिमधिगच्छति" ऐसा दुबारा कहने पर भी पुनरुक्ति नहीं है। प्रथम श्लोकमें "कामा यं प्रविशन्ति" सुनकर संशय हुआ। अतः अन्तमें "न कामकामी" इतना जोड़ना पड़ा। यह विभाग इसलिये करके बना रहे हैं। आज जो संसारमें पड़े हैं, इस संसारसे निकलकर शुकदेव जैसे बननेके लिये कोई गुंजाईश नहीं दीख रहा है, वे निराश हो सकते हैं कि ऐसा स्थितप्रज्ञ हम कभी नहीं बन सकेंगे। भगवान उनको समझा रहे हैं

कि यहां भी पूरा अवसर है। काम कामिता छोड़ने पर उनको स्थितप्रज्ञ होनेका मौका सुलभ है।

आपूर्यमाणम्। इस श्लोकमें पूर्वार्धमें समुद्रका दृष्टान्त है। जैसे समुद्रमें नदियोंका पानी प्रवेश करता रहता है फिर भी वह अविचल एकरूप ही रहता है, वैसे स्थितप्रज्ञको विषय प्राप्तिमें रहना चाहिये। समुद्र कैसा है?—आपूर्यमाण है। 'आ' इस उपसर्गका अर्थ है—चारो ओरसे। पूर्यमाणका अर्थ परिपूर्ण ही है। 'स्वयंपूर्ण' ऐसा अर्थ अभिव्यक्त करनेके लिये पूर्यमाण ऐसा कर्मकर्त्तरि प्रयोग किया। व्याकरणके अनुसार यह प्रयोग अपने आप पूर्ण होनेकी जगह होता है। पूर्णका एक अर्थ है—लबालब भरा हुआ और पूर्णका दूसरा अर्थ है—तृप्त। यह बात हम पहले भी बता आये हैं। महात्मा लोग भोजनमें बैठे हों और पेट भर गया तो पूरण बोलते थे। महाराज और कुछ चाहिये? पूछने पर कहते—पूरण-पूरण। एक गुजराती माईने समझा पूरण पूड़ा मांग रहें हैं तो महात्माकी थालीमें दो तीन पूरन पूड़ी डाल दी। महात्माजी हैरान हो गये। बोले—यह तुमने क्या किया? माई बोली—आप पूरण मांग रहे थे। मैंने पूरन पूड़ी समझी। महात्माने कहा—अरे पूरणका मतलब है—अब नहीं चाहिये, तृप्त हो गया। अस्तु। यहां श्लोकमें क्या अर्थ लेना चाहिये? भरा हुआ अर्थ लेना चाहिये या तृप्त अर्थ लेना चाहिये? उत्तर है—दोनों। समुद्र भरा हुआ भी है और तृप्त भी है। आप कहेंगे—समुद्र भरा हुआ है यह अर्थ ठीक है। समुद्र तृप्त है यह बात कैसी? इस प्रकार कि तुम समुद्रको पूछो कि हे समुद्र, तुमको और पानी चाहिये? अब देखो समुद्र क्या उत्तर देता है? आप कह सकते हैं—समुद्र जड़ है, वह क्या उत्तर देगा। परंतु ऐसी बात नहीं। समुद्र जल जड़ है किन्तु देवता तो चेतन है। भगवान रामने बाण उठाया तो समुद्र देवता थर-थर कांपकर सामने आकर खड़े हो गये थे। उस समुद्र देवताको पूछो कि आपको और पानी चाहिये? तब वह क्या उत्तर देते हैं

देखो। फिर जड़ वस्तुओंसे प्रश्न करते समय अपनेको उससे तादात्म्य कर स्वयं प्रश्न और स्वयं उत्तर दिया जाता है। स्वयंको समुद्रका प्रतिनिधि बनाकर प्रश्न करो तो उत्तर यही मिलेगा—मुझे और पानी नहीं चाहिये। मैं पूर्ण हूं मैं तृप्त हूं। क्योंकि उसमें पानीके आगमसे बढ़ना नहीं होता और निकाससे घटना भी नहीं होता है।

एक करोड़पति आदमी है। उसको एक लाख और मिलता है तो उसको वह चाहेगा कि नहीं? अवश्य। अरे, एक लाखकी बात तो दूर। मैंने एक करोड़पति को देखा। रास्तेमें जा रहा था तो एक नोट किसीका गिर पड़ा था। उसने चारों ओर देखा। रास्ते पर कोई नहीं दीख पड़ा तो उठाकर जेबमें डाल दिया। तब पूर्ण होनेपर भी अतिरिक्तकी आशा क्यों नहीं होगी? इसी लिये पूर्णकी ठीक-ठीक व्याख्या समझना आवश्यक है। करोड़पतिमें कथाचित् पूर्णता हो, परन्तु तृप्ति नहीं है। कारण उसकी पूर्णता घटने बढ़नेवाली है। लाख जोड़नेसे वह बढ़ती है। लाख निकालनेसे वह घटती है। इस लिये वह नाम मात्रकी पूर्णता है। वास्तविक पूर्णता नहीं है। इसी श्लोकमे "आ" उपसर्ग अधिक जोड़ा। "आ" का अर्थ है—समन्तात्। चारों ओरसे परिपूर्ण है। घटने-बढ़ने वाली नहीं है। बल्कि समुद्र सारे जगत्को पानी देने वाला है। उसीसे वाष्पके रूपमें पानी निकलता है और पर्वतोमें, जगलोंमें और खेतोंमं बरसता है। फिर भी उसका पानी घटता नहीं है। सारी पृथिवीको वृष्टि द्वारा समुद्र ही सींचता है। फिर भी वह घटता नहीं है। अतएव वह नित्य तृप्त है। क्योकि जो भी नद नदी नाले आदि पानी लेकर आते हैं वह असलमे समुद्रका ही दिया हुआ पानी है। एक उदार दाताने किसी भिखारीको दस रुपया दिया तो उसमसे दो रुपया वापिस पानेकी वह इच्छा कैसे करेगा?

समुद्र जिस प्रकार आपूर्यमाण है—चारो ओरसे परिपूर्ण है, वैसे स्थितप्रज्ञ भी है। स्थितप्रज्ञ हमेशा परिपूर्ण होता है और परितृप्त रहता है। क्योंकि श्रुतिमें कहा है—

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"

जो ब्रह्मको जाननेवाला है वह स्वयं ब्रह्म ही होता है। यह कैसी बात है ? ब्रह्म को जानने मात्रसे ब्रह्म कैसे होगा ? द्वैतवादी पूछते हैं कि क्या वृक्षको जानने वाला वृक्ष बन जाता है ? घोड़ेको जानने वाला घोड़ा हो जायेगा ? गधेको देखने वाला गधा बन जायेगा ? यह तो एक विलक्षण बात है। यदि वृक्ष, घोड़ा, गधा आदिको जाननेमात्रसे मनुष्य वृक्षादि नहीं बन सकते जो ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म कैसे बनेगा ? द्वैतवादियोंके इस प्रश्नका उत्तर बिल्कुल सीधा है। ब्रह्म हमको बनना नहीं है। ब्रह्म तो पहले से ही हैं। यदि ब्रह्म बनना हो तो ज्ञानमात्र से आप ब्रह्म नहीं ही बन सकते। किन्तु बात यह है कि अज्ञानसे जीवभाव आ गया है। उसकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है तो पहलेसे ही विद्यमान ब्रह्मभाव केवल आविर्भूत होता है।

बच्चेको साथमें लेकर एक राजा शिकार खेलने गया। दौड़ते-दौड़ते थक गया तो एक पीपलके नीचे छायामें उतरा और बच्चेको भी उतारा। इतनेमें एक हरिण दिखाई पड़ा तो उसे पकड़ने एकाएक घोड़ेपर चढ़ा और बच्चे को वहीं छोड़कर राजाने हरिणका पीछा किया किन्तु वह रास्ता भटक गया। हरिण भी नहीं मिला। इधर बच्चा रो रहा था, किसी भीलने देखा। उसको दया आयी और देखनेमें सुन्दर होनेसे प्यार भी हुआ। वह बच्चेको लेकर अपनी झोपड़ीमें गया। बहुत ढूंढ़ने पर भी राजाको बच्चा नहीं मिला। वह बच्चा बड़ा होता गया और अपने आपको भील समझने लगा। वह सोलह वर्षका हो गया। चार वर्षके ऊपरमें जो जंगलमें छूटा था, दस बारह सालके अन्तरमें उसका संस्कार काफी दृढ़ हो गया था। एक बार उसी मार्गसे मन्त्री महोदय आ रहा था। उसने उस लड़केकी शकल देखी तो राजाकी शकलसे एकदम मिल रही थी। मन्त्रीको शंका हुई कि यही वह छूटा हुआ बालक हो। भेष-भूषा तो भीलके जैसी थी। मन्त्रीने उस बालकसे कहा, अरे। तुम तो राजकुमार हो।

लेकिन वह कहने लगा कि मैं राजकुमार नहीं, भील कुमार हूं। उसके बाप भीलसे मन्त्रीने सारा वृत्तान्त समझा। फिर उसे महलमें लाकर नहला धुलाकर राजकीय वस्त्र पहनाकर पिता राजाके साथ दर्पणके सामने खड़ा किया और कहा, तुम इसी राजाके पुत्र राजकुमार हो। तब उसने अपनेको पहचाना। भीलकुमारको राजमहलमें रखकर राजकुमार बनाया। राजकुमार बनाया कि वह स्वयं राजकुमार था ? वह राजकुमार था ही। भीलोंके संगसे अपनेको भीलकुमार समझता था। उसकी भूल निकली, अज्ञान हटा तो वह अपनेको राजकुमार समझने लगा। यही राजकुमार बनना है। इसी प्रकार यह जीवात्मा पहलेसे ब्रह्म ही है। अविद्याके कारण अपनेको परिच्छिन्न दीन-हीन जीव समझने लगा। स्वरूप विस्मृति तथा अन्यथा ग्रहणसे यही परिच्छिन्न एवं तुच्छ हो गया। शरीरके साथ तादात्म्याध्यास हुआ। जैसे भीलोंके साथ उस कुमारका तादात्म्य हो गया था और स्वरूप विस्मृति एवं अन्यया ग्रहण हो गया था। वह दर्पणमें अपनेको देखा तब प्रत्यभिज्ञा हुई। यहां भी श्रवण मनन निदिध्यासनको समझो।

"आत्मन्येवात्मानं पश्यति"

इस श्रुतिके अनुसार अपने आपमें या विशुद्ध मनोदर्पणमें अपने आपको देखा तो वह स्वयं ब्रह्म हो गया। ब्रह्मका अर्थ है बृहत्-व्यापक, परिपूर्ण। जब जीवात्मा स्वस्वरूपको जान लेना है तब यह स्वयं ब्रह्म होता है—बृहत् व्यापक परिपूर्ण होता है। अतएव आपूर्यमाणं यह विशेषण स्थितप्रज्ञके लिये लागू होता है। जनकादि इसी प्रकार आपूर्यमाण—परिपूर्ण थे।

अचलप्रतिष्ठम्। करोड़ों टन पानी गर्मीमें भाप होकर समुद्रसे निकलता है और मेध बनता है। क्या उससे समुद्र घटता है ? न्यून हो जाता है ? नहीं। क्योंकि उसमें नित्यस्रोत रहता है। एक कुएमेंसे जो स्रोतवाला हो, रोज सैकड़ों टन पानी निकाल लो किन्तु दूसरे

दिन देखो तो उतनेका उतना ही पानी दिखाई देगा। यह कैसे होता है ? स्रोतसे पानी पुनः उसमें भर जाता है। रोज-रोज सौ-सौ टन पानी उसमें भरता रहता है तो कुछ दिन पानी कुएसे न निकाले तो वह पानी जमा होकर धीरे-धीरे कुएमेंसे नदी बाहरकी ओर चलेगी कि नहीं ? नहीं। कुएका एक स्तर रहता है। वहीं तक पानी भरेगा। आगे ऊपर नहीं आयेगा। यह तो एक छोटे कुएकी बात है। समुद्रमें ऐसा नित्यस्रोत रहता है। जिससे कितना भी पानी भाप होकर उसमेंसे निकल जाय फिर भी पानीका स्तर एक ही रहता है। वह घटता बढ़ता नहीं। इसीलिये अचल प्रतिष्ठ है। 'अचला प्रतिष्ठा यस्य सः अचलप्रतिष्ठः'। जिसकी प्रतिष्ठा स्थिति अचल हो, समान हो। जैसे पानीके निकलनेपर समुद्रका पानी घटता नहीं, वैसे पानीके आगमनसे पानी बढ़ता भी नहीं। चौमासेके समयमें बड़ी-बड़ी नदियोंमें बाढ़ आती है और उतना सारा पानी समुद्रमें जा मिलता है, तो क्या समुद्र बढ़ जाता है ? नहीं। पानी उतनेका उतना ही रहता है। लोग कहते हैं—चौमासेमें समुद्रमें पानी बढ़ता है। बंबईमें मरीन ड्राईव पर देखा—चौमासेमें बड़ी-बड़ी तरंगे उठती हैं। सड़क तक पानी आता है। तब पानी अवश्य बढ़ता होगा। किन्तु वस्तुतः पानी बढ़ता नहीं है। अगर पानी बढ़ता है तो एक ही समुद्र अफ्रीका, अमेरिका तक है वहां भी पानी ऊपर आ जाता। बात यह है कि नदियोंसे आये हुए पानीको खपानेमें थोड़ा समय लगता है। खप जाने पर उतनेका उतना ही रह जाता है। जैसे कुएमें दस बीस मण पानी डालो तो पहले बढ़ता हुआ सा लगेगा। किन्तु थोड़ी देरमें सब पानी खप जाता है। पानी उतनेका उतना ही रहता है। वह अचल प्रतिष्ठ रहता है। समुद्रमें भी पानी इसी प्रकार खप जाता है तो उतनेका उतना ही रहता है। समुद्र अचल प्रतिष्ठ रहता है। बबईमे समाचार पत्रोंमें छपा था कि मरीन ड्राइव में खाड़ीको मिट्टीसे भरकर जमीन निकाला, तो उसका बदला

समुद्रने बसई आदिकी ओर किया। वहांसे जमीन काट लिया। क्योंकि पानी जितना खाड़ी में भरता था उतना पानी रिक्लेमेशन होने पर कहां भरे ? जैसे लंबी टंकीमें एक किनारे अगर सामान आदि भरो तो पानी दूसरी ओर बढ़ जाता है वैसे समुद्रमें पानी बढ़कर ऊपर आवे तो यह समुद्रके नियमके विरूद्ध है। क्योंकि समुद्र अचल प्रतिष्ठा है। वह अपने स्तरसे आगे बढ़ नही सकता। टंकीकी बात अलग है। समुद्रने नियम रक्षाके लिये जमीनको ही क्लेम किया। सरकार ने भी सोचा मरीन ड्राईवमें जमीन कीमती है। बसई आदिमें जो कीमती नहीं है उस जमीनको समुद्र भले ही ले ले। खैर कीमती या अकीमती यह तो मनुष्य की कल्पना है। समुद्रके लिये तो यह कल्पना नहीं है। उसने अपना स्थान लिया। सारांश यह कि वह अपना स्थान भले ले किन्तु बढ़ नहीं सकता। वह अचल प्रतिष्ठ ही रहेगा। न घटेगा और बढ़ेगा।

इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ भी अचल प्रतिष्ठ रहता है। उसकी स्थिति एक सरखी होती है। वह न कभी घटता और न बढ़ता है। श्रुतिमें कहा है—

"न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्"

कर्मसे वह बढ़ता भी नहीं घटता भी नहीं। जीवात्माके घटने-बढ़नेका क्या अभिप्राय ? आत्मा तो वैसे भी घटता-बढ़ता नही, चाहे वह स्थितप्रज्ञ का हो चाहे अज्ञानीका। तब "न वर्धते न कनीयान" का भी क्या मतलब ? उत्तर यह है कि आत्माकी वृद्धि और ह्रासका मतलब है आनंदकी वृद्धि और ह्रास। "न कर्मणा वर्धते" इस श्रुतिमें कर्मसे आनंदकी ही वृद्धि और ह्रासका निषेध है। कर्मसे जसीकी प्राप्ति है। प्राप्तका निषेध है। यज्ञादि कर्म करनेसे स्वर्ग प्राप्ति होती है। धन संपदादिकी प्राप्ति होती है। स्वर्ग सुख एवं धनादि सुख प्रसिद्ध है। लौकिक दृष्टिसे कर्मसे इस प्रकार आनंद वृद्धि होती है। आनंदके

ह्रासका मतलब दुःख है। हिंसा आदि निषिद्ध कर्म करनेसे नरककी प्राप्ति होती है। नरक दुःखको कहते हैं। दुःख आनेपर आनंदका ह्रास होता ही है। इस प्रकार सत्कर्म एवं दुष्कर्मसे वृद्धि और ह्रास लौकिक दृष्टिसे प्राप्त है। परंतु यह सब अन्तःकरणमें होता है, आत्मामें नहीं। तत्त्ववेत्ताके लिए कर्म श्लेष न होनेसे अन्तःकरणमें भी सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। अतः "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" बताया। श्रुतियोंमें आनंदकी शतगुणोत्तर वृद्धि बतायी है।

"ते ये शतं मानुषा आनन्दा स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः"

मानुष आनंदसे मनुष्य गन्धर्वोंका सतगुण अधिक आनंद होता है। देव गन्धर्वोंका उससे सौ गुना अधिक आनद, उससे सौ गुना पितरोंका आनन्द इत्यादि क्रमसे कर्मदेव आजानज देव वृहस्पति आदिका शतगुणोत्तर आनन्द बताया। इन सबके साथ तत्त्ववेत्ताका भी समान आनन्द बताया—

"श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य"

यह वचन प्रत्येकके साथ पढ़ा गया है। तब शंका होती है कि जैसे गन्धर्वादिका आनन्द बढ़ता जाता है वैसे तत्त्ववेत्ताका भी आनन्द बढ़ता होगा। उसका निषेध किया—"न कर्मणा वर्धते"। इसी प्रकार असत् कर्मके तारतम्यसे कोई पशु बना, पक्षी बना, सर्प बना, फतींगा बना, कीड़ा बना, नरक पतन हुआ। यही "कर्मणा कनीयान्" का उदाहरण है। राजा जनक आदि यज्ञदानादि बहुत सारे पुण्यकर्म भी करते थे और युद्धादिमें हिंसा आदि अनेक पापकर्म भी करते थे। युद्धादिमें हिंसा भी हिंसा ही है यह पहले कह चुके हैं। श्रीमद्भागवतमें भी आया है —

"क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रयः"

क्षात्रधर्ममें शिकार करना आदि आवश्यक होता है। गांवों पर जंगली प्राणियोंका आक्रमण अधिक होने पर राजा लोग शिकार खेलकर उनका बध करते हैं, यह उनका धर्म है और इसी द्वितीयाध्यायमें पहले आया था—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि

सुख-दुःखादिमें सम रहकर युद्ध करो तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा। परन्तु सुख-दुःखादिमें समता न हो तब क्या होगा? अर्थात् प्राप्त है कि पाप लगेगा। इस प्रकार क्षत्रिय होने पर पाप अवश्यभावी प्रतीत होता है। फलतः जनकादिमें भी कर्मणा वर्धते कर्मणा कनीयान् प्राप्त हुआ। उसका अभाव स्थितप्रज्ञके लिये श्रुतिने कहा और यहां "अचल प्रतिष्ठ" से बताया। कौषीतकीमें आया है—

अरुन्तुदान् बहून् यतीन् सालावृकेभ्यः
प्रायच्छम् न मे लोमापि मीयते

इन्द्रने प्रतर्दनको ब्रह्मविद्याका उपदेश देते हुए कहा कि ब्रह्मविद्याका यह प्रभाव है कि बड़ा-बड़ी हिंसा करने पर भी मेरा कुछ नहीं बिगडा। 'यति' माने सन्यासी। वे जैसा भी हो पूज्य होते हैं। यदि कुछ दुःख देने तैयार हो जाय तो दूर रहो, प्रतीकारको भावना मत करो। इन्द्रने कहा कि कई ऐसे यति थे जो दुःखदायी सिद्ध हो रहे थे। मैंने उनको पकड़कर भेड़ियोंको खिलाया। उसका परिणाम मुझे घोर नरक मिलना चाहिये था। क्योंकि यह महदातक्रमण है—पूज्योंका अतिक्रमण है। फिर भी मेरे तत्त्वज्ञानका ही यह प्रभाव हुआ कि मेरा एक बाल भी बांका नहीं हुआ।

स्थितप्रज्ञ समुद्रके समान अचल प्रतिष्ठि होते हैं। समुद्रको बाहरसे देखते समय ऐसा लगेगा कि अभी समुद्र बढ़ रहा है और अभी घट रहा है। ज्वार-भाटेमें घटता-बढ़ता नजर आयेगा। परन्तु

केवल तरंग घटती-बढ़ती है। समुद्र घटता-बढ़ता नहीं है। उसका एक ही स्तर हमेशा रहता है। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष भी बाहर-से देखने पर घटता नजर आयेगा। कभी वह स्वस्थ है, कभी बीमार है। कभी वह मठाधिपति है, कभी अभ्यागत है। कभी नानाविध मिष्ठान्न भाजी है तो कभी भूखा उपवासी। परन्तु यह सब बाह्य रूप मात्र है। शरीरादि धर्मरूपेण प्रतीत होना है। अंदरसे स्थितप्रज्ञ समझता है कि इन सबसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सभी प्रारब्धवश शरीरेन्द्रियादिमें आ रहे हैं, जा रहे हैं। अंदरसे स्थितप्रज्ञ परमानन्द परितृप्त ही रहता है। उसके आनन्दमें न कोई वृद्धि है और न ह्रास ही होना है। इसी स्थितप्रज्ञ प्रकरणमें पहले आ गया था—"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" इत्यादि। शरीरादिको आत्माका ही कार्य माना जाय तो भी समुद्रमें तरंगके समान औपाधिक है। माया उपाधिक कल्पना मात्र है। सबको मायामय देखकर स्थितप्रज्ञ नित्य स्थिर रहता है।

समुद्रम्। स्थितप्रज्ञकी उपमा समुद्रसे दी जा रही है। यहां दृष्टांतके साथ उपमालंकार भी है। दृष्टान्तमें और उपमामें क्या फरक है? जहां बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान सदृशधर्मोंको कहा जाय वहां दृष्टान्त है। नीच धन मिलने पर उछलता है। छोटी नदियां बरसातके पानीसे उछलती है यह दृष्टान्त है। मुख कैसा है चन्द्र जैसा है, यह उपमा है, वैसे यहांपर समुद्रमें जैसे पानी प्रवेश करते हैं फिर भी वह अचल रहता है, वैसे स्थितप्रज्ञमे काम—विषय प्रवेश करते हैं फिर भी अचल रहता है, यह दृष्टान्त है। किन्तु स्वयं समुद्र सदृश होनेसे यहां समुद्रोपमा भी है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः

इस भागवत श्लोकमें जो मुनिपद आया वह पूर्व श्लोकमें "पश्यतो मुनेः" में आये मुनिपदके समानार्थक है। अर्थात् स्थितप्रज्ञ अर्थ है। समुद्र कैसा है? प्रसन्न है और गम्भीर है। उसका पानी हमेशा स्वच्छ रहता है। जैसे बारिशमें नदियोंका पानी मलिन होता है, वैसे समुद्रका पानी मैला नहीं होता। साथ-साथ समुद्र बड़ा गम्भीर होता है. गहरा होता है। वैसे स्थितप्रज्ञ भी बड़ा गम्भीर होता है। समुद्र दुर्विगाह्य भी होता है और दुरत्यय भी होता है। उसका तल स्पर्श भी कठिन है, पार-पाना भी कठिन है। नदी-तालाब आदिमें गोता लगा लो तो तल मिलेगा। तैरकर पार भी किया जा सकता है। किन्तु समुद्रमें गोता लगाकर तल स्पर्श करना कठिन है और तैरकर पार करना भी संभव नहीं है। वैसे स्थितप्रज्ञके हृदयकी बात जानना सरल नहीं है। साधारण लोग छोटी छोटी बातें करते रहते हैं। परन्तु ज्ञानी ऐसा नहीं करते और असलमें स्थितप्रज्ञके हृदयमें गहराई तक ब्रह्मतत्त्व ही रहता है। उसका पता अयोग्यको मिलेगा भी किस प्रकार? वह ब्रह्म अपार है इसलिये स्थितप्रज्ञका पार पाना भी संभव नहीं है। दुरत्यय क्यों? इसीमें हेतु है—अनन्त पारः, पार हो तब पावें। पार ही नहीं तो पावें कैसे? समुद्र अक्षोभ्य होता है। कुएमें एक पत्थर डालो तो वह क्षुब्ध होगा। नीचेसे कीचड़ ऊपरकी ओर उछलेगा। परन्तु इस प्रकार समुद्रको कोई क्षोभित नहीं कर सकता। निन्दा करो, गाली दो मारो-पीटो तो भी वह क्षुब्ध नहीं होगा। कदाचिद् बाहरसे क्षुब्ध सा लगेगा। किन्तु अंदरसे क्षुब्ध वह कभी भी नहीं होता। साधारण कोई व्यक्ति होगा तो उसके विपरीत कहीं एक भी शब्द निकल पडा तो वह उस पर उबल पड़ता है। इसलिये स्थितप्रज्ञ समुद्रोपमित होता है। श्रीमद्भागवतमें दूसरा श्लोक आया है—

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥

धन-धन्यादि कामसे समृद्ध हो या हीन हो, स्थितप्रज्ञमें कोई फरक नहीं पड़ता। समृद्धिसे उत्पसर्पण नहीं, हानिसे शोषण भी नहीं। जैसे भारी नदी आकर मिलती रहे, या नदी सूखनेसे पानी न दे तो भी समुद्रमें क्या फरक पड़ता है ?

समुद्र शब्दका अवयवार्थ भी स्थितप्रज्ञमें है। समुद्र शब्द सं उपसर्गको रखकर उन्द धातुसे हुआ है। "**उन्दी क्लेदने**" ऐसा धातु-पाठ है। **समुन्दयति संक्लेदयति शीतलयति स्वाश्रितान् स्वपारधि-स्थांश्चेति समुद्रः। समन्तात् उन्दयति वा।** समुद्रके पासमें जो भी है सबको वह शीतलना पहुंचाता है और कूप तड़ागादिको पूरित करता है। वैसे स्थितप्रज्ञके पास जो भी पहुंचता है उसको शीतलता मिलती है। मानसिक शान्ति मिलती है क्योंकि स्थितप्रज्ञके हृदयमें आनन्द सागर भरा हुआ है। उसीसे वह समीपस्थ सबको आप्यायित करता है। किसी स्थितप्रज्ञ संतके पास जाओ, उनके दर्शनसे ही मनमें शान्ति होने लगेगी। उनसे वार्त्ता करो तो "**कर्णेषु वमति मधुधाराम्**" उक्ति चरितार्थ होने लगती है। अन्तःस्थित भाव ही तो बाहर जाहिर होता है। यहां तक कि प्राचीन समयमें जंगलोमें ऋषि-मुनि रहते थे तो वहां हिंसक प्राणी भी शान्त हो जाया करते थे। ऋषि-मुनि जंगलोंमें गायोंको पालते थे। वहीं शेर भी रहते थे। किन्तु कभी शेर गाय पर आक्रमण नहीं करते थे। अपवाद रूपमें कहीं कुछ हुआ तो अलग बात है। दुष्यन्त वर्णन करते हैं—

"शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुत फलमिहास्तु।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥"

कहते हैं कि देखो यह कण्व ऋषिका आश्रम कितना शान्त है ? मनमें स्वयमेव शान्ति उद्भूत हो रही है। प्राणियोमें भी कितनी शान्ति है ? चारों ओर शान्त वातावरण है। किन्तु उस समय उनकी दाहिनी भुजा फड़कने लगती है, तो कहने लगते हैं कि यह कैसा

लक्षण है ? दक्षिण बाहुको फड़कनेका मतलब है उत्तम कन्याकी प्राप्ति। किन्तु यहां सभी महात्मा लोग रह रहे हैं, यहां कन्या कहांसे आयी ? दुष्यन्तके वचनानुसार कण्वाश्रममें सभी सन्यासी संत रहते थे। गृहस्थ ऋषि नहीं। वैसे तो गृहस्थ भी ऋषि होते थे। परंतु कण्वाश्रमकी विशेषता यही थी कि यहां स्थितप्रज्ञ संत ही वास करते थे। खैर, वहांका प्रसग काफी लम्बा है। कहनेका मतलब यही कि जहां भी स्थितप्रज्ञ रहे वहां आस-पासमें भी शीतलता शान्ति का प्रसार होता है।

"मुद्रया सहितः समुद्रः" ऐसी भी यहां व्युत्पत्ति है। समुद्र हमेशा गम्भीर मुद्रामें रहता है। मुद्राका अर्थ है भीतरके भावको बाहरके स्वरूपसे या इंगितसे प्रकट करना। समुद्र अपनी गंभीर मुद्रास गहनता प्रकट करता रहता है। स्थितप्रज्ञकी भी यही स्थिति है। इसी मुद्राके बारेमें अर्जुनने "किं प्रभाषेत क्रिमासीत् व्रजेत किं" प्रश्न किया। भाषण आसन चलन आदिमें एक विशिष्ट मुद्रा होती है, जिससे स्थितप्रज्ञकी पहचान हो सकती है। स्थितप्रज्ञकी शान्त गंभीर मुद्रा होती है। ज्ञान मुद्रा होती है। आनन्द मुद्रा होती है। आंखें अर्धखुली या नासाग्रवर्त्तिनी अपने आप ही हो रही है। ध्यान लग रहा है तो यह शान्त मुद्रा है। मनमें पूरी दृढ़ता होनेसे शरीर सुस्थिर है, अचल है तब गम्भीर मुद्रा होती है। ज्ञान मुद्रा प्रसिद्ध है। तर्जनी झुककर अंगुष्ठ पर मिलती है। तीन सीधी होती है तो ज्ञानमुद्रा होता है। तत्त्व चिन्तनमे ऐसी मुद्रा बनावटी नहीं, किन्तु स्वयमेव होने लगती है। तर्जनी रूपी जीवात्मा अङ्गुणुरूपी परमात्मा से मिल जाता है। इस प्रकार अनेक विध उत्तम मुद्रायें स्थितप्रज्ञमें स्वयं आती हैं।

आपः प्रविशन्ति यद्वत्। समुद्र नदियोंको बुलाना नहीं है। मेरे पास ये नदियां आवे ऐसी इच्छा भी समुद्रमें नहीं होती। नदियां स्वयमेव समुद्रमें प्रवेश करती हैं। क्यों ? यह पानी समुद्रसे ही

निकला है। ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य तापसे भापके रूपमें समुद्रका पानी ऊपर जाता है। उसीसे मेघ बनता है। उसीसे पहाड़ोंमें बरफ बनती है। उसीसे स्रोत होते हैं, नदियां होती हैं। वे नदियां फिर अपने उद्गम स्थानकी ओर ही चल पड़ती हैं। समुद्रको उन्हें बुलानेकी जरूरत नहीं रहती। बिना बुलाये ही स्वयमेव ये समुद्रमें पहुंच जाती है।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे। जैसे नदियां अपने आप समुद्रमें प्रवेश करती हैं, वैसे स्थितप्रज्ञमें भी विषय अपने आप ही पहुंचते हैं। अपने आप माने प्रारब्धवश। जैसे नदी आदि का जल समुद्रसे ही निर्मित है वैसे ये सब विषय भी हमसे ही निर्मित हैं। अर्थात् हमारे कर्मसे निर्मित हैं।

"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत् पिता"

इस प्रकार वृहदारण्यमें यजमानसे सप्तान्न सर्ग बताया है। यह सारा ही भोग्य संसार प्रारब्ध जन्य है। चाहे वह समष्टि प्रारब्ध हो चाहे व्यष्टि प्रारब्ध। प्रायः भोग प्रारब्धसे ही प्राप्त होता है। कुछ भोग वर्त्तमान पुरुषार्थसे भी होता है। कुछ भोग प्रारब्ध पुरुषार्थ दोनों मिलकर होता है। बिना परिश्रम किये ही स्वयं जो आता है, जैसे कहावत है- छप्पर फाड़कर आता है, यह केवल प्रारब्धका फल है। मजदूरने आठ घंटे अथाह परिश्रम किया और उसका जो प रि-श्रमिक है वह उसको मिला, यह केवल पुरुषार्थका फल है। क्योंकि परिश्रमका जितना फल नियत है, उतना ही मिला। सेठ व्यापारी लोग व्यापार धन्धा करके लाखों कमाते हैं। वहां धन्धा करनेका पुरुषार्थ भी है और प्रारब्ध भी है। दोनों मिलकर काम कर रहे हैं। अतएव कभी घाटा होता है और कभी लाभ होता है। वहां अधिकतर प्रारब्ध ही काम कर रहा है। स्थितप्रज्ञका कोई पुरुषार्थ नहीं रहता। प्रारब्धानुसार जो आता है, उसीको वह ग्रहण करता है।

एक महात्माकी बात है। पहले घरसे ही बड़े सम्पन्न थे। बचपनसे ही उनको वैराग्य हो गया था। बीस-बाईस वर्षमें संन्यासी बने। एक बड़े महन्तके शिष्य हुए। काशीमें रहकर कुछ दिनों तक वे शास्त्र भी पढ़ते रहे। इतनेमें उनके गुरुजीका शरीर छूट गया तो अपने आश्रममें गये। सबसे छोटे शिष्य थे। फिर भी सबने मिलकर उनको ही महन्त बनाया। लगभग तीस वर्षके हो गये थे। आठ-दस साल महन्ती चलायी। लेकिन उनको वहांसे भी वैराग्य हो गया। सोचा, यह क्या झंझट है। साधुओंको रखो, निकालो, हिसाब-किताब सम्हालो। सब छोड़कर वहांसे गङ्गा किनारे गये। वहां पहुंचे तो एक आश्रम वहां खाली हो गया तो उन्हींको सम्हालना पड़ा। लोग उन्हींको महन्त बनाना चाह रहे थे। फिर वहांसे भी छोड़कर गङ्गा किनारे ही एक शहरसे दो-तीन मील नीचे झोपड़ी बनाकर रहने लगे। गांवसे भिक्षा लाकर खाते थे। चार-छः साल वहां इसी प्रकार रहे। एक रोज सुबह छः बजे देखा—कोई मुर्दा-सा बहता जा रहा है, किनारे पर आया है। अच्छा वस्त्र शरीर पर है। उन्होंने सोचा—शायद यह जिन्दा हो। किनारे ऊपर उठाया तो सचमुचमें जिन्दा था। गङ्गाजीका भारी बहाव होनेके कारण ऊपर शहरमें नहाते समय पांव उखडनेसे वह बह गया था। पेट फूल गया था पानी पीने से। महात्माने उनको उलटाकर लेटाया। दो-तीन घंटेमें वह होशमें आया। झोपड़ीमें लाकर उसकी जो कुछ सम्भव थी, सेवा की। वह ठीक हो गया। दो-तीन दिनमें अच्छा हो गया। महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम कर चला गया। दो-चार दिनके बाद वही व्यक्ति अपने साथ कईयोंको लेकर वहां पहुंचा। वह एक लाखोंपति सेठ था। उसके बेटे भी बड़े बड़े व्यापारी थे। आकर बोले—महाराज! आप मेरे प्राण दाता है। मेरे माता-पिता हैं। यहां आपके लिये एक आश्रम बनाऊंगा और मैं यहां आकर सेवा किया करूंगा। महात्माने कहा—अरे, भाई मैं कई जगह छोड़कर शान्तिके लिये यहां आया हूं। तुम यहां भी अशान्ति करोगे। कितना

ही मना किया लेकिन सेठ माना नहीं। हर बातमें वह महात्माजीका पांव पकड़ता रहा। और नयी जमीन खरीदकर विशाल आश्रम बना डाला। महात्माजीको यह समझमें नहीं आया कि मैं धन सम्पत्तिके पीछे पड़ा हूं, या धन सम्पत्ति मेरे पीछे पड़ी है। बस अब चुपचाप भजन करने लगे। लेनेका भी सवाल नहीं, सब छोड़कर कहीं जानेका भी सवाल नहीं। सोचा कि और कहीं जायेंगे तो वहां भी यह पीछे-पीछे आयेगा। वे महात्मा निःस्पृह होकर आने-जानेका ख्याल किये बिना रहने लगे। यही "तद्वत् कामा य प्रविशन्ति" का मतलब है। "सर्वे कामाः" यहां दुनियां भरके सब भोग अर्थ नहीं है। किन्तु आनेवाले जितने भोग है, विषय हैं वे सब पानीके समान समुद्रमें बिना आह्वान और बिना अवरोध प्रवेश करते हैं, यही तात्पर्य है। इसीको लेकर आचार्यने कहा —

"प्रारब्धं त्विह भुज्यतामिह परब्रह्मात्मना स्थीयताम्"

प्रारब्धका जो भी भोग होगा, उसके लिये न हर्ष है और न शोक है। पूर्व जन्ममें जो कर्म किये वही प्रारब्धरूपसे इस जन्ममें आये हैं। नया कोई पुरुषार्थ करना नहीं है। समुद्रसे निकला ही जल वापिस आ रहा है। पूर्व कृत कर्म ही रूपान्तरसे वापिस आ रहा है।

स्थितप्रज्ञका पुरुषार्थ भी पुरुषार्थाभास मात्र है। क्योंकि कुछ पुरुषार्थ भी ऐसे है जो प्रारब्धवश आता है। एक मुनीम मेहता कह रहा था कि मैं नौकरी छोड़नेवाला हू। क्योकि सेठ कहता है झूठा हिसाब लिखो। तो मैं नौकर हूं, मुझे लिखना पड़ रहा है। वह झूठ लिखना प्रारब्ध है या पुरुषार्थ ? मुनीमका वह प्रारब्ध है, सेठका पुरुषार्थ है। जो स्वेच्छापूर्वक कार्य होता है, उसको पुरुषार्थ कहते हैं और जो अनिच्छा या परेच्छासे प्रापित है, वह प्रारब्धका परिणाम है। अतएव राजा जनक आदि राज्य कार्यादि करते थे तो वह पुरुषार्थाभास ही था। वस्तुतः प्रारब्धका परिणाम था। क्योंकि वह अनिच्छा या परेच्छापूर्वक था। आगे विशेषण "न कामकामी" है।

इस विशेषणसे पूर्वोक्त अर्थका ही समर्थन मिलता है। कामका अर्थ है भोग्य विषय। उसकी कामना करनेवाला कामकामी है। स्वेच्छापूर्वक प्रयत्न भी कामकामी ही करता है।

स शान्तिमाप्नोति। शान्तिकी प्राप्ति काम प्रवेशका फल नहीं समझना। यदि ऐसा हो तो "विहाय कामान्" इस उत्तर श्लोकसे विरोध आयेगा। वहांपर काम परित्यागका फल "स शान्तिमधिगच्छति" बतायेंगे। किन्तु काम प्राप्ति होने पर भी समुद्रके समान निरपेक्ष रहनेका यह फल है "स शान्तिमाप्नोति" शान्तिके लिये दूसरा शब्द है उपशम। सर्वोपशम ही शान्ति है। इसीको मोक्ष भी कहते हैं। संसारकालमें यह अनन्त आत्मा परिच्छिन्नवत् होता है। साढ़े तीन हाथके शरीरमें सीमित-सा हो जाता है। फिर इस परिच्छिन्न आत्माके साथ शरीरेन्द्रियका तादात्म्य होने लगता है। उसीको लेकर फिर शरीरादिसे सम्बन्धित सुख-दुःखके सम्बन्धसे आत्मा उबलता हुआ-सा, उद्विग्न-सा, अशान्त-सा हो गया। परिच्छिन्नताके ही कारण अपने अन्दर अभाव ही अभाव देखने लगा। उसकी पूर्त्तिके लिये व्याकुल हो गया। किन्तु जब अपने आपको समुद्रके समान अनन्त समझा, अपार समझा, जब देखा कि यह सारा जगत् समुद्रके तरङ्गके समान खेल रहा है, उस समय समुद्रमें नदियोंके समान विषयोंका प्रवेश होने लगा। 'यह हमसे ही निकला हुआ हममें आ मिल रहा है, इस प्रकार देखने लगा तो परम उपशम हुआ। यही जीवितावस्थामें मोक्ष है।

न कामकामी। कामका भोग्य विषय अर्थ है। विषय भोगकी अभिलाषा यदि हो तो वह न तो स्थितप्रज्ञ है और न शान्ति ही प्राप्त करने योग्य है। बहुतसे ऐसे व्यक्ति हैं जो विषयोपभोगमें पड़े हैं और अपने आपको तत्त्ववेत्ता भी मानते हैं। भगवान ऐसे लोगोंका यहां स्पष्ट निषेधकर रहे हैं -"न कामकामी"। मनमें कामना है, इसका अर्थ है उसमें अभावका अनुभव हो रहा है।

"सिद्धे नेच्छा, असिद्धे हीच्छा भवति"

ऐसा न्याय सिद्धान्त है। वस्तु यदि प्राप्त हो तो फिर इच्छा नहीं रह सकती। जब तक वस्तु अप्राप्त रहती है तभी तक इच्छा रहा करती है। तत्त्ववेत्ताके लिये श्रुतियोंमें "आप्तकामः" ऐसा विशेषण आता है। उसके लिये प्राप्तव्य कुछ रहता ही नहीं। अपने अन्दर उसको सारा संसार परिकल्पित दीखता है तो क्या प्राप्तव्य हो।

"यस्य प्रसादादहमेव विष्णुर्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च"

विष्णुका अर्थ है व्यापक अनन्त आत्मा स्वरूप। यही मेरा स्वरूप है। मुझमें ही समस्त जगत् जलबुद्‌बुदवत् कल्पित है। ऐसा ज्ञान होने पर तत्त्ववेत्ता आप्तकाम होता है। तब उसके मनमें कामना कहांसे आयेगी। पूर्ण होने परकामना नहीं हो सकती।

"कामस्याप्ति जगतः प्रतिष्ठां"

इस प्रकार उपनिषद्‌में बताया है। अतः कामकामी स्थितप्रज्ञ नहीं। और वह शान्ति भी प्राप्त नहीं कर सकता। "न कामकामी" कहते हुए भगवान यह भी सूचित कर रहे हैं कि अपना-अपना हृदय सभी टटोल कर देखें कि मेरे मनमें विषयकामना है या नहीं। यदि है तो अपनेको ज्ञानी स्थितप्रज्ञ माननेका साहस न करना। धोखा हो जायेगा। साधनाको छोड़ना नहीं। स्थितप्रज्ञोंकी बराबरी करना नहीं ॥ १७ ॥

●

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥२-७१॥

[जो पुरुष समस्त कामनाओंको त्यागकर निःस्पृह, ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर विचरण करता है। वह शान्ति प्राप्त करता है]

स्थितप्रज्ञका बाह्य रूप दो प्रकारसे होता है। एक रूप राजा जनक आदिका है और दूसरा रूप शुकदेवादिका है। अंदरसे तो कोई फरक नहीं रहता। दोनों ही प्रकारके स्थितप्रज्ञ अंदरसे परम-शान्तिको प्राप्त हुए होते हैं। बाह्याचरणमें ही फरक रहना है। इनमें प्रथम स्थितप्रज्ञका स्वरूप पूर्व श्लोकमें बताया कि उसके पास विषय उसी प्रकार आते हैं, जैसे समुद्रमें नदीजल। विषयोंकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। ये विषय मुझे प्राप्त हों, ऐसे वे कामकामी नहीं होते। किंतु प्रारब्धानुसार जो विषय स्वतः आते हैं, उनका उपभोग करते हुएसे वे दीखेंगे। परंतु उन विषयोंके आने न आने या कम ज्यादा आनेकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती। इस प्रकार प्रथम स्थितप्रज्ञका वर्णन करनेके बाद अब द्वितीय प्रकारके स्थितप्रज्ञका वर्णन कर रहें हैं—"विहाय कामान् यः सर्वान्" इत्यादि श्लोक से।

विहाय कामान्। इसका अर्थ है विषयोंको छोड़कर। छोड़नेके अंशमें उनका पुरुषार्थ रहता है, यही विशेषता है। प्रश्न होगा कि प्रारब्धसे जो भोग स्वतः प्राप्त हो रहा है। कैसे छोड़ा जा सकता है? जैसे हमने पूर्व श्लोकमें उस महात्माके वृत्तांत में देखा कि जंगलमे जाने पर वहां भी धन संपति पीछे-पीछे आयी। इसका उत्तर यह है कि प्रारब्ध अनेक प्रकारका होता है। ऐसे तो प्रारब्धके

अनेकों भेद हैं, जिनका वर्णन हमने अन्यत्र किया है। किन्तु संक्षेपमें कहना हो तो दो विभाग कर सकते हैं। एक मन्द प्रारब्ध होता है। दूसरा तीव्र प्रारब्ध होता है। तीव्र प्रारब्धको कोई छोड़ नहीं सकता। छोड़ने पर भी वह पीछे लगा ही रहेगा। किन्तु मन्द प्रारब्ध हो तो उसे छोड़ा जा सकता है। मन्द प्रारब्धसे प्राप्त भोगादिका पुरुषार्थ द्वारा त्याग किया जा सकता है। यही सन्यास कहलाता है। अगर प्रारब्ध प्राप्तकाका त्याग न हो सकता हो तो संन्यास विधिका कोई अर्थ ही नहीं होगा। क्योंकि जो प्रारब्धमें नहीं है, वह है नहीं तो त्याग। क्या जायेगा ? और जो प्रारब्धमें है वह पीछे लगा ही रहेगा तो त्याग कैसे होगा ? अतः संन्यास विधिका अर्थ है—मन्द प्रारब्धसे प्राप्त भोगोंका त्याग करो।

ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च
लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति

यह सन्यास विधि शास्त्र है। किसी वस्तुको त्यागनेमें किसीको भी बाधा नहीं है। तीव्र प्रारब्ध हो तो अनिच्छा पूर्वक ही वापिस आ जायेगी, यही विशेषता होती है। त्यागके लिये विशेष संयम और धैर्यकी आवश्यकता होती है। संग्रह करनेमें जितना धैर्य और पुरुषार्थ चाहिये उससे शतगुण धैर्य और पुरुषार्थ त्याग करनेके लिये आवश्यक है। "कामान्" का अर्थ है काम्यवस्तु। जिसकी कामना मनमें होती है वह वस्तु काम या काम्य कहलाती है। धन, दार, गृह, पुत्रादि सभी यहां काम शब्द का अर्थ है।

यः सर्वान्। दो चार विषयोंको सभी त्याग सकते हैं और त्यागते ही हैं। किसीको मीठा पसंद नहीं है तो उसको त्याग देते हैं। किसीको खट्टा पसंद नहीं है तो उसे वह त्याग देता है। कुछ लोग पसंदकी वस्तु भी त्याग देते हैं। गयामें जानेके बाद, कहा जाता है कि कोई एक फल त्यागना चाहिये, तो लोग सेव, मोसबी, संतरा आदिमेंसे कोई फल त्याग देते हैं। कुछ लोग तो उसमें भी चालाकी करते हैं।

एकने काशी—फल छोड़ दिया था। काशीफल माने कद्दू। उसको वह पसंद नहीं था। लोग भगवान को भी ठगनेका प्रयास करते हैं। परंतु भगवान भी बड़े विलक्षण हैं। जिसने काशी फल छोड़ा वह खानेके समय दूसरोंकी थालीमें परोसा कद्दू सूंघने लगा और कुछ दिनके बाद उसकी सुगंधि ऐसी जम गयी कि खानेकी इच्छा शुरु हो गयी। इतनी प्रबल इच्छा होने लगी कि पूछो मत। फिर जो हुआ सो हुआ। तात्पर्य यह कि एक काम छोड़ना भी कठिन पड़ जाता है। फिर भी अस्थायी रूपसे लोग कई कामनाओंको छोड़ देते हैं। उतने से भी पूर्णता नहीं हो सकती। अतः यहां भगवान कह रहे हैं—"सर्वान् विहाय"। समस्त विषयोंका परित्याग करना चाहिये। वही पुरुष स्थितप्रज्ञ हो सकता है।

प्रश्न होगा कि सभी विषयोंके अन्तर्गत तो फिर खाना-पीना भी आ जायेगा। चलना-फिरना भी आ जायेगा। देखना-सुनाना भी आ जायेगा। यह फिर या तो समाधिमें संभव होगा, या फिर मूर्च्छामें। यदि कहें कि उसी अवस्थाका यह वर्णन है तो वह सहीं नहीं। कारण आगे "पुमांश्चरति" लिखा है। विचरण करते समय न समाधि हो सकती है और न मूर्च्छा ही। इसके उत्तरमें ही "विहाय सर्वान् विषयान्" या "विहाय सर्व यो वस्तु" न कहकर "कामान्" कहा। कामना जिसकी की जाती है उसीको काम कहते हैं। खाना पीना आदि शरीर निर्वाहका साधन है। शरीर ही न रहे तो विधि या निषेध किसके प्रति हो। अतः सभी विधि निषेध शरीर निर्वाहोपयोगी वस्तुको छोड़कर अन्यत्र ही होते हैं। तथा स्वाभाविक या अनिवार्यका विधि प्रतिषेध नहीं होता। चलना, फिरना, देखना, सुनना आदि स्वाभाविक है। उसका प्रतिषेध नहीं होता। चलते समय रेडियो बज रहा था, कानमें पड़ा। तो क्या वह व्यक्ति विषयोपभोगी हो जायेगी। किसी घरमें गये। वहां बच्चे टी. वी. देख रहे थे। आंखोमें रूप पड़ गया तो क्या वह कामकामी हो जायेगा?

गुलाबके बगीचेसे गुजरा सुगंधि नाकमें गयी तो क्या यह भी विषय-भोग है ? नहीं अतएव यहां पर "कामान्" शब्द रखा। "विहाय कामान् यः सर्वान्" यही अंश पूर्व श्लोकमें बताये स्थितप्रज्ञकी अपेक्षा विशेष है। अन्य सभी अंश प्रायः सभी स्थितप्रज्ञोंमें समान है। अतः सर्वसाधारण व्याख्या की जाती है।

इस श्लोककी व्याख्या अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों रीतिसे होती है। इतना ही नहीं, अन्वय मुखेन और व्यतिरेक मुखेन भी व्याख्या करनी चाहिये। तभी अर्थ स्पष्ट होगा। व्यतिरेक व्याख्या प्रतिलोम करना चाहिये। निरहंकारः, निर्ममः, निःस्पृह पुमान् विहाय सर्वान् कामान् यह प्रतिलोम क्रम है। अनुलोम है जिस क्रमसे श्लोकमें विशेषण आये हैं उसी क्रमसे व्याख्या करना। प्रतिलोममें व्यतिरेक है **साहंकार, समम, सस्पृह, अपुमान् और उपादाय सर्वान् कामान्** इसीको हम प्रथम समझेंगे।

नैष्कर्म्यसिद्धि नामके ग्रंथमें वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्यने समस्त संसारका मूल कारण अहंकार बताया है। अहंकाराध्यास सबसे भारी होता है। उसके बाद शरीरादिका अध्यास होता है। यही अध्यास संसारका कारण है। अहंकारका तादात्म्याध्यास होता है और शरीरादिका कभी तादात्म्याध्यास और कभी सम्बन्धाध्यास होता है। मैं गोरा हूं, ऐसा भी बोलते हैं। मेरा शरीर गोरा है, ऐसा भी कहते हैं। मैं गोरा हूं, कहते समय शरीर और आत्माको एक करके बोलते हैं। मेरा शरीर गोरा कहते समय आत्माको और शरीरको अलग करके बोलते हैं। क्योंकि बीचमें 'रा' आ गया। जैसे–मेरा वस्त्र कहनेपर मैं और वस्त्र एक नहीं, अलग प्रतीत होते हैं। वैसे मेरा शरीर कहने पर मैं और शरीर एक नहीं, अलग प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये इसमें थोड़ा-सा विवेक है और बाकी अविवेक है। इसी प्रकार इन्द्रियोंमें भी है। मैं काना हूं ऐसा भी बोलते हैं, मेरी आंख कानी ऐसा भी बोलते हैं। मैं काना कहते समय मैं को और आंखको एक

कर दिया। मेरी आंख कानी कहते समय अलग किया। मैं बहरा हूं, मेरे कान बहरे हैं, इस प्रकार दोनों व्यवहार होते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी है। अन्तःकरणमें भी ऐसा ही है। मुझे दुःख हुआ, ऐसा भी कहते हैं और मेरे मनमें दुःख हुआ ऐसा भी कहते हैं। मुझे दुःख हुआ. मैं दुःखी हूं आदि बोलते समय एकता हो रही है और मेरे मनमें दुःख हुआ, कहते समय भेद प्रतीत हो रहा है। मैंने इस बातको समझ लिया, ऐसा भी कहते हैं। मेरी बुद्धिने इस बातको पकड़ लिया और समझ लिया ऐसा भी कहते हैं। मुझमें अनेक चिन्तायें होती रहती हैं और मेरे चित्तमें अनेक चिन्तायें होती रहती हैं, ऐसा भी कहते हैं। यहां तक मैं मेरा दोनों चलता है। किन्तु अहङ्कारमें एक ही रहता है। अहङ्कारमें "कार" इतना बोलने मात्रका है। जैसे क कार, ख कार अ कार इत्यादि। 'अहं' इतना ही शब्द है। जिसका अनुवाद है—मैं। मेरा शरीर मेरी इन्द्रियां, मेरा मन इत्यादिके समान "मेरा मैं" ऐसा नहीं होता, अर्थात् अहङ्कारके साथ भेदका भास होता ही नहीं। जबकि अहङ्कार जड़ है, आत्मा चेतन अतः दोनों भिन्न हैं। इसीलिये कहा जाता है—अहङ्काराध्यास बड़ा जबरदस्त है। अन्य सभी अध्यासोंमें मूल यही है। मेरा बोलते समय 'रा' से पहले जो 'मे' आ गया वह यही अहङ्कार है। अर्थात् मेरा कहते समय उसके मध्यमें भी 'मैं' घुसा रहता है। आत्माके लिये तो 'मैं' भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मैं कहते ही परिच्छिन्नता आ जाती है। और परिच्छिन्नता आत्माका धर्म नहीं, अहङ्कारका ही धर्म है। यह 'मैं' आत्माके साथ ऐसा घुल-मिल गया है कि आत्माके लिये भी 'मैं' शब्दका ही प्रयोग होने लगा। और बड़े-बड़े विवेकी भी कहने लगे—"मैं कौन हूं" यह जानो। मैं कौन ? मैं तो अहङ्कार। उसको क्या जानना ? जानना आत्माको है। आत्माके लिये कोई शब्द नहीं है। फिर भी सन्त लोग मैं शब्दसे लक्षणा करके आत्माको कहते हैं। 'मैं' में अहङ्कार तथा आत्मा दोनों हैं। उनमें अहङ्कारको छोड़कर

केवल आत्माको लक्षित किया जाता है। लक्षित करके सन्त लोग प्रयोग करते हैं—मैं कौन हूं यह जानो। यही अहङ्काराध्यास सर्व संसार मूल है। यही व्यतिरेक व्याख्यामें साहङ्कारका अर्थ है। अर्थात् निरहङ्कारके विपरीत साहङ्कार यही है।

इसके बाद फिर मम आता है। प्रथम अहङ्कारके बीचमें रखकर शरीरादिमें तादात्म्याध्यास हुआ और 'अहं' ऐसी प्रतीति हुई। मैं गोरा हूं, मैं काला हूं, मैं लम्बा हूं इत्यादि। शरीर गोरा, काला लंबा है कि आत्मा गोरा, काला, लम्बा है। आत्मा कोई रूप ही नहीं तो गोरा, काला, लम्बा कहांसे होगा ? इसमें दो तादात्म्य हैं। प्रथम आत्माका अहङ्कारके साथ, फिर अहङ्कारके द्वारा शरीरादिके साथ। मेरा शरीर गोरा कहते समय इनमें एक कम हो जाता है। आत्माका अहङ्कारके साथ तादात्म्य तो है ही किन्तु उसके द्वारा शरीरके साथ तादात्म्याध्यास नहीं, किन्तु सम्बन्धाध्यास है। यह केवल इन्द्रिय शरीरादिसे नहीं, इसकी बड़ी परंपरा चलती है। मेरा पुत्र कहने पर प्रथम अहङ्कारके साथ तादात्म्य, फिर उसके द्वारा शरीरके साथ तादात्म्य, फिर उसके द्वारा पुत्रके साथ सम्बन्धाध्यास। क्योंकि आत्मा-का पुत्र नहीं हो सकता। शरीरका ही पुत्र होता है। यदि आत्माका पुत्र होता तो आपका पुत्र हुआ। बीस सालका पुत्र होनेके बाद आप मरे और जन्मान्तर लिया तो दो वर्षका बालक उस बाईस वर्षके लडकेको पुत्र कहता। किन्तु ऐसा दुनियामें नहीं होता। अतः पुत्र आत्माका नहीं पुत्र शरीरका होता है। तो बीचमें अहङ्कार और शरीर इन दोनोंको रखकर ही मेरा पुत्र ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार धन, गृहादिकी भी परम्परायें हैं। इन अनेक प्रकारकी परं-पराओंको लेकर मम होता है। श्लोकमें 'निर्ममो' लिखा है। उसका व्यतिरेक है—'सममः' साहङ्कारका फल 'समम' है।

सममके बाद सस्पृहता होती है। अर्थात् अनात्मवस्तुओंके साथ परम्परा सम्बन्धोंके जुड़ने पर स्पृहा होती है। 'मेरा' करके स्पृहा

होती है। 'मेरा हो' ऐसी भी स्पृहा होती है। परन्तु मेरापनको लेकर ही स्पृहा होती है। मेरा धन है, पुत्र है, दार है। अतः उनमें स्पृहा है, मोह है, तृष्णा है। यदि धनादि न हो तो मेरा धन हो, मेरा पुत्र हो, मेरा दार हो ऐसी स्पृहा होती है। लेकिन 'मेरा' बन जायेंगे इस सम्भावनाको लेकर ही स्पृहा होती है। मेरा-पनका किसीको ख्याल हो न हो, वह मेरा पुत्र हो इत्यादि कामना करेगा ही कैसे ? पूर्व-जन्मीय संस्कारादिसे 'मेरापना' जागृत होने लगता है। तब मेरा धन हो इत्यादि आकाङ्क्षाका उदय होने लगता है। इस प्रकार श्लोकमें कहे गये "निःस्पृह" के विपरीत "सस्पृह" होने लगता है।

मैं, मेरा और तत्परिणाम स्पृहा ये तीन होनेपर एक ऐटम पूरा हुआ। इसका परिणाम है—यह आत्मा पुमान् अपुमान् हो गया। पुमान्का अर्थ है- पुनीत, पवित्र। पवित्र अर्थमें "पू" धातु संस्कृतमें आता है। उसीसे अलग-अलग प्रत्यय जोड़कर पूत, पवित्र, पावन, पुमान् आदि शब्द होते हैं। व्याकरणम सूत्र आया है—"पूञो डुम्सुन्"। आत्मा स्वयं पवित्र है। अन्यको भी पवित्र करता है। इस लिये पुम न् नाम पड़ा। जैसे जल स्वयं पवित्र होता है और उसमे स्नान करनेवालोंको भी पवित्र कराता है, वैसे आत्मा स्वयं पवित्र है और अपने संयोगसे शरीरादिको भी पवित्र कराता है। जब तक जीवात्माका सयोग शरीरसे रहता है तब तक यह पवित्र रहता है और ज्योंही जीवात्मा निकल जाता है त्योंही वह अपवित्र हो जाता है, इतना अधिक अपवित्र कि पूछो मत। उसको छूनेवाले भी अपवित्र हो जाते हैं। सचैल स्नानके बिना पवित्र नही हो सकता। ज्यादा छूने वाले सगे-सम्बन्धी आदि तो दस दिन तक अप-वित्र रहते हैं। इससे निश्चित है कि अति अपवित्र शरीरादिको आत्मा ही पवित्र रखता है। किन्तु दूसरोंको पवित्र करने वाला स्वयं पवित्र भी अन्य संपर्कसे कभी-कभी अपवित्र हो जाता है। जल पवित्र

है अन्योंको भी पवित्र करता है किन्तु उसीमें गंदी वस्तु डालो तो वह भी अपवित्र होता है। बम्बईमें छोटी-छोटी नदियां हैं। बरसाती नदियां बरसातमें बहती हैं और कुछ दिन बाद तक भी। किन्तु दुनियां भरके गन्दे नाले उनमें जा मिलते हैं, जिनके कारण नदी होने पर भी कोई उनमें नहाता नहीं। केवल नहावे तो पानी अपवित्र न होता। किन्तु कचडोंसे तो पानी अपवित्र होता ही है। वैसे आत्मा भी है। केवल शरीरेन्द्रियादि संयोग मात्र होता तो शरीरादि आत्माको अपवित्र न करते, बल्कि आत्मा ही शरीरादिको पवित्र करता। किन्तु गन्दे नालोंके समान स्पृहा एवं कामक्रोधादिका संपर्क हो जाता है तो आत्मा भी अपवित्र-सा हो जाता है और वह पुमानसे अपमान बन जाता है। आत्मा सबमें है और वह पवित्र भी है। फिर भी लोग प्रातःकाल उठकर किसी चुगलखोरका या किसी दुष्ट, बदमाशका चेहरा देखना नहीं चाहते। क्यों ? आत्मा पवित्र है। उसने शरीरको भी पवित्र कर रखा है। तो किसी भी व्यक्तिका दर्शन सुबह करो। क्या फरक पड़ता है ? फरक यही है कि चुगल, दुष्ट, बदमाश आदिका आत्मा उनकी दूषित मनोवृत्तियोंसे अपवित्र हो गया है। अतः यह निश्चित है कि मनोवृत्तियोसे पुमान् अपुमान् बन जाता है।

साहंकार, समम, सस्पृह एवं अपुमान होनेका परिणाम-विहाय कामान्के विपरीत "उपादाय कामान् यः सर्वान्" हो जाता है। वह फिर विषयोंके पीछे ही भटकता रहेगा। 'अशनं मे वसनं मे" यही दिन-रात रट रहती है। दुनियामें देख लो। सभीके-सभी विषयोंके अन्वेषणमें ही दिन-रात गुजार रहे हैं। श्रीमद्भागवतका यह श्लोक आप पूर्व भी सुन चुके हैं—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥

प्रातः उठते ही धनार्जन चिन्ता शुरू होती है। ऋषि मुनियोंके आदेशके दबावमें आकर कुछ लोग ध्यान संध्यावन्दनादि करते हैं। परन्तु नवीनतम पीढ़ीवाले विस्तरेसे उठते ही चायका प्याला और सिगारेटपर निगाह डालते है। फिर दिन भर खाओ, पियो, मिलो। बिछुडो अर्थ जोड़ो, दुश्मनोंको पछाड़ो यही चलता रहता हैं। फिर रात आयी तो वही निद्रा और ग्राम्यधर्ममें लगे रहते हैं। इसी प्रकार पूरी आयु बिता देते हैं। जीवनका लक्ष्य ही विषयोपादान—कामोपादान हो गया। कुछ लोग भगवत ध्यान पूजनादि करते भी हैं तो वह भी इन्हीं विषयोंके संपादनके साधनके रूपमें। भगवत्कृपा होगी तो धन दार सुतादि प्राप्ति होगी, यही समझते हैं। आत्म-कल्याणकी वार्त्तामे प्रायः सभी विमुख हैं। आत्म'का ही पता नहीं तो आत्मकल्याणकी बात क्या करनी है। "मनुष्याणां सहस्त्रेषु" कोई एकाध निकलता है जो आत्मकल्याणकी ओर अग्रेसर होता है, विषयार्जनको तुच्छ समझता है। यह श्लोककी व्यतिरेक व्याख्या हुई। साहंकारता, फिर ममता फिर स्पृहा, फलतः अपवित्रता एवं विषयपरता यही व्यतिरेक क्रम है।

अब इसकी अन्वय व्याख्या भी देखो। अन्वय व्याख्या प्रथम अनुलोम क्रमसे होगी। प्रथम है – विहाय कामान्। प्रथम विषयोंका ही त्याग करना चाहिये। क्यों कि विषयोंके सेवनसे विषयवृद्धि होती है।

उद्योगः कलहः कण्डूर्द्यूतं मद्यं परस्त्रियः।
आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते॥

ये सभी ऐसे हैं कि जितना सेवन करो, उतना ही बढ़ते हैं। उद्योग करो तो उद्योगसे उद्योग बढ़ेगा। एक दुकानके बाद दूसरी तीसरी। एक कारखानेके बाद दूसरा तीसरा यह बढता ही रहेगा। यह दृष्टान्त है। इसी प्रकार कलहादि भी हैं। कलहसे कलह बढ़ता

है। एकने एक गाली दी तो दूसरेने दो, पहलेने चार, तब दूसरेने छः। ऐसे कलह बढ़ता ही जाता है। फिर मार पीट शुरू होती है। कण्डू खूजलीको कहते हैं। दाद जितना खूजलाते जाओ उतना ही फैलता जायेगा। द्यूत जुआको कहते हैं। जुआ बहुत बुरा है। एक बार आदत पड़ी तो वह बढ़ता ही जाता है। नल युधिष्ठिरादिकी कथा प्रसिद्ध है। जुएमें ही तो सर्वस्व खो बैठे। मद्य मदिराको कहते हैं। वह भी सेवनसे बढ़ता जाता है। आज आधी छटांग तो दूसरे दिन एक छटांग। ऐसे बढ़ते-बढते शराबी लोग स्पिरिट तक पीने लगते हैं। परस्त्रियः अर्थात् परनारीकी आदत होने लगी तो धीरे-धीरे हरेक नारीके प्रति काम दृष्टिसे देखते हैं। मध्ययुगमें मुसलमानोंमें यही आदत भयंकर हुई थी। चित्तौड़ आदिमें भयानक युद्ध इसी निमित्तको लेकर हुए। बल्कि राम-रावण युद्ध भी इसीसे हुआ। रावणमें परस्त्री अभिलाषा बढ़ गयी थी। आहार भी बढ़ाते जाओ तो बढ़ता है। आहार मैथुन और निद्रा, ये तीनों जवानीकी बात है। जितना बढ़ाओ उतने बढ़ेंगे। आहार बढ़ाते जानेपर बढ़ता हैं। संयम न रखें, कामुकता बढ़ाते जावे तो वह बढती ही जायेगी। इसी प्रकार निद्रा भी है। आलस्य बढ़ाते जाओ तो बढ़ता रहेगा। लेटने सोनेकी आदत बढ़ती जायेगी। ये सभी विषय ही हैं। ये सभी काम कहलाते हैं। इनको प्रथम त्यागना चाहिये। वृक्षका काटनेके लिये शाखा क्रमसे काटना चाहिये। पहले ही जड़ काटने लगे तो काटने वाले पर ही गिर पड़ेगा। आसपासके सबको नुकशान भी पहुंचायेगा। इसलिये पहले शाखाओंको काटते हैं। जब पेड़ हल्का हो जाता है तब जड़से काटा जाता है। वैसे यहां अहंकार मूलक संसार वृक्षका छेदन करनेके लिये प्रथम शाखा छेदनसे प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम जिनके सेवनसे कामवृद्धि होती है. उन विषयोंको त्यागना चाहिये। यही यहां पर "विहाय कामान् यः सर्वान्" का अर्थ है।

काम्य विषय त्याग मात्रसे ही जो अपुमान् था वह पुमान् होने लगता है। पुमानका अर्थ बताया स्वयं पवित्र तथा दूसरोंको भी पुनीत करनेवाला। इसीलिये त्यागी संन्यासियोंको परम पवित्र माना गया है। क्यों ? संन्यासियों ने—

ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च
लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति

इस श्रुति वचनक अनुसार सर्व एषणाओको त्याग कर "विहाय कामान् यः सर्वान्" इतने अशको चरितार्थ कर दिया है। पांवको निकृष्ट अग माना है। पुस्तकादि पर हाथ रख सकते है, पांव नहीं। गाय, गुरु आदि पर हाथ रखते हैं, पांव नहीं। देवताओं पर भी हाथ रखत हैं। मस्तक रखते है। नीचेके अंगोका स्पर्श नहीं कराते। तब पांव अपवित्र है। किन्तु त्यागी संतोका चरण स्पर्श किया जाता है। पांव धोकर जल मस्तकम धारण करत हैं उसे पवित्र मानते हैं।

"तत्पादशौचसलिलमर्जितालकबन्धनः"

इत्यादि वचनोंमें बताया है कि संतोंके चरणोदकसे ही राजा लोग अपनेको पवित्र करते थे। आज भी संस्कारी गृहस्थोंमें यह प्रथा है कि संतोंका पहला (चरण पड़ गया तो घर पवित्र हो गया। इसमें कारण है—"विहाय कामान्'। आज फल संग्रही भी गुरु बनते हैं और अपने चरणोंको भी पवित्र बताकर शिष्योको धोखेमें रखते हैं। ब्राह्मणोंकी पवित्रता भी उनके "शमोदमस्तपःशौचं" आदि गुणोसे—त्याग तपस्यासे ही मानी जाती थी।

"साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावना"

इस प्रकार भगीरथने भी गङ्गाको बताया। साधवः अर्थात् साधनाशीलन्यासी अर्थात् संन्यासी सर्वकाम त्यागी। शान्त अर्थात् काम क्रोधादि चित्तोद्वेग शून्य ब्राह्मष्ठ-ब्रह्मनिष्ठ सन्त लोक पावन है। समस्त लोगोंको पवित्र करत हैं। उनके त्यागकी यह महिमा है—

"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवनी च तेन"
"अपार सच्चित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः"

ऐसे संतोंका जन्म जिस कुलमें हुआ वह कुल पवित्र होता है। जिस माताने अपने कोख में ऐसे संतोंको रखा वह कृतार्थ हो जाती है। यहां तक कि पूरी पृथिवी उससे पुण्यवती हो जाती है। यही है पुमान्।

विषयोंके त्यागसे पवित्रता आती है, फिर मनमें स्थित स्पृहा भी नष्ट हो जाती है। स्पृहाके त्यागसे विषय त्याग या विषय त्यागसे स्पृहा त्याग यह प्रश्न उठता है। बहुत लोगोंका कहना है—पहले स्पृहा त्याग करना चाहिये। अन्यथा तृतीयध्याय में 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्" यह मिथ्याचारका लक्षण आयेगा उनके प्रति उत्तर पहले ही हम कह आये हैं। विषयोंके सेवनसे विषयोंकी वृद्धि ही होगी। विषयोंको त्यागे बिना ही जो कहते हैं कि मैंने स्पृहाको त्यागा, वही मिथ्याचार होगा। राजा जनक आदिका दृष्टांत देते हैं। परंतु राजा जनक जनकादि अनेक जन्मकृत तपस्याके फल स्वरूप महान हुए हैं। वे भी पूर्व-पूर्वतर जन्मोंमें कृतयोग हैं। प्रारब्ध शेषसे राजा हुए। अत. विषय त्याग तो परम आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं कि विषय त्याग करते ही निःस्पृह अपने आप होंगे उसके लिये योग करना आवश्यक है ही। त्याग एवं तपस्यासे मनकी वासनामें क्षीण होती हैं। तब वह निःस्पृह होता है। निःस्पृहता नही आयी तो वह पुनः वान्ताशी न्यायसे विषय परिग्रह करेगा। तब "विहाय कामान्" यह अंश नहीं रहेगा। उसके न होने से वह पुमान् भी नहीं रहेगा निःस्पृह भी नहीं होगा।

जैसे-जैसे प्रज्ञाकी स्थिरता होती है, वैसे-वैसे काम त्याग, पवित्रता एवं निःस्पृहतामें वृद्धि होती जायेगी। स्थितप्रज्ञका प्रकरण होनेसे "विहाय कामान्" से पहले ही "ज्ञानतत्त्वः" इतना विशेषण आ जाता है। तत्त्वको जाने बिना, विवेक किये बिना काम परित्याग संभव ही नहीं है। किन्तु प्रथम वह ज्ञान परोक्षात्मक या परोक्ष सदृश ही होता है किन्तु अभ्यास वशात् प्रज्ञावृद्धि होती है, प्रज्ञा स्थैर्य होता है। प्रज्ञास्थैर्य होनेसे ही काम त्यागादि भी पुष्ठ होते जाते हैं। उसका परिणाम है—निर्ममः। सम्बन्धाध्यास हल्का होनेसे उसकी निवृत्ति जल्दी हो जाती है। जैसे-जैसे वैराग्य बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ममता टूटने लगती है।

नो माता न पिता न चापि तनया नार्था गृहं नो जनः
कश्चित् कस्यचिदत्र गात्रमिदमप्यन्यस्य कालान्तरे
तस्मादेकमनन्तमद्वयपदं शंभोः पदं केवलं
नित्यं चेतसि धारयध्वमनिशं निर्वाणसौख्यप्रदम्

कौन किसका ? यह प्रश्न सामने आता है। शाश्वत रूपसे कोई किसीका नहीं है। माता-पिता वृद्ध हो गये। वह भी काल आयेगा, जब वे नहीं रहेंगे। दूसरा जन्म लेकर छोटे-छोटे बच्चे होकर वे आयेंगे तो क्या फिर वे माता-पिता रह जायेंगे ? पता नहीं कौन किसका बन जायेगा, क्या बनेगा शत्रु बनेगा या मित्र। हो सकता है आजका बन्धु मरणोत्तर शत्रुगृहमें ही जाकर जन्म ले। माता-पितादि की यह स्थिति है तब धन गृहादिका तो कहना ही क्या। अपने माता-पिता सुत तो जीवन भर अपने माता-पिता सुत होकर शायद रह भी जाय, किन्तु धनादि तो देखते-देखते पराया बन जाता है। इन सबको छोड़ो। अहंकारास्पद अति ममता युक्त यह शरीर भी कालान्तरमें तुम्हारा होकर नहीं रहेगा। हिन्दुओंने जैसे-तैसे भयानक दर्शनसे बचाया। शरीर जला देते हैं। पारसी आदिके तो शरीर पर कौन-कौन कब्जा करते हैं। चील कौए गिध आदि वहां

मेरा-मेरा कहकर लड़ते हैं। इस प्रकार पूरा संसार किसी भी व्यक्तिका नहीं रहता। केवल ममत्व करके अन्तमें सब कुछ छोड़कर चले जाते हैं। यही शुकदेवजी महाराज अन्तमें कहते हैं—

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः

हे राजन्! ये जितने लोगोंका मैंने वर्णन किया ये सभी भूमिमें और उसमें स्थित धन गेह सुतादिमें ममत्व करते रहे। किन्तु अन्ततः सब छोड़कर चले गये, मर गये। वैराग्यका ही परिणाम है कि इस प्रकार विचार कर अनित्य वस्तुओंसे मनुष्य ममताको छोड़ देता है। निर्मम होता है।

निरहंकारः। जब इस प्रकार सारी शाखायें कट जाती है तब अन्तमें मूलोच्छेद होता है। पहले हम कह आये हैं—समस्त ससारका मूल निदान अहकार है। वह प्रमथ तो अहंतत्त्वसे होता है। फिर मन बुद्धि आदिसे, फिर इन्द्रियोंसे और फिर शरीरसे। अति परम्परासे पुत्रकलत्रादि के साथ भी होता है—

पुत्रादिषु विकलेषु सकलेषु च
अहमेव विकलः सकल इति

पुत्रकलत्रादिका मान हुआ तो बाप अपना ही मान समझता है। उनका अपमान हुआ तो अपमान समझता है। पुत्र धनी हुआ तो माता-पिता अपनेको समझते हैं हम करोड़पति हो गये। भले ही आजकलके बेटे उनको कुछ भी न दें। यह पुत्रादिमें परम्परया अहकार तादात्म्य है। ममताके छूटने पर ही यह अहकार शिथिल पड़ता है। ममत्व नष्ट होने पर अपनेमें व्यापकत्त्वकी भावना आने लगती है। प्रथम परिच्छिन्न ममता छूटती है।

"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं"

तो सारी वसुधा ही कुटम्ब है। इस प्रकार व्यापक ममता आती हैं। उसी समयसे अहंकार शिथिल पड़ने लगता है। उसके बाद वह ममता भी छूट जाती है तो पूर्णतया निरहंकार हो जाता है।

स शान्तिमधिगच्छति। अधिगच्छतिका अर्थ है अधिकार पूर्वक प्राप्त करना। पूर्व श्लोकमें—"स शान्तिमाप्नोति" बताया। काम-कामी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु समुद्र समान गम्भीर ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। समुद्र भले न घटे और न बढ़े किन्तु तरंगे तो उसमें उठती रहती हैं। अतएव परम शान्ति वहां नहीं दीखती।

"नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः"

नदियोंसे समुद्र उमड़ता नहीं, अभावमें सूखता नहीं, वैसे काम प्राप्तिमे स्थिनप्रज्ञ उमड़ता नहीं, कामाभावसे सूखता भी नहीं, हर्ष शोकादिसे रहित हीं रहता है। यह भी एक प्रकारकी शान्ति है। किन्तु तरंगोंसे कुछ हलचल भी रहती है, वैसे कामागमन और गमनमें कुछ हलचल तो दीखेगी ही। परन्तु "विहाय कामान्" इस श्लोकमें बताये गये स्थितप्रज्ञको परमशान्ति प्राप्त होती है। इसी आशयसे यहां अधिशब्द है। अधिगच्छति कहा गया।

यह अधिगत शान्ति क्या है? इसे समझनेके लिये प्रतिलोम व्याख्या पुनः करनी चाहिये। शाखाओंके काटने पर भी पुनः वृक्ष पर शाखा प्ररोहणके लिये गुंजाईश रहता है। अहंकार रूपी मूलका उत्पादन हो जाता है तो फिर ममताकी स्वरूपयोग्यता भी खलास हो जाती है। जहां वासनारूप ममता कमसे काम हो वहीं स्पृहा होती है। उसके अभावमें वह पुरुष सर्वथा निःस्पृह हो जाता है। निःस्पृह पूर्ण रूपेण हुआ तो अपवित्रताकी संभावना ही नहीं रहती। तब वह पूर्ण पुमान् पुरुषोत्तम ही बन जाता है। उस समय सकल विषयोंके छूट जानेसे "विहाय कामान्" सर्वकाम परित्याग होता

है तो देशादि भी विषय नहीं रहते। तब देशकाल वस्तु परिच्छेद शून्य अखण्ड अद्वितीय आत्मरूपेण अवस्थित होता है। यही परम शान्ति है। इसी परमशान्तिको वह अधिगत करता है। उसके अधिकारमें शांति है। अर्थात्—

"मुक्तिः करतले स्थिता"

यह उक्ति उसके लिये चरितार्थ हो जाती है।

"पुमांश्चरति" इस प्रकार विचरनेकी बात यहां बतायी है। अतः यह 'व्रजेत किं' इस प्रश्नका उत्तर भी हो जाता है। विषयकाम त्याग होते ही वह पवित्र होता है और वही सन्यासी होकर विचरण करता है।

"एतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति"

इस प्रकार श्रुतिमें बताया है। "एतमेव" में एव कारसे इतर इच्छाकी व्यावृत्ति है। एवं लोकं अर्थात् आत्म लोकको ही चाहते हुए अन्य इह पर लोकादि कामना रहित पुरुष प्रव्रजन्ति सन्यासीके रूपमें विचरण करता है। यही स्थितप्रज्ञके "व्रजन्"—विचारका स्वरूप है॥ १८॥

●

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। २-७२ ।।

[हे अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है । इसे पाकर मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता । अन्तकालमें भी इस स्थितिमें स्थित पुरुष ब्रह्म निर्वाण-को प्राप्त होता है]

स्थितप्रज्ञका लक्षण अर्जुनने पूछा । क्यों कि "तदा योगमवा-प्स्यसि" इस प्रकार स्थितप्रज्ञका उपक्रम भगवानने किया था । उसका उत्तर विस्तार पूर्वक भगवानने बताया । उसका फल भी "स शान्तिमाप्नोति" इत्यादिसे बताया गया । अब उसकी अवस्था-का महात्म्य वर्णन करते हुए उपसहार करते हैं—एषा ब्राह्मी स्थितिः इस श्लोकसे ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः । स्थिति शब्द स्था धातुसे होता है । इसीका दूसरा शब्द है "निष्ठा" । ब्राह्मीका ब्रह्म सम्बन्धिनी अर्थ है । अर्थात् यहां ब्रह्म निष्ठा बतायी जा रही है। ब्रह्मका बृहत् व्यापक अपरिच्छिन्न तत्त्व अर्थ है । एक शरीरात्मभावेन स्थति होती है। दूसरी ब्रह्मात्म-भावेन। शरीरात्म भाव होनेपर शरीरगत सभी गुण दोषोंको आत्मामें देखने लगते हैं । उसीको लेकर कहते हैं मेरा जन्म अमुक सनमें हुआ । ज्योतिषी कहते हैं—अमुक सनमें मेरा मरण होगा । जन्म मरणादि आखिर किसके होते हैं ? शरीरके ही तो । यही काल परि-च्छेद है । मैं भारतीय हूं, भारतमें रहता हूं । उत्तर प्रदेशीय हूं, मध्य प्रदेशीय हूं, महाराष्ट्रीय हूं, महाराष्ट्रमें रहता हूं । बम्बईमें रहता हूं, इस घरमें रहता हूं । यह देश परिच्छेद है । मैं ब्राह्मण हूं, क्षत्रिय हूं । शूद्र नहीं, पशु नहीं, पक्षी नहीं, पत्थर नहीं इत्यादि वस्तु परिच्छेद है । शरीरात्मभाव जब तक रहेगा तब तक यह त्रिविध परिच्छेद भी अवश्यंभावी है । जब तक यह परिच्छेद रहेगा तब तक संसार बन्धन भी अनिवार्य है। तत्त्वाभ्यास करनेमे त्रिविध परिच्छेद भावकी निवृत्ति होती है । क्योंकि उसमें ब्रह्मात्मभावका उदय होता है ।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्

ऐसा सांख्याचार्योंने भी बताया है। तत्त्वाभ्याससे। 'नाहं' अहं-कार शरीरादिमें नहीं रहता। 'न मे' ममकार भी शरीरादिमें नहीं रहता। 'नास्मि' वर्त्तमान कालीन अस्तित्वादि विशिष्ट भी अपनेको नहीं समझता। 'अपरिशेषं' संसारमें कोई परिशेष नहीं रहता। अद्वैत बोध होता है। यही विशुद्ध ज्ञान है। व्यापक अपरिच्छिन्न रूपसे जब अपनेको देखने लगते हैं तब शरीरका ख्याल भी छूटने लगता है। उसके लिये जीवन और मरण एक बराबर होने लगता है। श्रीमद्भागवतका यह श्लोक हम पहले भी कह आये हैं—

"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥

शास्त्रोंमें वर्णन आता है—"जडोन्मत्तपिशाचवत्"। तत्त्वज्ञानी किसीको जड़के समान दीखेगा। दूसरेको उन्मत्तके समान। मदिरा पीकर जो उन्मत्त हो गये हैं, उनको अपने कपड़ेका भी ख्याल नहीं रहता। सड़कों पर नंगे पड़े हुए मिलेंगे। परंतु यह तामस मदिरा है। परम सात्त्विक ज्ञानामृतका पान करनेवाले तत्त्वज्ञानीको कपड़ा तो क्या शरीरका भी ख्याल नहीं रहता। केवल प्रारब्धवशात् उनका शरीर चलता है। यह बैठा है कि उठा है इतना भी सिद्ध पुरुष तत्त्वज्ञानीको मालूम नहीं रहता। दैवातका अर्थ है—प्रारब्ध वशात्। प्रारब्धवश उसका जीवन है। प्रारब्धवश मरण है। यह यद्यपि सबके लिये समान है किन्तु दूसरे लोग इसके रक्षणवर्धनादिके लिये पुरुषार्थमें भी लगे हुए हैं। सर्वत्र आत्मदर्शन ब्रह्मात्म दर्शन होने पर एक शरीरमें आत्मबुद्धि नियन्त्रित नहीं की जा सकती। वह अपने अंदर सारे जगतको कल्पित रूपेण देखता है।

यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
र्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च
इत्थं विजानामि निजात्मरूपं
तस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्

यही तत्त्वबोधका रूप है। गुरुकृपा एवं ईश्वर कृपा होती है और श्रवण मननादि कर शास्त्र कृपा और आत्मकृपा भी हो जाती है तो "अहमेव विष्णु" मैं ही व्यापक तत्त्व विष्णु अर्थात् परब्रह्म हू, ऐसा बोध होता है। वह तत्त्ववेत्ता जब विश्वकी ओर देखना है उस समय उसको लगेगा—मय्येव सर्वं परिकल्पितं—यह सारा जगत् मुझ बोधात्मक व्यापक तत्त्वमें ही कल्पित है। जैसे समुद्रमें फेन बुद्बुद तरङ्गादि हैं वैसे मुझ व्यापक ब्रह्म सागरमें ही यह पृथिवी जल गिरि नदादि प्रपञ्च उदय हो रहे हैं विलीन हो रहे हैं, ऐसा भान होगा। इसीको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं।

नैनां प्राप्य विमुह्यति। इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेके बाद मनुष्य फिर कभी भी मोहको प्राप्त नहीं होता। एक बार यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो गयी तो फिर वह कभी भी मोहित नहीं होगा। बहुतसे लोग कहते हैं कि हमने गीता पूरी यादकी थी, किन्तु सब भूल गया। बी० एस० सी आदिमें पढ़ते समय कितना-कितना क्या क्या हिसाब-किताब पढ़ते थे, सब बादमें भूल जाते हैं। कितना साहित्य याद करते हैं, सब भूल जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान भी भूल जाते हैं या नहीं ? जीवनभरमें सत्संग किया, गीता रामायणादि याद किया। आखिरमें सब भूल गये तो फिर याद करनेका क्या मतलब रहा। इसका उत्तर वेदान्तमें यही है कि ग्रन्थ पढ़ने मात्रके लिये ग्रन्थाध्ययन नहीं है। यदि उतना ही प्रयोजन हो तो फिर भूलने पर अध्ययन बेकार होगा। किन्तु ग्रन्थाध्ययन तथा मनन निदिध्यासनसे ब्रह्मात्म भावरूपी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करना है। इसीको प्रबोध कहते हैं। अवगति कहते हैं। यह ब्रह्मात्म भावावगति हो जाती हैं तो फिर ग्रन्थोंकी जरूरत नहीं रहती।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः
पलालमिव धान्यार्थो त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः

ज्ञान विज्ञान प्राप्त्यर्थं ग्रन्थाभ्यास है। वह प्राप्त हो गया तो फिर जैसे चावल निकालनेके बाद भूसी त्यागी जाती है, वैसे ज्ञान विज्ञान निकाल कर ग्रन्थ छोड़ दिया जाता है। यह ज्ञान-विज्ञान रूपी प्रबोध जहां हो गया, उसी समय अविद्या नष्ट हो जाती है। एक बार अविद्या नष्ट हो गयी फिर दुबारा उत्पन्न नहीं होती।

अविद्या नष्ट होने पर फिर क्यों नहीं उत्पन्न होती? एक बार गीता श्लोकका अर्थ सुना, तो श्लोकार्थका अज्ञान नष्ट हो गया। किंतु बादमें भूल गये तो फिरसे अज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी प्रकार आत्मा और ब्रह्म एक है, ऐसा एक बार समझा। फिर भूल गये तो अज्ञान फ़िरसे उत्पन्न क्यों नहीं होगा? उत्तर है कि श्लोकार्थका ज्ञान हुआ तो अज्ञान नष्ट नहीं होता, केवल अज्ञान हट जाता है। भूलने पर वापिस आ जाता है। जैसे बत्ती जलाया तो अंधकार हट गया। बत्ती बुझायी तो फिर वापिस आया। घट ज्ञान हुआ तो घटका अज्ञान केवल हट जाता है। भूलने पर वापिस आ जाता है। परन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर अज्ञान केवल हटता नहीं है। नष्ट हो जाता है। हटेगा तो कहां हटेगा? ब्रह्म व्यापक अनंत है। ब्रह्म परसे हटकर जायेगा कहां? पानीको शैवालने ढका। बीचमें पत्थर डाला तो शैवाल खिसककर किनारे गया। बादमें फिर वहीं वापिस आया। इसी प्रकार ब्रह्मसे हटकर दूसरी जगह कहां जायेगा कि वह वापिस आवे। अतः तत्त्वज्ञान होने पर आज्ञान पूरी तरहसे निवृत्त होता है, नष्ट होता है।

"भूयाश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"

इस श्रुतिमें बताया है कि पूरी माया निवृत्त हो जाती है। नष्ट होने पर पुनरुत्पत्ति नहीं होती। हटने पर पुनरागमन होगा। किन्तु नाश होने पर पुनरुत्पत्ति मानी नहीं जाती। कोई आदमी विदेश गया तो वापिस आ सकता है, किन्तु मर गया तो कैसे वापिस आयेगा? ब्रह्मज्ञान अखण्डाकार वृत्तिको कहते हैं। अखण्ड वृत्ति हों

गयी तो कोई खण्ड बचा नहीं जहां अज्ञान चला जाय और वहांसे फिर वापिस आवे। अतः ब्रह्मज्ञान होने पर अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर वापिस नहीं आती। यही यहां भगवान कह रहे हैं "नैनां प्राप्य विमुह्यति"। उसका अंदर नित्य प्रबोध रहता है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मचिन्तन करता हुआ मरता है तो ठीक है, वह ब्रह्मरूप हो जायेगा किन्तु मरते समय ब्रह्मस्मरण रहता ही है ऐसा कोई नियम नही है। बहुतसे संत बिमारीमें बेहोश होकर मर जाते हैं और मान लो कोई एक्सिडेंटमें मरा तो ? ब्रह्मज्ञानीको कभी एक्सिडेंट होता नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। प्रारब्ध किसीको नहीं छोड़ता। और एक्सिडेंटमें मूर्च्छित हो जाते हैं। क्लोरोफारम सुंघाने पर और सब बेहोश होते हैं; ब्रह्मज्ञानी बेहोश नहीं होता, ऐसा कहा नहीं जा सकता। तब मरते समय किसीको स्मरण न रहा तो अज्ञान ही रहा। तब उसकी मुक्ति कैसे होगी ? उत्तर है बाहरकी बेहोशी अलग है। भीतरके प्रबोधसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक आदमीको बेहोश किया। फिर उठने पर होशमें आने पर क्या वह अपने माता-पिता, भाई लड़के आदि सबको भूल जाता है ? घरको भूल जाता है ? यदि नहीं, तो बेहोशीमें भी अंदर बोध रहा, यह मानना होगा। नहीं तो होश आने पर यह बोध कहांसे आया ? क्या कहीं बाहरसे बोध आया ? अंदर बोध है। बेहोशीसे वह बाहर प्रकट नही हो रहा था, वैसे ब्रह्मज्ञान होने पर ज्ञानी भले बेहोश हो पर अंदर प्रबोध है ही। अदर अविद्यानाश होनेसे आत्म प्रबोध नित्य बना रहता है। इसलिये एकबार ब्रह्म प्रबोध होनेके बाद फिर कभी भी वह विमोहमें नहीं पड़ता। अतएव ब्रह्मज्ञानी सोते हुए मरे या सुषुप्तिमे या मूर्च्छावस्थामें, कोई फरक नहीं पड़ता। यह फरक उपासकोंके लिये और कर्मियोंके लिये संभव है, क्योंकि उनको अपरिच्छिन्न ब्रह्मबोध हुआ नहीं है। अतएव अविद्या नष्ट नहीं होती। जितना ज्ञान होता है, उतने अंशमें केवल अविद्या हटती है।

अतः अन्नमें प्रबोध नहीं रहता। यही कारण हुआ कि भरतको हरिण जन्म लेना पड़ा। ब्रह्मज्ञानीको अन्तः प्रबोध ही जाता है अत वह हरिणको देखता हुआ मरे या कुछ भी न देखता हुआ मरे, कोई फरक नहीं पड़ सकना। प्रारब्ध प्रतिबद्ध लेशाविद्या से वह जगतको देखता है। ब्रह्मको आवृत्त करनेवाली अविद्या उसकी नष्ट ही हो गयी है। प्रारब्ध समाप्तिके साथ-माथ लेशाविद्या भी खतम होगी तो अन्तः प्रबोधसे वह मुक्त ही होगा, जन्म नहीं लेगा।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि। कर्ममें ऐसा नियम है कि पूरे जीवनभर करते रहना चाहिये, तभी फल मिलेगा। मन्त्रोंमें कहा है—

"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्"

पूरे जीवन भर नित्यकर्म करो। सन्ध्यावन्दन एवं अग्नि होत्रादि करो। जीवन भरमें कर्म नहीं करते तो उचित फल नहीं मिलता। ईशावास्यमें भी आया—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

सौ वर्ष जियो और कर्म करते हुए ही जियो। बीचमें कर्म छोड़ना नहीं। यदि छोड़ा तो फल पूरा नहीं मिलेगा। लोकमें भी देखा जाता है कि प्रतिदिन काम पर जाते हैं तो ठीक, नहीं तो तनखा कटेगी। कम फल मिलेगा। नियमित छुट्टी हो जाय तो तनखा कट जाता है। वैदिक कर्ममें भी कुछ छुट्टियां है। जैसे कि बिमार पड़े, कोई आपत्ति आयी तो छुट्टी होती है। उनके बिना छुट्टी नहीं है। कई कर्म ऐसे भी हैं जिनमें छुट्टी है ही नहीं। पानी, बिजली आदिमें व्यक्तिगत छुट्टी भले हो सामुहिक छुट्टी नहीं होती। सारांश यह कर्म उपासना आदि तो जीवनभर करनेके हैं। क्या इसी प्रकार ज्ञानका भी जीवन भर अभ्यास करना आवश्यक है या नहीं ? इसके फलमें भी कटौती होती है या नहीं। यदि ऐसा हो तो अर्जुन का कहना है कि मैंने ज्ञानका अभ्यास जीवन भर नहीं किया। वास्तविक तत्त्वज्ञान तो अभी-अभी अस्सी वर्ष उमरके होनेके बाद प्राप्त कर रहा हूं। थोड़े दिनोंकी अब जिंदगी है। इस जिंदगीमें अब

अभ्यास भी करे तो भी सफलताकी आशा कैसे की जा सकती है ? इसका उत्तर भगवान दे रहे हैं—"स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि"। अस्यां—इस ब्राह्मी स्थितिमें अन्तकालमें भी यदि स्थित हो जाय तो भी पूर्ण सफलता है। अन्तकालका अर्थ मरण समय नहीं है, भाष्यकारने यहां 'अन्ते वयसि' ऐसा अर्थ किया अर्थात् बुढ़ापेमें भी अगर यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो कृतार्थता है।

ब्रह्मज्ञानके बारेमें यह समझना बहुत आवश्यक है कि यह अचानक होने वाला कोई स्मरण नहीं है। जैसे मरण समयमें अकस्मात् हरिणका स्मरण किसीको हुआ। किसीको सौभाग्य वषात् भगवत्स्मरण हुआ। वैसे ब्रह्मका स्मरण नहीं होता। स्मरण तो परोक्ष वस्तुका होता है। ब्रह्म तो नित्य अपरोक्ष स्वभाव है। वह कभी परोक्ष होता ही नहीं। श्रुती कहती है—

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः"

वह ब्रह्म नित्य ही साक्षात् अपरोक्ष है। बल्कि संसारके पदार्थ साक्षात् अपरोक्ष नहीं है, परम्परया अपरोक्ष है। श्रुतिका कहना है—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"

दीपक प्रथम प्रकाशित होगा। उसके बाद उसके द्वारा घट पदादि प्रकाशित होंगे। वैसे ज्ञान प्रकाशरूपी ब्रह्म प्रथम प्रकाशित होगा। उसके बाद उसीके द्वारा घटपटादि प्रकाशित होंगे। अतः साक्षात् अपरोक्ष तो ज्ञान प्रकाश रूपी ब्रह्म ही है। अन्य सब तो उसके प्रकाश के द्वारा अपरोक्ष होते हैं—

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

उसी ब्रह्मके भाससे परम्परया यह सारा जगत् भासित होता है।

परब्रह्मका भान आवरण निवृत्ति होने पर स्वयं होता है। आवरणकी निवृत्ति अखण्डाकार वृत्तिसे होती है। अखण्डाकार वृत्ति खण्डोंको दूर करने पर होगी। नाम रूपात्मक खण्डोंको अलग करते हुए सच्चिदानन्द, अस्ति भांति प्रिय दर्शनका अभ्यास करने पर ही संभव है। वह दर्शन एक बार हुआ तो फिर स्मरणकी अपेक्षा ही

नहीं रहती। दुबारा आवरण होता ही नहीं। यह बात। "नैना प्राप्त विमुह्यति' से ही बता दी गयी। उपास्य देवका स्मरण इस प्रकार नहीं है। उपास्य देवको आप आंखसे या मनसे परम्परया देखेंगे, वह साक्षात् अपरोक्ष नहीं है। अतएव बादमें वह स्वरूप ओझल भी होता है और किसी समय संस्कारके जागरणसे एकाएक स्मरण भी होता है। वहां कभी स्मरण हुआ और कभी नहीं हुआ, ऐसा अनियम संभावित है। अतएव जीवनभर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। उससे जो अदृष्ट होगा वह अन्तिम स्मरणमें सहयोगी होगा। सहकारी कारणसे ही कार्य होता है। अतएव

"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर"

ऐसा अष्टम अध्यायमें बतायेंगे। वहां प्रश्न होता है कि पूर्व श्लोकमें बताया—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः

अन्तकालमें मेरा स्मरण कर जो शरीर छोड़कर जाता है, वह मुझे अवश्यमेव प्राप्त होगा, इसमें कोई संशय नहीं। तब अन्तकालमें ही स्मरण करनेसे चरितार्थता है तो "तस्मात् सर्वेषु कालेषु" क्यों कहा? हमेशा याद करनेसे अन्तमें भी याद होगा ऐसा कोई नियम नहीं है। विद्यार्थी सालभर पुस्तक रटता है और परीक्षाके ऐन मौके पर भूल जाता है, ऐसा भी देखनेमें आया है। अतः यह कोई प्रात्यक्षिक नियम नहीं है कि हमेशा याद करते रहनेसे याद आ ही जायेगा। अतः यहां यही कहना पड़ेगा कि सर्वकालमें भगवत्स्मरण करनेसे महापुण्य होगा। उससे अन्तमें स्मरण होगा। सर्वेषु कहनेसे नियम हो जायेगा। नियमकी पूर्त्ति न होने पर—नियमके टूटने पर वह अदृष्ट महापुण्य नहीं होता। यही कारण हुआ कि भरत भारी उपासक होने पर भी सर्वकालमें अनुस्मरणके अभावसे महापुण्य प्राप्त नहीं कर सका। बीचमें भगवत्स्मरणको छोड़कर हरि स्मरण करने लगा। न्यून पुण्य अवश्य हुआ। अत एव हरिण जन्ममें पूर्व स्मृति एवं

तृतीय जन्ममें तत्त्वज्ञान हुआ। अतः "सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर" यह नियम विधि है।

वेदान्तमें ब्राह्मी स्थितिमें रहना अदृष्टार्थ नहीं है। पुण्य संपादनार्थ नहीं है।उससे पुण्य हो जाय यह अलग बात है। किन्तु उसका प्रत्यक्ष फल अविद्या निवृत्ति है। वह अविद्या निवृत्ति एक बार हो गयी तो ब्रह्मका प्रकाश अनन्तकाल तक चलेगा। वहां फिर न तो स्मरणका प्रश्न होता है और न विस्मरणका ही इसमें कोई नियमविधि भी नहीं है। इसलिये यदि जीवनके अन्तिम समयमें भी इस स्थितिमें रहनेमें सफलता हुई तो वह कृतकृत्य हो जाता है। भाष्यमें "चरमे क्षणे" न कहकर "चरमे वयसि" अर्थ इसलिये किया कि प्रबोधको दृढ होनेमें थोड़ा बहुत समय लगता ही है। अनादि वासना निवृत्त होते-होते निवृत्त होती है। इसीलिये अन्यत्र अनेक जन्मोंमें संसिद्धिकी बात भी कही गयी।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते"
"अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"

ऐसा गीतामें भी आगे आयेगा। भगवान अर्जुनको कहते हैं कि घबरावो मत। अभी भी कोशिश करो तो तुम्हें सफलता मिलेनेकी आशा है।

ब्रह्म निर्वाणमृच्छति। स्थितप्रज्ञताका यही परमफल है। निर्वाणका मोक्ष अर्थ है। सारूप्य, सामीप्य आदि कई प्रकारके मोक्ष सालोक्य इष्टदेवके लोककी प्राप्तिको कहते हैं। उपासक शिवलोक, विष्णुलोकादि जाते हैं। यह सालोक्य मोक्ष है। सारूप्य— समान रूप प्राप्तिको कहते हैं। जैसे भगवान चतुर्भुजादि रूप हैं वैसे चतुर्भुजादि रूप प्राप्ति सारूप्य है। समीप्यका अर्थ है इष्टदेवके बिल्कुल समीपमें पहुंचना। जय विजयादिमें सारूप्य था, समीप्य नहीं था। सायुज्य इष्टदेवमें मिल जानेको कहते हैं। निर्वाण शब्दका रूढार्थ मुक्ति लेकर सालोक्य आदि भी माना जा सकता है। अतः इन सबकी व्यावृत्ति करनेके लिये ब्रह्मनिर्वाणं कहा। ब्रह्मरूपी निर्वाण

ही ब्रह्मनिर्वाण हैं। यह किसीके पास जाना नहीं है, किसीमें मिलना भी नहीं हैं। स्वयं अपनी अल्पता परिच्छिन्नताको छोड़कर बृहद्भावमें आना है। अनन्त अपरिच्छिन्नमें स्थित होना है। ब्राह्मी स्थितिसे ब्रह्म निर्वाण तो अर्थ सिद्ध है। तथापि भगवानने संशयादि निवृत्यर्थ स्ववचनसे ही कह दिया "ब्रह्म निर्वाणमृच्छति"।

निर्वाणंका निर्वृत्ति—सुख भी अर्थ है। ब्राह्मी स्थितिसे ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। कर्म एवं उपासनासे शतोत्तर गुणित मानुषानन्द, गान्धर्वानन्द, पितृलोकानन्द देव लोकानन्दादिकी प्राप्ति होती है। जो शतगुणित होनेसे परिछिन्न ही है। यह ब्रह्मानन्द तो गुणभाग रहित है।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनंद ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन"

जहां वाणी और मनकी पहुंच नहीं है, वही ब्रह्मानन्द है। उसे केवल जानता—"विद्वान्" वह अभयको प्राप्त होता है। यही स्थितप्रज्ञताका फल है।

"निर्वाण" का 'निर्गतं वानं गतिर्यत्र' ऐसा भी अर्थ है। जहां गति नहीं। गमनागमन नहीं है। वही निर्वाण है श्रुतियोंमें बताया गया है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते
ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति

ब्रह्मज्ञानी स्थितप्रज्ञका प्राणोत्क्रमण नहीं होता। जैसे उपासकोंका प्राण उत्क्रान्त होकर ब्रह्मलोकादि जाता है वैसे तत्त्वज्ञानीके प्राणोंका ऊर्ध्वक्रमण नहीं होता। ब्रह्मज्ञानी तो यहीं पर स्वयं ब्रह्मरूपेण अवस्थित होता है। सर्व परिच्छेद विलय होनेसे ब्रह्म स्वरूप हो जाता हैं। इन सबका विशेष विवरण आगे यथा स्थान होता रहेगा। यहां सामान्य रूपसे स्थितप्रज्ञताका फल कहते हुए तदर्थ प्रयत्न करनेके लिये भगवान प्रोत्साहन दे रहे हैं "ब्रह्म निर्वाणमृच्छति"॥ १९॥

●

ग्रन्थकारके अन्य प्रकाशन

जा० सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	
वैराग्यमन्दाकिनी	
गोपीगीतम् अर्थद्वय हिन्दी	
दशशान्तयः सानुवादाः	
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	
ईशावास्यरहस्यविवरणं सवार्त्तिकं	
संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः सानुवादः	१०-००
नारदीयभक्ति(सूत्राणि)दर्शनम् सवार्त्ति(कानि)कम्	
प्रथमो भागः	१०-००
द्वितीयो भागः	१०-००
तृतीयो भागः	१०-००
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः	८-००
भागवतसारस्तोत्रम् सानुवादं	८-००
भीष्मस्तुतिप्रवचन गुजराती	समाप्त
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षीयानुवाद टिप्पणी सहित	समाप्त
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३०-००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्धं	३५-००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्धं (स्थितप्रज्ञदर्शन)	२[illegible]-००
सुभगोदयम् अमृतझरिका व्याख्या अन्वयार्थबोधिनी टीका एवं भाषानुवाद सहित	शीघ्रप्राप्य

अन्य पुस्तकें भी यथाशीघ्र मुद्रित होंगी